ओ३म्

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

तत्रत्यः

प्रथमो भागः ॥

वर्णोच्चारणशिक्षा ॥

पाणिनिमुनिप्रणीता

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहिता ॥

पठनपाठनव्यवस्थायाम्

प्रथमं पुस्तकम्

अजमेर

वैदिक यन्त्रालय में

छपकर प्रकाशित हुई

संवत् १९७० फाल्गुन शुक्ला ॥

दशवीं वार
५००० छपी

मूल्य)॥।
डाकव्यय)॥

ओ३म् ॥

भूमिका ॥

मुझ को इस पुस्तक का प्रकाश करना आवश्यक विदित इस-लिये हुआ है कि आज कल देवनागरी वर्णों के उच्चारण में बहुधा जो २ गड़बड़ हुई है उस उस को छोड़ कर यथायोग्य वर्णों का उच्चारण मनुष्य करें। जैसे ज्ञा, इस में ज्+ञ्+आ, ये तीन अक्षर मिले हैं इन का उच्चारण भी जकार ञकार और आकार ही का होना चाहिये किन्तु ऐसा न हो कि जैसे दाक्षिणात्य लोग अर्थात् द्राविड़, तैलङ्ग, कारणाटक और महाराष्ट्र द्न्यान, गुजराती लोग ग्याँन और पञ्चगौड़ ग्यान ऐसा अशुद्ध उच्चारण अन्धपरम्परा से वेदादिशास्त्रों के पाठ में भी करते हैं। ऐसे ही पञ्चगौड़ प्रायः ष के स्थान में स का और कोई कोई ख का और य के स्थान में ज का उच्चारण करते हैं। वैसे ही बङ्गाली लोग ष और स के स्थान में भी श का उच्चारण किया करते हैं। यह अन्धपरम्परा नष्ट होकर शुद्धोच्चारण की परम्परा होनी योग्य है। और जैसे पाणिनिकृत शिक्षा में तिरसठ अक्षर वर्णमाला में माने हैं उन की गणना पूरी करने के लिये कई एक लोगों ने (कुं खुं गुं घुं) इन चार को यम मानके तिरसठ अक्षर पूरे किये हैं, भला यहां विचारना चाहिये कि जब पूर्वोक्त यम हैं तो (चुं, छुं, जुं, झुं, डुं, ढुं) इत्यादि यम क्यों न हों और जो कोई कहे कि (पलिक्क्नी, चख्ख्नतुः, जग्ग्मिः, जघ्घ्नुः) इत्यादि में (क् ख् ग् घ्) ये वर्ण यम कहाते और प्राति-

शाब्द में भी प्रसिद्ध हैं तो क्या इस बात को वे नहीं जानते कि वे वर्णान्तर कभी नहीं हो सकते क्योंकि वे तो कवर्ग में पढ़े ही हैं ।

तथा अपाणिनीयशिक्षा को पाणिनिकृत मानके पाठ किया करते और उस को वेदाङ्ग में गिनते हैं क्या वे इतना भी नहीं जानते कि (अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा) अर्थ—मैं जैसा पाणिनि मुनि की शिक्षा का मत है वैसी शिक्षा करूंगा इस में स्पष्ट विदित होता है कि यह ग्रन्थ पाणिनि मुनि का बनाया नहीं किन्तु किसी दूसरे ने बनाया है ऐसे २ भ्रमों की निवृत्ति के लिये बड़े परिश्रम से पाणिनिमुनिकृतशिक्षा का पुस्तक प्राप्त कर उन सूत्रों की सुगम भाषा में व्याख्या करके वर्णोच्चारण विद्या की शुद्ध प्रसिद्धि करता हूं कि मनुष्यों को थोड़े ही परिश्रम से वर्णोच्चारणविद्या की प्राप्ति शीघ्र हो जावे ।

इस ग्रन्थ में जो २ बड़े अक्षरों में पाठ है वह २ पाणिनिमुनिकृत और मध्यम अक्षरों में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पाठ और जो २ छोटे अक्षरों में छपा है वह मेरा बनाया है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ॥

इति भूमिका समाप्ता ॥

ह० दयानन्द सरस्वती (काशी)

॥ ओ३म् ब्रह्मात्मने नमः ॥

अथ वर्णोच्चारणशिक्षा ॥

(प्रश्न) वर्ण वा अक्षर किन को कहते हैं ?

१-(उत्तर) अक्षरं नक्षरं विद्यादश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।
वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे किमर्थमुपदिश्यते ॥ महाभाष्य ।
अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

मनुष्य (अक्षरं नक्षरम्) जो सर्वत्र व्याप्त जिन का कभी विनाश नहीं होता (वर्णं वाहुः पूर्वसूत्रे) अथवा जिन को पूर्वसूत्र (१) में वर्ण और अक्षर कहते हैं (विद्यात्) उनको प्रयत्न से जानें ॥

(प्रश्न) किसलिये इन का उपदेश किया जाता ?

२-(उत्तर) वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्त्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपादिश्यते ॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्र तारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति ॥ महाभाष्य । अ० १ । पा० १ । आ० २ ॥

मनुष्य (यत्र) जिसमें (ब्रह्म च) शब्द ब्रह्म वेद और परब्रह्म को प्राप्त हों (वाग्विषयः) और वे जो वाणी का विषय अर्थात् (वर्णज्ञानम्) वर्णों का यथार्थ विज्ञान है उसको जान सकें (तदर्थम्) इस इष्ट बुद्धि अर्थात् वर्णों का यथार्थ अभीष्ट ज्ञान और स्वल्प प्रयत्न से महालाभ को प्राप्त होने के लिये अक्षरों का अभ्यास उच्चारण की रीति प्रसिद्ध की जाती है सो यह अक्षरों का अच्छे प्रकार कथन वाक्समाम्नाय है अर्थात् अपने शब्दरूपी पुष्प फलों से युक्त चन्द्र और ताराओं के समान सुशोभित आकाश में स्थित (राशिः) शब्दों का समुदाय ब्रह्मराशि जानने योग्य है और इस के यथार्थज्ञान में संपूर्ण वेदों का फल प्राप्त होता है ॥ इस में वर्णों के ठीक २ उच्चारण से सुनने में प्रीति और

---

(१) अष्टाध्यायी के अ इ उ ण् आदि सूत्रों के व्याख्यान में यह कारिका है, व्याकरण की अपेक्षा में शिक्षा पूर्वसूत्र और उस में भी तमक्षरं० इस की अपेक्षा में पूर्व आकाश वायु० इस सूत्र में वर्ण का व्याख्यान ॥

श्रम की निवृत्ति होती है इसलिये यह वर्णोच्चारण विद्या अवश्य जाननी चाहिये ॥

(प्रश्न) वर्णों का रूप कैसे प्रकट होता है ?

३-(उत्तर) आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स
शब्दः ॥ १ ॥

आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होनेवाला नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है उसको नाद कहते हैं वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त हुआ वर्ण भाव को प्राप्त होता है उसको शब्द कहते हैं ॥

४-(उत्तर) आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥

जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्रूप मन जाठराग्नि को ताड़ता वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उरःस्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है ॥

(प्रश्न) शब्द का स्वरूप कैसा है किस फल को प्राप्त करता और किन पुष्पों से सेवित है ?

५-(उत्तर) तमक्षरं ब्रह्मपरं पवित्रं गुहाशयं सम्यगुशन्ति विप्राः ।
स श्रेयसा चाभ्युदयेन चैव सम्यक् प्रयुक्तः पुरुषं
युनक्ति ॥ २ ॥

(विप्राः) विद्वान् लोग (तम्) उस आकाशवायु प्रतिपादित (अक्षरम्) नाशरहित (गुहाशयम्) विद्यासुशिक्षासहित बुद्धि में स्थित (परम्) अत्युत्तम (पवित्रम्) शुद्ध (ब्रह्म) शब्दराशि की (सम्यक्) अच्छे प्रकार (उशन्ति) प्राप्ति की कामना करते हैं और (स एव) वही (सम्यक् प्रयुक्तः) अच्छे प्रकार प्रयोग किया हुआ शब्द (अभ्युदयेन) शरीर आत्मा मन (च) और स्वसम्बन्धियों के लिये इस संसार के सब सुख तथा (श्रेयसा) विद्यादि शुभ गुणों के योग (च) और मुक्तिसुख से (पुरुषम्) मनुष्य को (युनक्ति) युक्त कर देता है इसलिये इस वर्णोच्चारण की श्रेष्ठ शिक्षा से शब्द के विज्ञान में सब लोग प्रयत्न करें ॥

शब्द का लक्षण ॥

६—श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥ महाभा० । अ० १ । पा० १ । सू० १ । आ० २ ॥

यह (अ इ उ ण्) सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि (श्रोत्रोपलब्धिः) जिसका कान इन्द्रिय से ज्ञान (बुद्धिर्निर्ग्राह्यः) और बुद्धि से निरन्तर ग्रहण (प्रयोगेणाभिज्वलितः) जो उच्चारण से प्रकाशित होता तथा (आकाशदेशः) जिसके निवास का स्थान आकाश है (शब्दः) वह शब्द कहाता है ॥

(प्रश्न) वर्णमाला में कितने वर्ण हैं ?

७-(उत्तर) त्रिषष्टिः ॥ ३ ॥

तिरसठ हैं । और वे अकारादि वर्णों में विभक्त हैं, जैसेः—

अकारादि स्वरों का स्वरूप ॥

ह्रस्व	दीर्घ	प्लुत
अ	आ	अ ३
इ	ई	इ ३
उ	ऊ	उ ३
ऋ	ॠ	ऋ ३
ऌ	०	ऌ ३
०	ए	ए ३
०	ऐ	ऐ ३
०	ओ	ओ ३
०	औ	औ ३

कवर्ग—क ख ग घ ङ ।
चवर्ग—च छ ज झ ञ ।
टवर्ग—ट ठ ड ढ ण ।
तवर्ग—त थ द ध न ।
पवर्ग—प फ ब भ म ।
अन्तस्थ—य र ल व ।
ऊष्म—श ष स ह ।

अयोगवाहरूप ।

: विसर्जनीय
ᳵ जिह्वामूलीय
ᳶ उपध्मानीय
· अनुस्वार

ँ ह्रस्व
ँ दीर्घ
ँ अनुनासिक चिन्ह
ळ और यह अक्षर ळ
इनको चार यम भी कहते हैं

उक्त वर्णों में अवर्ग के वर्ण अकार आदि स्वर और कवर्ग आदि वर्गों के वर्ण व्यञ्जन कहाते हैं, स्वर वर्ण शब्दों में शुद्धस्वरूप से भी रहते और

व्यञ्जनों के साथ में मात्रारूप से भी आते हैं, मात्रारूप स्वरों में जब व्यञ्जन मिलाये जाते हैं तब प्रत्येक व्यञ्जन बारह प्रकार से कहा जाता है उसका स्वरूप और संयोगचक्र (जिससे कि व्यञ्जन का परस्पर सम्बन्ध विदित होता है) आगे लिखते हैं:—

बारह अक्षरों का स्वरूप ॥

क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्	क्
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
।	ा	ि	ी	ु	ू	े	ै	ो	ौ	ं	ः
क	का	कि	की	कु	कू	के	कै	को	कौ	कं	कः

संयोगचक्रम् ॥

क् य् अ-क्य	ज् ञ् अ-ज्ञ	क् ऋ-कृ	क् व् अ-क्व
क् च् अ-क्च	ह् य् अ-ह्य	क् ॠ-कॄ	क् ष् अ-क्ष
क् र् अ-क्र	ह् व् अ-ह्व	क् ऌ-कॢ	श् य अ-श्य

जैसे यह ककार का स्वरों के साथ मेल करके स्वरूप दिखलाया है वैसे ही खकारादि वर्णों का स्वरों के साथ मेल और स्वरूप का विज्ञान बुद्धि से पढ़ने पढ़ानेवालों को लिख लिखा कर ठीक २ करना चाहिये ॥

स्वरों का लक्षण ॥

८—स्वयं राजन्त इति स्वराः ॥ महाभाष्ये अ० १ । पा० २ । सू० २९ । आ० १ ॥

जिन के उच्चारण में दूसरे वर्णों के सहाय की अपेक्षा न हो वे स्वर कहाते हैं ॥

स्वरों की संज्ञा ॥

९–ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ अ० १ । पा० २ । सू० २७ ॥

स्वरों की ह्रस्व दीर्घ और प्लुत भेद से तीन संज्ञा हैं । इनके उच्चारण समय का लक्षण यह है कि जितने समय में अङ्गुष्ठ के मूल की नाड़ी की गति एक वार होती है उतने समय में ह्रस्व उस से दूने काल में दीर्घ और उस के तिगुने काल में प्लुत का उच्चारण करना चाहिये और स्वरों के उदात्तादि भी गुण हैं ॥

१०–उच्चैरुदात्तः ॥ अ० १ । २ । २९ ॥

ऊर्ध्वध्वनि से उदात्त । और

११–नीचैरनुदात्तः ॥ अ० १ । २ । ३० ॥

नीचे स्वर से अनुदात्त बोला जाता है ।

१२–समाहारः स्वरितः ॥ अ० १ । २ । ३१ ॥

उदात्त और अनुदात्त स्वरों को मिलाकर बोलना स्वरित कहाता है ॥

१३–ह्रस्वं लघु ॥ अ० १ । ४ । १० ॥

ह्रस्व स्वर की लघु संज्ञा । और

१४–संयोगे गुरु ॥ अ० १ । ४ । ११ ॥

जो दो वा अधिक व्यञ्जनों का संयोग परे हो तो पूर्व ह्रस्व अच् की गुरु संज्ञा होती है । जैसे (विप्रः) यहां वकार में इकार की गुरु संज्ञा है क्योंकि इसके परे पकार और रेफ का संयोग है ॥

१५–दीर्घं च ॥ अ० १ । ४ । १२ ॥

और दीर्घ की भी गुरु संज्ञा है ।

१६–हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ अ० १ । १ । १७ ॥

अनन्तर अर्थात् अचों का जो व्यवधान उससे रहित हलों की संयोग संज्ञा है ।

व्यञ्जन का लक्षण ॥

१७–अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति ॥ म० भा० ॥
अ० १ । पा० २ । सू० २९ । आ० १ ॥

जिन का उच्चारण विना स्वर के नहीं हो सकता वे व्यञ्जन कहाते हैं ॥

उच्चारण करनेवालों के गुण ॥

१८–माधुर्य्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः ।
धैर्य्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः ॥

(माधुर्य्यम्) वर्णों के उच्चारण में मधुरता (अक्षरव्यक्तिः) भिन्न २ अक्षर (पदच्छेदः) पृथक् २ पद (तु) और (सुस्वरः) सुन्दरध्वनि (धैर्य्यम्) धीरता (च) और (लयसमर्थम्) विराम यथा सार्थकता और जैसा ह्रस्व दीर्घ प्लुत उदात्त अनुदात्त स्वरित स्वर स्पर्श आदि आभ्यन्तर और विवारादि बाह्य प्रयत्न से अपने २ स्थानों में वर्णों का उच्चारण करना तथा सत्यभाषणादि भी वर्णों के उच्चारण करनेवालों के गुण हैं ॥

स्वरों के उच्चारण में दोष ॥

१९–ग्रस्तं निरस्तमविलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ॥ सन्दष्टमेणीकृतमर्द्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥ महाभाष्य । अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

(ग्रस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से पकड़ कर बोलना (निरस्तम्) जैसे किसी वस्तु को मुख से ग्रहण करके फेंक देना (अविलम्बितम्) जिस का उच्चारण पृथक् २ करना चाहिये उसको वर्णान्तर में मिलाके बोलना (निर्हतम्) जैसे किसी को धक्का देना (अम्बूकृतम्) जैसे मुख में जल भर के बोलना (ध्मातम्) जैसे रुई को धूनना वा लोहार की भाठी के समान उच्चारण करना (विकम्पितम्) जैसे कम्प करके बोलना (सन्दष्टम्) जैसे किसी वस्तु को दांतों से काटते हुए बोलना (एणीकृतम्) जैसे हरिण कूद के चलते हैं वैसे ऊपर नीचे ध्वनि से बोलना (अर्द्धकम्) जितने समय में जिस वर्ण का उच्चारण करना चाहिये उसके आधे समय में बोलना (द्रुतम्) त्वरा से बोलना (विकीर्णम्) जैसे कोई वस्तु बिखर जाय जैसा उच्चारण करना ये सब दोष स्वरों के उच्चारण करनेहारों के हैं ॥

२०–अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः । शशः षष इति मा भूत् । पलाशः पलाष इति मा भूत् । मञ्चको मञ्जक इति मा भूत् ॥ महाभाष्य । अ० १ । पा० १ । आ० १ ॥

व्यञ्जनों के उच्चारण में भी दोषों को छोड़ कर बोलना चाहिये । जैसे (शशः) इन तालव्य शकारों के उच्चारण में (षष इति मा ब्रूत्) मूर्द्धन्य षकारों का उच्चारण करना (पलाशः पलाषः) यहां भी पूर्ववत् जानना (मञ्चकः) कोई इस च के स्थान में (मञ्जकः) ज का उच्चारण करे इत्यादि व्यञ्जनों के उच्चारण करनेहारों के दोष कहाते हैं इसलिये जिस २ अक्षर का जो २ स्थान प्रयत्न और उच्चारण का क्रम है वैसा ही उस २ का उच्चारण करना योग्य है ।

(प्रश्न) इस ग्रन्थ में कितने प्रकरण हैं ? ॥

२१—(उत्तर) स्थानमिदं करणमिदं प्रयत्न एषो द्विधाऽनिलः—स्थानम् । पीडयति वृत्तिकारः प्रक्रम ऐषोऽथ नाभितलात् ॥ ४ ॥

स्थान, करण, आभ्यन्तर प्रयत्न, बाह्य प्रयत्न स्थान में वायु का ताड़न, वृत्तिकार प्रक्रम और नाभि के अधोभाग से वायु का उत्थान, ये आठ (८) प्रकरण क्रम से इस ग्रन्थ में हैं ॥

अथ प्रथमं प्रकरणम् ॥

२२–अकुहविसर्जनीयाः कण्ठ्याः ॥ ५ ॥

अ, आ, अ३, कु अर्थात् क, ख, ग, घ, ङ, ह और ः विसर्जनीय इन वर्णों का कण्ठ स्थान है। अर्थात् जो जिह्वा का मूल कण्ठ का अग्रभाग काकल्क के नीचे देश है उस कण्ठ स्थान से इनका शुद्ध उच्चारण होता है ॥

२३–हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम् ॥ ६ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि हकार और ः विसर्जनीय का उच्चारण उरः स्थान अर्थात् कण्ठ के नीचे और स्तनों के ऊपर स्थान से करना चाहिये ॥

२४–जिह्वामूलीयो जिह्व्यः ॥ ७ ॥

और वे ऐसा भी मानते हैं कि जिसलिये जीभ के मूल से इस जिह्वामूलीय का उच्चारण होता है इसलिये यह जिह्वामूलीय कहाता है ॥

२५–कवर्ग ऋवर्णश्च जिह्व्यः ॥ ८ ॥

तथा उन का यह भी मत है कि जिस कारण कवर्ग और ऋवर्ण अर्थात् ह्रस्व दीर्घ और प्लुत का जिह्वामूल भी स्थान है इससे इनको जिह्वा की जड़ में से भी बोलना अशुद्ध नहीं ॥

२६-सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके ॥ ९ ॥

जिसलिये अवर्ण का उच्चारण सब मुख में करना शुद्ध है इसलिये कोई आचार्य अवर्ण को सर्वमुखस्थान वाला कहते हैं ॥

२७-कण्ठ्यानास्यमात्रानित्येके ॥ १० ॥

तथा कई एक आचार्यों का मत ऐसा भी है कि जिन २ वर्णों का कण्ठ स्थान है उन सब का उच्चारण मुखमात्र में होना भी अशुद्ध नहीं ॥

२८-इचुयशास्तालव्याः ॥ ११ ॥

जो इ, ई, इ ३, चु अर्थात् च, छ, ज, झ, ञ, य और श हैं इनका तालु स्थान अर्थात् दांतों के ऊपर से उच्चारण करना चाहिये, जैसे च के उच्चारण में जिस स्थान में जैसी जीभ की क्रिया करनी होती है वैसे शकार का उच्चारण करना योग्य है ॥

२९-ऋटुरषा मूर्द्धन्याः ॥ १२ ॥

ऋ, ॠ, ऋ३, ट, ठ, ड, ढ, ण, र और ष का उच्चारण मूर्द्धा स्थान अर्थात् तालु के ऊपर से करना चाहिये । जैसी क्रिया ट के उच्चारण में की जाती है वैसी ही ष के उच्चारण में करनी उचित है ॥

३०-रेफो दन्तमूलीय एकेषाम् ॥ १३ ॥

कई एक आचार्यों का ऐसा मत है कि र का उच्चारण दांत के मूल से भी करना योग्य है ॥

३१-दन्तमूलस्तु तवर्गः ॥ १४ ॥

वैसे ही कई एक आचार्यों के मत में तवर्ग अर्थात् त, थ, द, ध और न का उच्चारण दन्तमूल स्थान से भी करना अच्छा है ॥

३२-लृतुलसा दन्त्याः ॥ १५ ॥

लृ लॄ ३ तु अर्थात् त, थ, द, ध, न, ल और स इन वर्णों का दन्त-स्थान अर्थात् दांतों में जिह्वा लगा के उच्चारण करना है ॥

३३-वकारो दन्त्यौष्ठ्यः ॥ १६ ॥

व का उच्चारण दांत और ओष्ठ से होना चाहिये ॥

३४-सृक्किणस्थानमेके ॥ १७ ॥

कई एक आचार्यों के मत में वकार को सृक्किणी स्थान से बोलना चाहिये जो दांत और ओष्ठ के बीच में स्थान है उसे सृक्किणी कहते हैं ॥

३५-उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः ॥ १८ ॥

उ, ऊ, उ३, प, फ, ब, भ, म और ≍ इस उपध्मानीय का ओष्ठ स्थान उच्चारण करना शुद्ध है ॥

३६-अनुस्वारयमा नासिक्याः ॥ १९ ॥

ल को छोड़के ँ और ं अनुस्वार को नासिका से बोलना शुद्ध है ॥

३७-कण्ठ्यनासिक्यमनुस्वारमेके ॥ २० ॥

कंठ और नासिका स्थानवाले ङकार को कोई आचार्य्य अनुस्वार के समान केवल नासिका स्थानी कहते हैं ॥

३८-यमाश्च नासिक्यजिह्वामूलीया एकेषाम् ॥ २१ ॥

कई एक आचार्य्यों के मत से यम वर्ण अर्थात् ॐ ँ ँ ये भी नासिका और जिह्वामूल स्थानवाले हैं ॥

३९-एदैतौ कण्ठ्यतालव्यौ ॥ २२ ॥

ए ऐ कंठ और तालु से बोलने योग्य हैं ॥

४०-ओदौतौ कण्ठ्योष्ठ्यौ ॥ २३ ॥

ओ औ को कंठ और ओष्ठ से बोलना शुद्ध है ॥

४१-ङञणनमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः ॥ २४ ॥

ङकारादि पांच वर्णों को स्व २ स्थान और नासिका स्थान से बोलना चाहिये ॥

४२-द्वे द्वे वर्णे सन्ध्यक्षराणामारम्भके भवत इति ॥ २५ ॥

सन्ध्यक्षर अर्थात् जो (ए, ऐ, ओ, औ) हैं इन में दो २ वर्ण मिले होते हैं जैसे (अ, आ, से इ, ई) मिल के ए, (अ, आ, से ए, ऐ) मिल के ऐ, (अ आ, से उ, ऊ) मिल के ओ (अ, आ, से ओ, औ) मिलके औ हो जाते हैं, जैसे एकार के आदि में अकार का कंठ और अन्त में इकार का तालु स्थान है इसी प्रकार ओकार में प्रथम कण्ठ और दूसरा ओष्ठ स्थान है ॥

४३-सरेफ ऋवर्णः ॥ २६ ॥

जो रेफ के सहित ऋवर्ण है उसको मूर्द्धा स्थान में बोलना चाहिये ॥

इति प्रथमं प्रकरणम् ॥

अथ द्वितीयं प्रकरणम् ॥

अब स्थानों के कहने के पश्चात् दूसरे प्रकरण का आरम्भ करते हैं, इस में जैसी २ क्रिया से जिस २ वर्ण का उच्चारण करना होता है उस २ का वर्णन है, परन्तु यहां इतना अवश्य समझना है कि सब वर्णों के उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है क्योंकि उसके बिना किसी वर्ण का उच्चारण कभी नहीं हो सकता ॥

४४-जिह्व्यतालव्यमूर्द्धन्यदन्त्यानां जिह्वा करणम् ॥ १ ॥

जिन का जिह्वामूल, तालु, मूर्द्धा और दन्त स्थान है उनके उच्चारण में जिह्वा मुख्य साधन है, क्योंकि जिस २ वर्ण का जो २ स्थान कहा है उस २ में जिह्वा लगाने ही से उनका ज्यों का त्यों उच्चारण होता है, यह सामान्य सूत्र है इस का विशेष बिधान आगे कहते हैं ॥

४५-जिह्वामूलेन जिह्व्यानां तद्येषामभ्यासम् ॥ २ ॥

जिन वर्णों का जिह्वामूल अभ्यास अर्थात् उच्चारण स्थान है उन जिह्वा-मूलीय वर्णों का जिह्वामूल से स्पर्श करके उच्चारण करना चाहिये * ॥

४६-जिह्वोपाग्रेण मूर्द्धन्यानाम् ॥ ३ ॥

जिन वर्णों का मूर्द्धा स्थान कहा है उनका उच्चारण जिह्वा के ऊपरले अग्रभाग से मूर्द्धा को स्पर्श करके करना चाहिये ॥

४७-जिह्वाग्राधः करणं वा ॥ ४ ॥

इन के उच्चारण में दूसरा पक्ष यह भी है कि जिह्वाग्र के अधोभाग से मूर्द्धा को स्पर्श करके उच्चारण करना योग्य है ॥

४८-जिह्वाग्रेण दन्त्यानाम् ॥ ५ ॥

जिन वर्णों का दन्त स्थान कहा है उन का उच्चारण जिह्वा के अग्रभाग से दांतों को स्पर्श करके ही करना चाहिये ॥

४९-इत्येतदन्तःकरणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार से मुख के भीतर स्थानों में वर्णों की उच्चारण क्रिया जाननी चाहिये ॥

इति द्वितीयं प्रकरणम् ॥

---

* इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि जिह्वामूलीय वर्णों का जिह्वामूल उच्चारण साधक उनके लिये है जिनको उस प्रकार बोलने का अभ्यास होवे ॥

अथ तृतीयं प्रकरणम् ॥

अब स्थान और करण के कहने पश्चात् तीसरे प्रकरण का आरम्भ किया जाता है इसमें आभ्यन्तर प्रयत्नों का वर्णन किया है ॥

५०-प्रयत्नोऽपि द्विविधः ॥ १ ॥

प्रयत्न भी दो प्रकार के होते हैं ॥

५१-आभ्यन्तरो बाह्यश्च ॥ २ ॥

आभ्यन्तर और बाह्य ॥

५२-आभ्यन्तरस्तावत् ॥ ३ ॥

इन दोनों में से प्रथम आभ्यन्तर प्रयत्नों को कहते हैं ॥

५३-स्पृष्टकरणाः स्पर्शाः ॥ ४ ॥

ककार से लेके मकार पर्यन्त २५ पच्चीस वर्णों का स्पृष्ट प्रयत्न है अर्थात् जिह्वा से स्व २ स्थानों में स्पर्श करके इन वर्णों का उच्चारण करना शुद्ध है ॥

५४-ईषत्स्पृष्टकरणाः अन्तस्थाः ॥ ५ ॥

थोड़े स्पर्श करके अन्तस्थ अर्थात् य, र, ल, व का उच्चारण करना चाहिये ॥

५५-ईषद्विवृतकरणा ऊष्माणः ॥ ६ ॥

जिसलिये ऊष्म अर्थात् श, ष, स, ह का अपने २ स्थान में जिह्वा का किंचित् स्पर्श करके शुद्ध उच्चारण होता है इसलिये इनका ईषद्विवृत प्रयत्न है ॥

५६-विवृतकरणा वा ॥ ७ ॥

और इस में दूसरा पक्ष यह भी है कि स्व २ स्थान को जीभ से स्पर्श के विना भी इनका उच्चारण करना शुद्ध है इसलिये श, ष, स, ह का विवृत प्रयत्न भी है ॥

५७-विवृतकरणाः स्वराः ॥ ८ ॥

जिसलिये उक्त स्थानों से जीभ को अलग रख के स्वरों का उच्चारण करना योग्य है इसलिये इनका विवृत प्रयत्न है ॥

५८-संवृतस्त्वकारः ॥ ९ ॥

अकार का संवृत प्रयत्न है क्योंकि इस का उच्चारण कण्ठ को संकोच करके होता है परन्तु इस का कार्य करने के समय विवृत प्रयत्न ही होता है ॥

५९-इत्येषोऽन्तः प्रयत्नः ॥ १० ॥

यह आभ्यन्तर प्रयत्नों का प्रकरण पूरा हुआ ॥

इति तृतीयं प्रकरणम् ॥

अथ चतुर्थं प्रकरणम् ॥

६०—अथ बाह्याः प्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब इसके आगे चौथे प्रकरण में वर्णों के बाह्य प्रयत्नों का वर्णन करते हैं ॥

६१—वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः शषसविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीया यमौ च प्रथमद्वितीयौ विवृतकण्ठाः श्वासाऽनुप्रदानाश्चाऽघोषाः ॥ २ ॥

यहां वर्ग शब्द से (कु, चु, टु, तु, पु) इन पांचों का ग्रहण है इनके दो २ वर्ण अर्थात् कवर्ग में (क, ख) चवर्ग में (च, छ) टवर्ग में (ट, ठ) तवर्ग में (त, थ) पवर्ग में (प, फ) ऊष्मों में (श, ष, स) और (ः) विसर्जनीय (ᳵ) जिह्वामूलीय (ᳵ) उपध्मानीय (ꣳ ꣴ) ये दो यम इन अठारह (१८) वर्णों का (विवृत कंठ) अर्थात् कंठ को फैला (श्वासानुप्रदान) उच्चारण के पश्चात् श्वास को युक्त कर और (अघोष) सूक्ष्म ध्वनि की योजनारूप क्रिया करके इनका उच्चारण करना चाहिये ॥

६२—एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः ॥ ३ ॥

पांचों वर्गों के प्रथम तृतीय और पञ्चम अर्थात् (क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व) यम प्रथम तृतीय अर्थात् (ꣳ ꣴ) इतने सब अल्पप्रमाण अर्थात् ये थोड़े और (ख, घ, छ, झ, ठ, ड, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह) (ः) (ᳵ) (ं) (ꣳ, ळ) और अकारादि स्वर ये सब महाप्राण अर्थात् अधिक बल से बोले जाते हैं ॥

६३—वर्गाणां तृतीयचतुर्था अन्तस्था हकारानुस्वारौ यमौ च तृतीयचतुर्थौ नासिक्याश्च संवृतकण्ठा नादानुप्रदाना घोषवन्तश्च ॥४॥

पांचों वर्गों के तीसरे और चौथे वर्ण अर्थात् (ग, घ, ज, झ, ड, ढ, द, ध, ब, भ) अन्तस्थ अर्थात् (य, र, ल, व) ह, (ं) अनुस्वार और तीसरे चौथे यम अर्थात् (ळ) तथा सानुनासिक अकारादि स्वर इन का संवृतकंठ प्रयत्न अर्थात् कंठ का संकोच (नादानुप्रदानाः) इन के उच्चारण में अव्यक्त ध्वनि और (घोषवन्तः) इनका उच्चारण गम्भीर शब्द से करना चाहिये ॥

६४—यथा तृतीयास्तथा पञ्चमाः ॥ ५ ॥

वर्गों के तृतीय वर्णों के समान पञ्चम वर्ण अर्थात् (ङ, ञ, ण, न, म) के (संवृतकंठ) (नादानुप्रदान) और (घोष) प्रयत्न समझने चाहिये ॥

६५—आनुनासिक्यमेषामधिको गुणः ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त ङ, ञ, ण, न, म को मुख से बोले पश्चात् नासिका से बोलना ही इन का आनुनासिक गुण अधिक है ॥

६६—शादय ऊष्माणः ॥ ७ ॥

शादि अर्थात् (श, ष, स, ह) की ऊष्म संज्ञा और ये (महाप्राण) प्रयत्न से बोले जाते हैं ॥

६७-सस्थानेन द्वितीयाः ॥ ८ ॥

जो पांच वर्गों के दूसरे वर्ण अर्थात् (छ, ठ, थ, फ) हैं वे सकार के समान महाप्राण प्रयत्न से बोलने चाहिये ॥

६८—हकारेण चतुर्थाः ॥ ९ ॥

वर्गों के चतुर्थ अर्थात् (घ, झ, ड, ध, भ) इन पांच वर्णों का हकार के समान महाप्राण प्रयत्न होता है ॥

॥ इति चतुर्थं प्रकरणम् ॥

अथ पञ्चमं प्रकरणम् ॥

६९—तत्र स्पर्शयमवर्णकरो वायुरयः पिण्डवत्स्थानमभिपीडयति ॥ अन्तस्थवर्णकरो वायुर्दारुपिण्डवदूष्मस्वरवर्णकरो वायुरूर्णापिण्डवदुक्ताः स्थानकारणप्रयत्नाः ॥ १ ॥

सब मनुष्यों को उचित है कि जो (स्पर्श) ककार से लेके म पर्यन्त पचीस (२५) वर्ण और चार यम हैं इन को प्रकट करने वाले वायु को लोहे के गोले के समान स्थान में लगा के अन्तस्थ वर्णों के बोलने में वायु को काष्ठ के गोले के समान स्थान में लगा के और शादि तथा २२ बाईस स्वरों के उच्चारण में वायु को ऊनके गोले के समान स्थान में लगा के बोला करें। इस प्रकार जो स्थान करण और प्रयत्न कह चुके हैं उनका ज्ञान अवश्य करें।

॥ इति पञ्चमं प्रकरणम् ॥

अथ षष्ठं प्रकरणम् ॥

७०—अवर्णोह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च त्रैस्वर्य्योपनयेन चानुनासिक्य भेदाच्च संख्यातोऽष्टादशात्मक एवमिवर्णादयः ॥ १ ॥

अब अकारादि वर्णों के भेद दिखाते हैं—अकार के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद हैं। और जब इन एक २ के साथ ह्रस्व उदात्त, ह्रस्व अनुदात्त, ह्रस्व स्वरित और इसी प्रकार दीर्घ और प्लुत के साथ लगाते हैं तब अकार के नव भेद हो जाते हैं और जब ये सानुनासिक भेदयुक्त होते हैं तब इन नव २ के अठारह २ भेद होते हैं। इसी प्रकार इकार आदि स्वरों में प्रत्येक के अठारह २ भेद समझने चाहिये, परन्तु—

७१—लृवर्णस्य दीर्घा न सन्ति ॥ २ ॥

जिसलिये लृकार के दीर्घ भेद नहीं होते—

७२—तं द्वादशभेदमाचक्षते ॥ ३ ॥

इसलिये लृकार को बारह (१२) भेद से युक्त कहते हैं।

७३—यदृच्छाशब्दे अशक्तिजानुकरणे वा यदा दीर्घाः स्युस्तदाऽष्टादश भेदं ब्रुवते क्लृपक इति ॥ ४ ॥

जिन लोगों के मत में यदृच्छा शब्द होते हैं वे जब उनका अशक्तिज के अनुकरण में प्रयोग करते हैं तब लृकार को दीर्घ मान के उस के भी अठारह (१८) भेद कहते हैं जैसे क्लृपक इस प्रयोग में होते हैं ॥

७४—सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्ति तान्यपि द्वादशप्रभेदानि ॥ ५ ॥

जिसलिये सन्ध्यक्षर अर्थात् (ए, ऐ, ओ, औ) इनके ह्रस्व नहीं होते इसलिये इन के भी बारह २ भेद होते हैं।

७५—अन्तस्था द्विप्रभेदा रेफवर्जिताः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च ॥ ६ ॥

और (र) को छोड़ कर अन्तस्थ अर्थात् (य, ल, व) ये तीन सानुनासिक यँ, लँ, वँ और निरनुनासिक य, ल, व भेद से दो प्रकार के होते हैं।

७६—रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति ॥ ७ ॥

जिसलिये (र) और ऊष्म अर्थात् (श, ष, स, ह) का कोई सवर्ण नहीं होता इसलिये इन के परे किसी वर्ण के स्थान में इनका सवर्णी आदेश नहीं होता ॥

७७–वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः ॥ ८ ॥

परन्तु कु, चु, टु, तु, पु इन पांच वर्ग और य, ल, व इन तीनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा मानी जाती है, जैसे ककार का सवर्णी खकार समझा जाता है वैसे सर्वत्र समझना चाहिये ॥

इति षष्ठं प्रकरणम् ॥

अथ सप्तमं प्रकरणम् ॥

७८–इत्येष क्रमो वर्णानाम् ॥ १ ॥

यह पूर्व अकारादि वर्णों का क्रम कह के–

७९–तत्रैते कौशिकीयाः श्लोकाः ॥ २ ॥

षष्ठ प्रकरण के विषय में कौशिक ऋषि के श्लोक हैं उन में से आगे कुछ विशेष विषयक श्लोक लिखते हैं ॥

८०–सर्वान्तऽयोगवाहत्वाद्विसर्गादिरिहाऽष्टकः ॥ अकार उच्चारणार्थो व्यञ्जनेष्वनुबध्यते ॥ ३ ॥

विना संयोग के प्राप्त होने से यहां सब वर्णमाला के अन्त में विसर्ग आदि अष्टक (विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, चार यम) गिना जाता है और अलग इसकी प्राप्ति होती है इससे विसर्गादि अष्टक अयोगवाह कहाता और वर्णमाला के वर्णों से अलग गिना जाता है । वर्णमाला के व्यञ्जनों में एक अकार अनुबन्ध किया है वह उच्चारणमात्र के लिये है कि जिससे व्यंजन का स्पष्ट उच्चारण हो ॥

८१–ᳵ कᳵपयोः कपकारौ च तद्वर्गीयाश्रयत्वतः । पलिक्क्नी चख्ख्नतुर्जग्ग्मर्जघ्घ्नुरित्यत्र यद्वपुः । नासिक्येनोक्तं कादीनां त इमेऽयमास्तेषामुकारः संस्थानवर्गीयलक्षकः ॥ ४ ॥

ᳵजिह्वामूलीय और उपध्मानीय के साथ में जो ककार और पकार हैं वे तद्वर्गीयाश्रयत्व से हैं अर्थात् उन का कवर्ग और पवर्ग के परे विधान है इस से उन के साथ में ककार और पकार हैं । पलिक्नी आदि प्रयोगों में जो (क् ख् ग् घ्) इत्याकारक अंश नासिकास्थानीय (न् न् म् न्) वर्णों से अप्रकटित अर्थात् गृहीत नहीं होता है वह अयम अर्थात् यम नहीं और ककारादि वर्णों का जो उकार आता है वह संस्थानवर्गीय वर्ण अर्थात् उन वर्गों के सजातीय वर्णों का लक्षक है जैसे (कु, चु, टु, तु, पु) इनमें प्रत्येक वर्ण के उकार के संयोग से वर्गमात्र का बोध होता है ॥

इति सप्तमं प्रकरणम् ॥

अथाष्टमं प्रकरणम् ॥

८२-उक्ताः स्थानकरणप्रयत्नाः ॥ १ ॥

अब सब वर्णों में स्थान, करण और प्रयत्नों को कह चुके अगले प्रकरण में स्थान आदि के लक्षण कहते हैं ॥

८३-यत्रस्था वर्णा उपलभ्यन्ते तत्स्थानम् ॥ २ ॥

स्थान उसको कहते हैं कि जहां से प्रसिद्ध होके वर्ण सुनने में आते हैं ॥

८४-येन निर्वृत्यते तत्करणम् ॥ ३ ॥

स्थानों में जीभ और प्राण के जिस संयोग से वर्णों का उच्चारण करना होता है उसको करण कहते हैं ॥

८५-प्रयतनं प्रयत्नः ॥ ४ ॥

जो वर्णों के उच्चारण में पुरुषार्थ से यथावत् क्रिया करनी होती है वह प्रयत्न कहाता है ॥

८६-नाभिप्रदेशात्प्रयत्नप्रेरितः प्राणो नाम वायुरूर्ध्वमाक्रामन्नुरआदीनां स्थानानामन्यतमस्मिन् स्थाने प्रयत्नेन विचार्यते ॥ ५ ॥

जो ऊपर को श्वास निकलता है उसको प्राण कहते हैं जो आत्मा के उच्चारण की इच्छा से विचारपूर्वक नाभि देश से प्रेरणा किया प्राणवायु ऊपर को उठता हुआ कण्ठ आदि स्थानों में से किसी स्थान में उत्तम यतन के साथ विचारा जाता है अर्थात् अकारादि वर्णों के पृथक् २ उच्चारण में वायु के संयोग से विचारपूर्वक यथायोग्य क्रिया करनी चाहिये। सब मनुष्यों को उचित है कि जिस २ प्रकरण में जिस वर्ण के उच्चारण के लिये जो २ बात लिखी है उसको ठीक २ जानकर विद्यार्थियों को जना के शब्दाक्षरों के प्रयोग ज्यों के त्यों कर प्रशंसित हो सदा आनन्द से युक्त रह और सब विद्यार्थियों को भी वर्णोच्चारण शुद्ध कराकर आनन्द में रक्खें ॥

इत्यष्टमं प्रकरणम् ॥

ऋतुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे माघमासे सिते दले। चतुर्थी शनिवारेऽयं ग्रन्थः पूर्ति समागतः ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वती प्रणीतव्याख्या-
सहिता पाणिनीयशिक्षासूत्र संग्रहान्विता
वर्णोच्चारणशिक्षा समाप्ता ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः ॥

तत्रत्यः

द्वितीयो भागः ।

सन्धिविषयः

पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां

❀ प्रथमो भागः ❀

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः

पठनपाठनव्यवस्थायां चतुर्थो भागः ।

श्रीहरिश्चन्द्र त्रिवेदी प्रबन्धकर्त्ता के प्रबन्ध से वैदिक-यन्त्रालय
अजमेर में मुद्रित हुआ.

संवत् १९७१

पञ्चावृत्तौ २०००

मूल्य प्रति-पुस्तक ।-)

* ओ३म् *

॥ भूमिका ॥

यह सन्धिविषय व्याकरण का प्रथम भाग है ॥

मैंने यह पुस्तक इसलिये बनाया है कि जिससे व्याकरण में जितना सन्धि का विषय है उस को पढ़नेहारे सुख से समझ लेवें, व्याकरण का यही प्रथम विषय है कि जिसमें अच् के स्थान में हल्, हल् के स्थान में अच् और हल् के स्थान में हल् और अच् के स्थान में अच् भी हो जाते हैं, विना सन्धिज्ञान यह बात समझ में कभी नहीं आ सकती इसके विना जो २ शब्द का प्रथम और पश्चात् स्वरूप होता है वह २ समझ में कभी नहीं आ सकता इसके विना पदार्थज्ञान और वाक्यार्थज्ञान क्योंकर हो सकता है ? जब तक यह सब नहीं होता तब तक मनुष्य का अभीष्ट प्रयोजन भी प्राप्त नहीं हो सकता। इस ग्रंथ में लोक और वेद का विषय सम्पूर्ण रक्खा है परन्तु पूर्वापर के स्थान में जो आदेश जिस २ नियम से होते हैं वह २ इसी ग्रन्थ से समझ लेना चाहिये और जो २ परिभाषा महाभाष्यस्थ हैं उन सबकी व्याख्या उदाहरण प्रत्युदाहरण सहित पारिभाषिक ग्रन्थ में लिखी हैं क्योंकि जो सन्धिविषयादि व्याकरण विषय के ग्रन्थ क्रम से लक्ष्य पर सब सूत्र घटाकर बनाये हैं जिससे पढ़ने पढ़ानेहारों को कुछ भी क्लेश न हो, इसलिये जो कोई इन ग्रन्थों को पढ़ें वा पढ़ावें वे सब निम्नलिखित रीति से पठनपाठन करें और करावें। जहां २ एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण लिखा है उसके सदृश दूसरे भी उदाहरण प्रत्युदाहरण ऊपर से पढ़ते पढ़ाते जायँ कि जिससे शीघ्रही पूर्ण बोध हो जाय, इसमें तीन प्रकरण

हैं—एक संज्ञा, दूसरा परिभाषा, तीसरा कार्य । इनमें से संज्ञा उसको कहते हैं कि जिससे थोड़े परिश्रम करके महालाभ होवे । परिभाषा उसको कहते हैं कि जो संज्ञादि सूत्रों के विषयों की सहायक होकर उसके विषय को निर्दोष करके परिपूर्ण कर देवे । कार्य उसको कहते हैं कि जिससे यथायोग्य शब्दों का साधुत्व किया जाता है । इन तीनों विषयों को जो कोई ठीक २ समझ लेगा उसको अष्टाध्यायी नामिक आदि ग्रन्थों को शीघ्र उपस्थित करके वेद और लौकिक ग्रन्थों का भी बोध अनायास से होगा ॥

इस ग्रन्थ में जो सूत्रों के आगे अङ्क हैं वे तो इसी ग्रन्थस्थ सूत्रों की संख्या जनाने के लिये हैं और अ० इस सङ्केत के आगे जो तीन अङ्क लिखे हैं उन में प्रथम अङ्क से अध्याय, दूसरे से पाद तीसरे से सूत्र की संख्या समझी जाती है ॥

स्वामि दयानन्दसरस्वती.
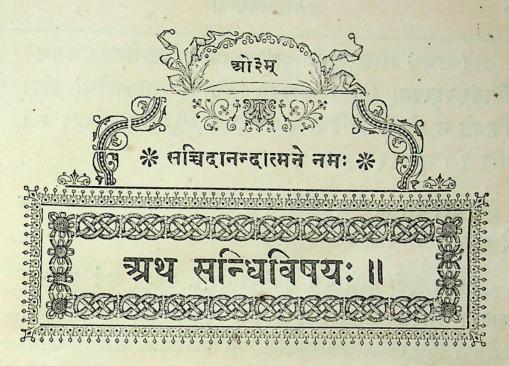
श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ।

पठनपाठनव्यवस्थायाम्

चतुर्थं पुस्तकम् ॥

यह पठनपाठन की व्यवस्था में चौथा पुस्तक है ॥

सन्धि उसको कहते हैं कि जिसमें पूर्वापर वर्णों को मिलाकर पद और वाक्यों का उच्चारण करना होता है, इस ग्रन्थ में इसी विषय की व्याख्या होने से इसका नाम सन्धिविषय रक्खा है ॥

(प्र०) शब्द नित्य हैं वा अनित्य ?

(उ०) नित्य हैं ।

(प्र०) जब नित्य हैं तो शब्दों में लोप, आगम और वर्णविकार क्यों होते हैं ?

(उ०) सिद्धन्तु नित्यशब्दत्वात् । सिद्धमेतत् । कथम्? नित्यशब्दत्वात् नित्याः शब्दाः । नित्येषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते न संज्ञया आदैचो भाव्यन्ते ॥ महाभाष्ये । अ० १ । पाद १ । सू० १६ । आ० ३ ॥

ये दोष नहीं आ सकते क्योंकि जो सत्य है वही होता है और जो असत्य है वह कभी नहीं होता ॥

अथ युक्तं यन्नित्येषु शब्देष्वादेशाः स्युः । बाढं युक्तम् । शब्दान्तरैरिह भवितव्यम् । तत्र शब्दान्तराच्छब्दान्तरस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता आदेशास्तर्हीमे भविष्यन्ति । अनागमकानां सागमकाः । तत्कथम्? सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः । एकदेशविकारे हि नित्यत्वन्नोपपद्यते ॥ १ ॥ महाभाष्ये । अ० १ । पा० १ । सू० ३४ । आ० ५ ॥

(प्र०) क्या नित्य शब्दों में आदेशादि का होना युक्त है ?

(उ०) हां, क्योंकि शब्दान्तरों के स्थानों में शब्दान्तरों के प्रयोगमात्र करने को आदेशादि होते हैं । जैसे—आदि सु–अन्त–सु–औ, इत्यादि के स्थानों में । आद्यन्तौ । इत्यादि और पुरुष–आम् इत्यादि आगमरहित पदों के स्थानों में "पुरुषाणाम्" ऐसे नुडागमसहित के प्रयोग किये जाते हैं, इसी प्रकार दाक्षी के पुत्र पाणिनि आचार्य्य के मत में सब शब्दसङ्घातों के प्रयोग विषय में शब्दान्तरों के सङ्घातों का उच्चारण किया जाता है क्योंकि एक देशविकार अर्थात् इकार के स्थान में यकार और यकार के स्थान में इकार आदि कार्य्य होने से शब्दों का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता । जैसे आचार्य्य के स्थान में शिष्य का उपयोग पिता के स्थानापन्न पुत्र, देवदत्त के अधिकार में यज्ञदत्त आदि का ग्रहण होता है तथा घोड़े के स्थान में बैल और बैल के स्थान में घोड़ा जोड़ा जाता है । यहां किसी का नाश होजाता है ?

कार्यविपरिणामाद्वा सिद्धम् । अथवा कार्यविपरिणामात् सिद्धमेतत् । किमिदं कार्य्यविपरिणामादिति ? कार्या बुद्धिः सा विपरिणम्यते ॥ महाभाष्ये । अ० १ । पा० १ । सू० ७२ । आ० ८ ॥

इन शब्दों के प्रयोग होने से भी वे अनित्य नहीं हो सकते क्योंकि बुद्धि और वाणी की क्रिया ही का परिणाम अर्थात् अवस्थान्तर होता है, शब्दों का नहीं क्योंकि जो शब्द अनित्य हों तो उनकी पुनः पुनः प्रसिद्धि नहीं हो सकती, जैसे कोई मनुष्य गौः इसको बोल के मौन अथवा अन्य शब्दों का उच्चारण करके कालान्तर में पुनः गो शब्द का उच्चारण करता है जो गो शब्द अनित्य होता तो पुनः कहां से आता और क्या उच्चारण के पश्चात् बुद्धि में गो शब्द नहीं रहता तथा क्या सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में किसी शब्द अर्थ और सम्बन्ध का कभी अभाव भी होता है ? इसलिये वहां ऐसा समझना चाहिये कि गो शब्द के उच्चारण में जबतक वाणी की क्रिया गकारस्त होती तब तक औकार में नहीं, जब तक औकार में रहती तब तक विसर्जनीय में नहीं जब तक विसर्जनीय में होती तब तक अवसान में नहीं रहती है। इसी प्रकार सर्वत्र वाणी की क्रिया ही का परिणाम जानना चाहिये शब्दों में अवस्थान्तर नहीं ॥

नित्याश्च शब्दाः । नित्येषु शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः ॥ महा० । अ० १ । पा० १ । सू० २ । आ० २ ॥

इसलिये शब्द नित्य हैं क्योंकि जो २ शब्दों में वर्ण हैं वे कूटस्थ अर्थात् निश्चल हैं जो उच्चारण क्रिया से ताड़ित वायु की चालना होने से आकाशवत् सर्वत्र स्थित शब्द सुने जाते हैं सो पर्वत के समान कूटस्थ हैं, न इनका अपाय अर्थात् लोप, न आगम, न विकार और न कभी वे चलते और आकाश का गुण होने से इसके समान शब्द भी नित्य हैं इसलिये जो २ शब्दों के विषय

में लोप आगम वर्णविकार आदि की साधन प्रक्रिया शास्त्रों में लिखी हैं सो २ शब्द अर्थ और सम्बन्ध के जानने के लिये हैं। देखो यह वचन हैः-

कथं पुनरिदम्भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्। सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे॥ महाभाष्ये। अ० १। पा० १। आ० १॥

व्याकरणादि शास्त्रों की प्रवृत्ति नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्धों के जनाने ही के लिये है इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि इस सन्धि विषय का ज्ञान अवश्य करें और करावें क्योंकि जब अनेक पद अथवा अक्षर मिलकर होने से उन का स्वरूप पहिचानने में नहीं आता उन के ज्ञान के विना पद और पदार्थ का ज्ञान भी नहीं हो सकता, विना इसके प्रीति और व्यवहार की सिद्धि के न होने से सुखलाभ कैसे हो सकता है?

(प्र०) व्याकरणादि शास्त्र पढ़ने के कितने प्रयोजन हैं?

(उ०) रक्षा। ऊहः। आगमः। लघु। असन्देहः। तेऽसुराः। दुष्टः शब्दः। यदधीतम्। यस्तु प्रयुङ्क्ते। अविद्वांसः। विभक्तिङ्कुर्वन्ति। यो वा इमाम्। चत्वारि। उत त्वः। सक्तुमिव। सारस्वतीम्। दशम्यां पुत्रस्य। सुदेवो असि वरुण इति। ये अठारह (१८) प्रयोजन हैं। इनके अर्थ-(रक्षा) मनुष्य लोगों को वेदों की रक्षा के लिये व्याकरणादि शास्त्र अवश्य पढ़ने चाहियें क्योंकि इनके पढ़ने ही से लोप आगम और वर्णविकार आदि का यथावत् बोध होकर वेदों की रक्षा कर सकते हैं। (ऊहः) वेदों में सब लिङ्ग और सब विभक्ति सहित शब्दों के प्रयोग नहीं किये हैं उन का बोध व्याकरणादि शास्त्र के विज्ञानपूर्वक तर्क के विना यथावत् कभी नहीं हो सकता। (आगमः) सब मनुष्यों को अवश्य उचित है कि साङ्गोपाङ्ग वेदों को पढ़कर यथोक्त क्रिया करके सुखलाभ को प्राप्त हों सो व्याकरणादि के पढ़े विना कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब विद्याओं को प्राप्त करने में व्याकरण ही प्रधान है, प्रधान में किया हुआ पुरुषार्थ सर्वत्र महालाभकारी होता है। (लघु) मनुष्यों को अवश्य उचित है कि वेदादि शास्त्रों के सब शब्द अर्थ और सम्बन्धों को जानें सो व्याकरणादि के पढ़े विना थोड़े परिश्रम से पूर्वोक्त

पदार्थों का सहज से यथावत् जानना नहीं हो सकता । (असन्देहः) मनुष्य व्याकरणादि को पढ़ के ही शब्दार्थ सम्बंधों को निस्सन्देह जान सकता है । (तेऽसुराः) जो मनुष्य व्याकरणादि शास्त्रों की शिक्षा से रहित होते हैं वे हल्ला गुल्ला करके अप्रतिष्ठित होकर नीचता को प्राप्त हो जाते और जो व्याकरणादि की सुशिक्षा से युक्त होते हैं वे श्रेष्ठता से संपन्न होते हैं । (दुष्टः शब्दः) स्वर और वर्ण के विपरीत करने से शब्द दुष्ट और वज्र के समान होकर वक्ता के अभिप्राय को विपरीत कर देता है और जो व्याकरणादि को पढ़के यथावत् स्वर और वर्णोच्चारण करते हैं वे ही पण्डित कहाते हैं । (यदधीतम्) जो मनुष्य अर्थज्ञान के विना पाठमात्र ही पढ़ते जाते हैं उनके हृदय में विद्यारूप सूर्य्य का प्रकाश कभी नहीं होता और जो व्याकरणादि शास्त्रों को अर्थसहित पढ़ते हैं वे ही सूर्य्य के प्रकाश के समान विद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होकर अन्य मनुष्यों को इनकी प्राप्ति कराके सर्वदा आनन्दित रहते हैं । (यस्तु प्रयुङ्क्ते) जो मनुष्य विशेष व्यवहारों में शब्दों के प्रयोग ज्यों के त्यों करते हैं वे ही अनन्त विजय को प्राप्त होते और जो ऐसा नहीं करते वे सर्वत्र पराजित होकर सर्वदा दुःखित रहते हैं । (अविद्वांसः) जो विद्याहीन मनुष्य होते हैं वे सभा तथा बड़े छोटे मनुष्यों के सङ्ग में भाषणादि व्यवहारों को यथावत् नहीं कर सकते, उन को विद्वानों की सभा में स्त्री के समान लज्जित होना पड़ता और जो विद्वान् होते हैं वे पूर्वोक्त व्यवहारों को यथावत् करके सर्वत्र प्रशंसा को प्राप्त होते हैं । (विभक्तिङ्कुर्वन्ति) जो विद्वान् होते हैं वेही यज्ञकर्म्म अथवा सभा के बीच में यथायोग्य विभक्ति सहित शब्दों के प्रयोग कर सकते और जो व्याकरणादि शास्त्र को पढ़े नहीं होते वे इसमें समर्थ नहीं हो सकते । (यो वा इमाम्) जो मनुष्य पद, स्वर और अक्षरों को शुद्धतापूर्वक उच्चारण करके अपनी वाणी को पवित्र करता है वही यज्ञ और सभा आदि व्यवहारों में मान्य को प्राप्त होता है । (चत्वारि) जिसके आत्मा में शब्दविद्या प्राप्त होती है वही महाविद्वान् होकर अपने और अन्य सब मनुष्यों के कल्याण करने में समर्थ होता है । (उतत्वः) जो मनुष्य व्याकरणादि विद्या को नहीं पढ़ता वह विद्यायुक्त वाणी के दर्शन से रहित होकर देखता और सुनता हुआ भी अन्धे और बहिरे के समान होता और

जो इस विद्या के स्वरूप को प्राप्त होता है उसी को विद्या परमेश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का स्वरूप यथावत् जना देती है। (सक्तुमिव) जैसे चलनी से सक्तु को छान कर मैदा और भूसी अलग २ कर देते हैं वैसे जो मनुष्य विद्यायुक्त होते हैं वे सत्याऽसत्य का विवेक करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग ठीक २ कर सकते हैं। (सारस्वतीम्) जब मनुष्य अविद्वान् होते हैं तब भ्रान्तियुक्त होकर सभा और यज्ञशालादि के व्यवहारों में अनृतभाषण कर दूषित हो जाते और जो व्याकरणादि शास्त्रों को पढ़कर वेदोक्त व्यवहारों को यथावत् करते हैं वे ही सुभूषित होकर सर्वत्र प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं। (दशम्यां पुत्रस्य) मनुष्यों को आवश्यक है कि अपने सन्तानों का नाम जन्म से दशवें दिन शास्त्रोक्तरीति से रक्खें परन्तु शास्त्रों के पढ़े विना नाम में दो वा चार अक्षर और वे वर्ण किस प्रकार के हों इत्यादि नहीं जान सकते और जो विद्वान् होते हैं वे तो शास्त्रोक्त प्रमाणों को जानकर उक्त व्यवहार को यथावत् कर सकते हैं। (सुदेवी असि वरुण इति) जैसे विद्वान् लोग सब विद्याओं को पढ़कर सत्य देव कहाते हैं वैसे हम भी हों इत्यादि प्रयोजनों के लिये शास्त्रों को पढ़ना सब मनुष्यों को अवश्य चाहिये॥ यह १८ (अठारह) प्रयोजन यहां संक्षेप से लिखे हैं किन्तु इनके प्रमाण और विस्तार पूर्वक अष्टाध्यायी की भूमिका में लिखेंगे। सन्धि और संहिता ये दोनों एकार्थ हैं॥

(प्र०) संहिता किसको कहते हैं ?

(उ०) परः सन्निकर्षः संहिता। शब्दाविरामः व्हादाविरामः। पौर्वापर्य्यमकालव्यपेतं संहिता॥ अ० १। पा० ४। सू० १०६। आ० ४॥

जहां पूर्व वर्ण वा पदों को पर के साथ उच्चारित शब्द ध्वनि और काल का व्यवधान न हो उसको संहिता कहते हैं कि जहां अक्षरों के साथ अक्षर, पदों के साथ पद और वाक्यों के साथ वाक्य मिलाकर उच्चारण किये वा लिखे जाते हैं जैसे अ, अ ये दोनों मिल कर आ, और अ, इ मिल कर ए

इत्यादि अक्षरों, धर्मार्थकाममोक्षाः । इत्यादि पदों और "अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्" इत्यादि वाक्यों की संहिता कहाती है ॥

(प्र०) अवसान किसको कहते हैं ?

(उ०) विरामोवसानम् । अ० १ । पा० ४ । सू० ११०॥

जहां क्रिया और वर्ण का अभाव तथा व्यवधान हो उसको अवसान कहते हैं क्योंकि "**वाक्यं वक्तृधीनं हि**" वाक्य वक्ता के आधीन होता है, चाहे संहिता करे चाहे अवसान करे, परन्तु इसमें यह नियम समझना अवश्य है कि एक पद समास और धातु तथा उपसर्ग के योग में तो संहिता ही करनी और वाक्य में संहिता तथा अवसान दोनों पक्ष शुद्ध हैं, सो चार प्रकार का होता है स्वर, हल्, हल् स्वर और अयोगवाह सन्धि । स्वरसन्धि उसको कहते हैं कि जहां दो वा अधिक स्वर मिलकर एक हो जाते हैं जैसे अ+अ=आ । अ+इ=ए इत्यादि । हल् सन्धि उसको कहते हैं कि जहां हल् से परे हल् का मेल हो जाता है । जैसे–कार्त्स्न्यम् । यहां र् त् स् न् य् मिले हैं । हल् स्वरसन्धि उसको कहते हैं कि जहां अच् और हल् का मेल होता है । जैसे–क्+अ=क इत्यादि और अयोगवाह सन्धि उसको कहते हैं कि जिसमें अच् और हल् के साथ जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, ꣳकार, अनुस्वार, अनुनासिक और विसर्जनीय का मेल होता है जिव्हामूलीय–देवदत्त ᳵकिङ्करोति, किङ्कर ᳵखनति इत्यादि । उपध्मानीय–बालक ᳶपठति । वृक्ष ᳶफलति, इत्यादि । ह्रस्वꣳकार–तेषाꣳ सहस्रयोजने । दीर्घꣳकार–सꣳहितासि इत्यादि । अनुस्वार–प्रशंसन्ति इत्यादि । अनुनासिक–ताँश्चिनोति इत्यादि । विसर्जनीय–परमेश्वरः इत्यादि । पढ़ने और पढ़ानेवाले ऐसी उत्तमरीति से इस को पढ़ें पढ़ावें कि जिससे संयुक्त शब्दों को यथावत् शीघ्र जानकर विद्या के ग्रहण करने और कराने में उपयुक्त होकर शास्त्रों के पढ़ने में सामर्थ्य को प्राप्त कर के सुखी हो जावें ॥

अथ संज्ञाप्रकरणम् ॥

८७–अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दानुशासन शास्त्र का अधिकार किया जाता है। अर्थात् शब्दों को कैसे बनाना, बोलना और परस्पर सम्बन्ध करना चाहिये इस प्रकार की शिक्षा का आरम्भ किया जाता है। यह प्रतिज्ञासूत्र है ॥

अ इ उ ण् ॥ २ ॥ ऋ लृ क् ॥ ३ ॥ ए ओ ङ् ॥ ४ ॥ ऐ औ च् ॥ ५ ॥ ह य व र ट् ॥ ६ ॥ ल ण् ॥ ७ ॥ ञ म ङ ण न म् ॥ ८ ॥ झ भ ञ् ॥ ९ ॥ घ ढ ध ष् ॥ १० ॥ ज ब ग ड द श् ॥ ११ ॥ ख फ छ ठ थ च ट त व् ॥ १२ ॥ क प य् ॥ १३ ॥ श ष स र् ॥ १४ ॥ ह ल् ॥ १५ ॥

ये चौदह सूत्र वर्णोपदेश के लिये हैं। इसको वर्णसमाम्नाय एवा अक्षरसमाम्नाय भी कहते हैं। शब्द विषय में जितने वर्ण हैं वे सब ये ही हैं। इन चौदह सूत्रों में अन्त के चौदह वर्ण हल् पड़े हैं वे प्रत्याहार बनाने के लिये हैं ॥

८८–हलन्त्यम् ॥ १६ ॥ १ । ३ । ३ ॥

उपदेश में धातु आदि के जो २ अन्त्य हल् अर्थात् व्यञ्जन वर्ण हैं वे इत्संज्ञक हों। जैसे ण् क् इत्यादि। उपदेश ग्रहण इस लिये है कि अग्निचित्। यहां त् की इत्संज्ञा न हो ॥ १६ ॥

८९–आदिरन्त्येन सहेता ॥ १७ ॥ १ । १ । ८५ ॥

जो २ इन सूत्रों में आदि वर्ण हैं वे इत्संज्ञक अन्त्य वर्णों के साथ संज्ञा बनकर मध्यस्थ वर्णों और अपने रूप को भी ग्रहण करनेवाले होवें। जैसे-

अ इ उ ण् यहां आदि वर्ण अकार ण् के साथ संज्ञा को प्राप्त होता है सो अ इ उ का ग्राहक होता है इसी प्रकार (अच्) के कहने से (अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ) वर्णों का ग्रहण होता है और जो अच् प्रत्याहार के बीच में ण् क् च् आदि आते हैं इनका ग्रहण नहीं होता क्योंकि चौदह सूत्रों के चौदह अन्त्य के हलों की इत् संज्ञा होकर लोप होजाता है, यहां व्याकरण के चौदह सूत्रों में जितने प्रत्याहार बनते हैं उनको निम्नलिखित प्रकार से जानो। जैसे—अकार से लेके सात (७) प्रत्याहार—अण्, अक्, अच्, अट्, अम्, अश्, अल्। इकार से तीन (३) प्र० इक्, इच्, इण्। उकार से एक (१) प्र० उक्। एकार से दो (२) प्र० एङ्, एच्। ऐकार से एक (१) प्र० ऐच्। हकार से दो (२) प्र० हल्, हश्। यकार से पांच (५) प्र० यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्। वकार से एक (१) प्र० वश्। रेफ से एक (१) प्र० रल्। ञकार से एक (१) प्र० ञम्। मकार से एक (१) प्र० मय्। ङकार से एक (१) प्र० ङम्। झकार से चार (४) प्र० झष्, झय्, झर्, झल्। भकार से एक (१) प्र० भष्। जकार से एक (१) प्र० जश्। बकार से दो (२) प्र० बश्, बल्। छकार से एक (१) प्र० छव्। खकार से दो (२) प्र० खय्, खर्। चकार से दो (२) प्र० चय्, चर्। शकार से दो (२) प्र० शर्, शल्। ये सब मिलकर इकतालीस (४१) प्रत्याहार बनते हैं ॥ १७ ॥

६०—वृद्धिरादैच् ॥ १८ ॥ १ । १ । १६ ॥

दीर्घ आकार और ऐच् प्रत्याहार ऐ औ इनकी वृद्धि संज्ञा हो। जैसे—कमु–घञ्–सु=कामः। गर्ग–यञ्–सु=(गर्गस्य गोत्रापत्यम्) गार्ग्यः। णीञ्–ण्वुल्–सु=(यो नयति सः) नायकः। शिव–अण्–सु=शैवः। उपगु–अण्–सु=औपगवः ॥ १८ ॥

६१—अदेङ् गुणः ॥ १९ ॥ १ । १ । १७ ॥

ह्रस्व अकार एङ् अर्थात् ए ओ इन तीन वर्णों की गुण संज्ञा है, जैसे—तरिता, चेता, स्तोता ॥ १९ ॥

६२–हलोऽनन्तराः संयोगः ॥ २० ॥ १ । १ । २२ ॥

जिन के बीच में कोई स्वर न हो इस प्रकार के दो वा अधिक हलों की संयोग संज्ञा है । जैसे–इन्द्रः । अग्निः । आदित्यः । इत्यादि ॥ २० ॥

६३–मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ॥ २१ ॥ १ । १ । २३ ॥

कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण हो उसकी अनुनासिक संज्ञा हो । जैसे–ञ, म, ङ, ण, न इन पांच वर्णों, अनुस्वार और अनुनासिक के चिन्ह को भी अनुनासिक कहते हैं ॥ २१ ॥

६४–तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ॥ २२ ॥ १ । १ । २४ ॥

जिन वर्णों का कण्ठ आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न समान हो उनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा होती है । जैसे क ख ग घ ङ इत्यादि की सवर्ण संज्ञा है, स्थान प्रयत्नों का विषय (वर्णो० २२–६८) में है ॥ २२ ॥

६५–नाज्झलौ ॥ २३ । १ । १ । २५ ॥

अच् हल् परस्पर सवर्ण संज्ञक न हों । जैसे–अ–ह । इ–श । ऋ–ष । इत्यादि की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती ॥ २३ ॥

६६–वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥ २३ ॥ ८ । २ । ८२ ॥

प्लुतप्रकरण में यह अधिकार सूत्र है । यहां से आगे जो कहेंगे वह वाक्य के टिसंज्ञक भाग को प्लुत उदात्त समझा जावेगा ॥ २४ ॥

६७–प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ॥ २५ ॥ ८ । २ । ८३ ॥

प्रत्यभिवाद में वाक्य के टि को प्लुत उदात्त स्वर हो और शूद्र के प्रत्यभिवाद में न हो । जो पूर्व अभिवादन (नमस्कार) किया जाता है उसका जो उत्तर देनेवाले की ओर से वाक्य होता है उसको प्रत्यभिवाद कहते हैं, जिसके आगे तीन का अङ्क होता है वह प्लुत का चिन्ह समझा जाता है ।

प्लुत के तीन भेद हैं। प्लुतोदात्त, प्लुतानुदात्त, प्लुतस्वरित। उनका यहां क्रम से विधान करते हैं। अभिवाद—अभिवादये देवदत्तोऽहम्भोः। प्रत्यभिवाद—आयुष्मानेधि देवदत्त ३ इति, इत्यादि। यहां अशूद्रग्रहण इसलिये है कि अभिवादये तुषजकोऽहम्भोः। आयुष्मानेधि तुषजक। यहां नहीं हुआ ॥ २५ ॥

९८—वा०—अशूद्रस्त्र्यसूयकेष्विति वक्तव्यम् ॥ २६ ॥

शूद्र के अभिवाद में जो निषेध है वहां स्त्री और असूयक अर्थात् निन्दक के टि को भी प्रत्यभिवाद में प्लुतोदात्त न हो। जैसे-स्त्री—अभिवादये गार्ग्यहम्भोः। आयुष्मती भव गार्गि। वात्सी अहम्भोः। आयुष्मती भव वात्सि। असूयक—अभिवादये स्थाल्यहम्भोः। आयुष्मानेधि स्थालिन्। स्थाली किसी निन्दक की संज्ञा है ॥ २६ ॥

९९—वा० भोराजन्यविशां वा ॥ २७ ॥

भो, राजन्य (क्षत्रिय) विश् (वैश्य) इन के प्रत्यभिवाद में जो वाक्य उस के टि को प्लुतोदात्त विकल्पकरके हो। भो—देवदत्तोऽहम्भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त भोः ३ इति। आयुष्मानेधि देवदत्त भोः। राजन्य—इन्द्रवर्म्माऽहम्भोः। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म्म३न्। आयुष्मानेधीन्द्रवर्म्मन्। विश्—अभिवादये इन्द्रपालितोऽहम्भोः। आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३ इह। आयुष्मानेधीन्द्रपालित, इत्यादि ॥२७॥

१००—दूराद्धूते च ॥ २८ ॥ ८ । २ । ८४ ॥

जो दूर से बुलाने में वर्त्तमान वाक्य है उस के टि को प्लुतोदात्त हो। दूर शब्द से यहां क्या समझना चाहिये क्योंकि जो दूर है वही किसी के प्रति समीप भी होता है इसलिये ॥ २८ ॥

१०१—भा०—यत्र प्राकृतात् प्रयत्नाद् विशेषेऽनुपादीयमाने सन्देहो भवति श्रोष्यति न श्रोष्यतीति तद्दूरमिहावगम्यते ॥ २९ ॥

जहां स्वाभाविक प्रयत्न से बुलाने में सुनने न सुनने का विशेष कारण न मिले वहां सन्देह होता है कि जिसको बुलाते हैं वह सुनेगा वा नहीं उसको दूर कहते हैं। उदाहरण-आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३ अत्र। यहां दूरग्रहण इसलिये है कि आगच्छ भो माणवक देवदत्त। यहां प्लुत न हुआ ॥ २९ ॥

१०२-हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥ ३० ॥ ८ । २ । ८५ ॥

है, हे शब्दों का प्रयोग हो तो दूर से बुलाने में जो वाक्य उस में है हे शब्दों को प्लुतोदात्त हो। उ० है ३ देवदत्त। देवदत्त है ३। हे ३ देवदत्त। देवदत्त हे ३। इस में विद्वारा है हे ग्रहण इसलिये है कि वाक्य के आदि अन्त में सर्वत्र है हे को प्लुतोदात्त हो जावे ॥ ३० ॥

१०३-गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥ ३१ ॥ ८ । २ । ८६ ॥

जो ऋकार को छोड़ के अनन्त्यगुरु वर्ण है उस एक २ को सम्बोधनवाक्य में विकल्प करके प्लुतोदात्त हो। दे३वदत्त, यहां (दे) गुरु है उसको प्लुतोदात्त होता है। देवद३त्त, यहां दकारको प्लुतोदात्त होता है। इसी प्रकार य३ज्ञदत्त, इत्यादि। यहां गुरुग्रहण इसलिये है कि वकार को प्लुत न हो। ऋकार का निषेध इसलिये है कि कृष्णदत्त ३। यहां ऋकार को प्लुत न हुआ। प्राचां ग्रहण इसलिये है कि प्लुत उदात्त विकल्प करके हो। आयुष्मानेधि देवदत्त। यहां एक पक्ष में नहीं होता। एकैकग्रहण इसलिये है कि एक वाक्य में एक साथ कई वर्णों को प्लुत न हो ॥ ३१ ॥

१०४-ओमभ्यादाने ॥ ३२ ॥ ८ । २ । ८७ ॥

अभ्यादान अर्थात् आरम्भ अर्थ में जहां ओम् का प्रयोग किया जाता है वहां प्लुतोदात्त होता है। जैसे-ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा। ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितम्। इत्यादि ॥ ३२ ॥

१०५-ये यज्ञकर्मणि ॥ ३३ ॥ ८ । २ । ८८ ॥

यज्ञकर्म अर्थ में ये इस पद को प्लुतोदात्त हो। ये ३ यजामहे। यज्ञकर्म इसलिये कहा है कि। ये यजामहे। ऐसा पाठ करने मात्र में प्लुत न हो किन्तु विधियज्ञ में जब मन्त्र का प्रयोग हो वहीं प्लुत होवे और यजामहे के साथ ही ये शब्द को प्लुत अभीष्ट है किन्तु (ये देवासः) इत्यादि में प्लुत अभीष्ट नहीं ॥ ३३ ॥

१०६—प्रणवष्टेः ॥ ३४ ॥ ८ । २ । ८९ ॥

यज्ञकर्म में टि के स्थान में प्रणव आदेश हो। सो प्लुत हो, पाद वा आधी ऋचा के अंत्य टि सञ्ज्ञक (१३९) भाग के स्थान में प्लुत ओंकार ही प्रणव कहाता है। उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् इत्यादि ॥ ३४ ॥

१०७—याज्यान्तः ॥ ३५ ॥ ८ । २ । ९० ॥

यज्ञकाण्ड में पढ़े हुए मन्त्रों के अन्त का जो टिसञ्ज्ञक भाग है उसको प्लुत हो। उ०—स्तोमैर्विधेमाग्नये ३। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म्। इस में अन्त ग्रहण इसलिये है कि कोई २ ऋचा वाक्य समुदायरूप हैं उन प्रत्येक वाक्य के अन्त्य टिभाग को प्लुत न हो किन्तु मन्त्रान्त में ही हो ॥ ३५ ॥

१०८—ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ॥ ३६ ॥ ८ । २ । ९१ ॥

ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट् और आवह इनके आदि अक्षर को उदात्त प्लुत हो। उ०—अग्नयेऽनु ब्रू३हि। अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य। अस्तु श्रौ३षट्। सोमस्याग्ने वीही३ वौ३षट्। अग्निमा३वह ॥ ३६ ॥

१०९—अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥ ३७ ॥ ८ । २ । ९२ ॥

अग्नीध् ऋत्विग्विशेष को प्रेरणा करने में आदि और उससे पर को भी प्लुतोदात्त हो। उदाहरण—ओ३म् श्रा३वय। इत्यादि ॥ ३७ ॥

११०—विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ॥ ३८ ॥ ८ । २ । ९३ ॥

पूछे हुए के उत्तर देने में हि को प्लुतोदात्त हो विकल्प करके। उ०—

अकार्षीः कटं देवदत्त ! अकार्षं हि ३ । अकार्षं हि, इत्यादि । पृष्टप्रतिवचन ग्रहण इसलिये है कि कटङ्करिष्यति हिं । यहां न हो ॥ ३८ ॥

१११-निगृह्यानुयोगे च ॥ ३९ ॥ ८ । २ । ९४ ॥

वादी को प्रमाणों से उस के पक्ष से हरा के अपने पक्ष में पीछे नियुक्त करने में जो वाक्य उसके टिभाग को प्लुतोदात्त विकल्प से हो। उदा०-नित्यः शब्दः । किसी ने यह प्रतिज्ञा की उसको युक्ति से हराके उपहासपूर्वक कहे कि-अनित्यः शब्द इत्यात्थ३ । अनित्यः शब्द इत्यात्थ । आप ने यही कहा था इत्यादि ॥ ३९ ॥

११२-आम्रेडितं भर्त्सने ॥ ४० ॥ ८ । २ । ९५ ॥

धमकाने अर्थ में आम्रेडित वा उसके पूर्वभाग को प्रायः करके प्लुतोदात्त हो । उदा०-चौर चौर ३ । चौर ३ चौर घातयिष्यामि त्वा । दस्यो दस्यो ३ । दस्यो ३ दस्यो बन्धयिष्यामि त्वा । इत्यादि ॥ ४० ॥

११३-अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥ ४१ ॥ ८ । २ । ९६ ॥

अङ्ग शब्द से युक्त सापेक्ष जो तिङन्त है उसके टि को धमकाने अर्थ में प्लुतोदात्त हो । उदा०-अङ्ग कूज ३ । अङ्ग व्याहर ३ इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म !, इत्यादि । तिङ् इसलिये कहा कि अङ्ग देवदत्त, यहां न हो ॥ ४१ ॥

११४-विचार्य्यमाणानाम् ॥ ४२ ॥ ८ । २ । ९७ ॥

जो विचार्य्यमाण वाक्य हैं उनकी टि को प्लुतोदात्त हो । जैसे-होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ इति । यहां दीक्षित के घर में हवन करना चाहिये यह विचार करते हैं ॥ ४२ ॥

११५-पूर्वन्तु भाषायाम् ॥ ४३ ॥ ८ । २ । ९८ ॥

लौकिक प्रयोग में विचार्यमाण वाक्यों के पूर्व प्रयोग में प्लुतोदात्त हो । अहिर्नु ३ । रज्जुर्नु । यह सांप है वा रज्जु ? ॥ ४३ ॥

११६—प्रतिश्रवणे च ॥ ४४ ॥ ८ । २ । ९९ ॥

स्वीकार अर्थ में जो वाक्य उसके टि को प्लुतोदात्त हो । गां देहि भोः । अहं ते ददामि३ ॥ ४४ ॥

११७—अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥ ४५ ॥ ८ । २ । १०० ॥

प्रश्न के अन्त में और अभिपूजित अर्थ में अनुदात्त प्लुत हो । प्रश्नान्त—अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूत३इ इति । पटा३उ इति । यहां अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् (१२२) से आदि मध्य में प्लुत हुआ है । अभिपूजित—शोभनः खल्वसि माणवक३ अत्र । इत्यादि ॥ ४५ ॥

११८—चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥ ४६ ॥ ८ । २ । १०१ ॥

उपमार्थवाची चित् अव्यय के प्रयोग में जो वाक्य उसकी टि को प्लुतानुदात्त हो । उदा०—अग्निचिद्भाया३त् । राजचिद्भाया३त् । अग्नि के तुल्य वा राजा के तुल्य तेजस्वी होवे । उपमार्थ इसलिये कहा कि कथंचिदाहुः । यहां प्लुत न हो । प्रयुज्यमान इसलिये है कि अग्निर्माणवको भायात् । यहां न हो ॥ ४६ ॥

११९—उपरिस्विदासीदिति च ॥ ४७ ॥ ८ । २ । १०२ ॥

उपरिस्विदासीत् इस वाक्य के टि को प्लुतानुदात्त हो । उपरिस्विदासी३त् ॥ ४७ ॥

१२०—स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ॥ ४८ ॥ ८ । २ । १०३ ॥

जो आम्रेडित (द्विर्वचन का परभाग) परे हो तो असूया, सम्मति, कोप और कुत्सन अर्थ में पूर्वभाग को स्वरितप्लुत हो । असूया—माणवक३ माणवक अविनीतोऽसि । सम्मति—प्रियंवद३ प्रियंवद शोभनः खल्वसि । कोप—दुर्जन३ दुर्जन तूष्णीम्भव । कुत्सन—याष्टीक३ याष्टीक रिक्ता ते यष्टिः, इत्यादि ॥ ४८ ॥

१२१—क्षियाशीः प्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥ ४९ ॥ ८ । २ । १०४ ॥

क्षिया-आचार बिगाड़ना, आशीर्वाद और आज्ञा देने अर्थ में अन्य

उत्तरपद को आकाङ्क्षा रखनेवाला तिङन्त पद प्लुतस्वरित हो। स्वयं रथेन यातिः३ उपाध्यायं पदातिं गमयति। सुतांश्च लप्सीष्ट३ धनं च तात। कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ। आकाङ्क्ष ग्रहण इसलिये है कि दीर्घ ते आयुरस्तु। यहां प्लुत न होवे ॥ ४९ ॥

१२२–अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥ ५० ॥ ८ । २ । १०५ ॥

प्रश्न और आख्यान अर्थ में अन्त्य और अनन्त्य पद के भी टिभाग को प्लुतस्वरित होवे। अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ। पटा३ उ। आख्यान में–अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः ॥ ५० ॥

१२३–प्लुतावैचइदुतौ ॥ ५१ ॥ ८ । २ । १०६ ॥

(दूराद्धूते०) इत्यादि सूत्रों में जो प्लुत विधान किया है वहां एच् को जो प्लुत आवे तो उसके अवयव इकार उकार को प्लुत हो। ऐ३तिकायनः। औ३पगवः। यहां जब इवर्ण उवर्ण अवर्ण का समविभाग समझा जाता है तब इकार उकार द्विमात्र प्लुत हो जाते हैं ॥ ५१ ॥

१२४–एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्द्धस्याऽऽदुत्तरस्येदुतौ ॥ ५२ ॥ ८ । २ । १०७ ॥

जो समीप से बुलाने में अप्रगृह्य एच् है उस के पूर्व अर्द्धभाग अवर्ण को आकारादेश हो और उत्तरभाग को इकार उकार आदेश हों ॥ ५२ ॥

१२५–भा०–प्रश्नान्ताभिपूजितविचार्य्यमाणप्रत्यभिवादयाज्यान्तेष्विति वक्तव्यम् ॥ ५३ ॥

जो इस सूत्र में कार्यविधान है वह प्रश्नान्त, अभिपूजित, विचार्यमाण, प्रत्यभिवाद और याज्यान्तविषय में समझना चाहिये। प्रश्नान्त–अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३ न्। अग्निभूता३ इ। पटा३ उ। अभिपूजित–सिद्धोऽसि माणवक३ अग्निभूता३ इ। पटा३ उ। विचार्यमाण–होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३ इ। प्रत्यभिवाद–आयुष्मानेधि अग्निभूता३ इ। याज्यान्त–उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नया३ इ। इत्यादि। पूर्वोक्त विषयों में परिगणन इसलिये किया है कि विष्णुभूते३ विष्णुभूते घातयिष्यामि त्वाम्। यहां न हुआ ॥ ५३ ॥

१२६—वा०—एचः प्लुतविकारे पदान्तग्रहणम् ॥ ५४ ॥

जहां एच् को पूर्व सूत्र से आदेश करते हों वहां पदान्त समझना चाहिये। अर्थात् यहां नहीं होता, भद्रं करोषि गौः। यहां अन्त में विसर्जनीय आते हैं। यहां अप्रगृह्य ग्रहण इसलिये है कि शोभने खलु माले३ ॥ ५४ ॥

१२७—वा०—आमन्त्रिते छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ ५५ ॥

आमन्त्रित परे हो तो पूर्व को प्लुत हो वेदविषय में। जैसे—अग्ना३ इ पत्नीवः ॥ ५५ ॥

१२८—तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥ ५६ ॥ ८। २। १०८ ॥

पूर्वोक्त इकार उकार को य्, व् आदेश क्रम से होते हैं। अग्ना३यिन्द्रम्। पटा३वुदकम् ॥ ५६ ॥

(इति प्लुतसंज्ञाप्रकरणम्)

१२९—ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ॥ ५७ ॥ १। १। २६ ॥

ई, ऊ, ए ये जिनके अन्त में हों ऐसे जो द्विवचनान्त शब्द वे प्रगृह्यसंज्ञक हों। जैसे—अग्नी इमौ। वायू इमौ। माले इमे, इत्यादि ॥ ५७ ॥

१३०—अदसो मात् ॥ ५८ ॥ १। १। २७ ॥

अदस् शब्द के मकार से परे ई, ऊ की प्रगृह्यसंज्ञा हो। जैसे—अमी एते। अमू इति ॥ ५८ ॥

१३१—शे ॥ ५९ ॥ १। १। २८ ॥

जो विभक्ति के स्थान में शे आदेश होता है उसकी प्रगृह्यसंज्ञा हो। जैसे—अस्मे इन्द्राबृहस्पती ॥ ५९ ॥

१३२—निपात एकाजनाङ् ॥ ६० ॥ १। १। २९ ॥

आङ् को छोड़ कर जो केवल एक ही अच् निपात है वह प्रगृह्यसंज्ञक हो। जैसे—अ, इ, उ। अ अपक्राम। इ इन्द्रं पश्य। उ उत्तिष्ठ ॥ ६० ॥

१३३—ओत् ॥ ६१ ॥ १। १। ३० ॥

जो ओकारान्त निपात है वह प्रगृह्यसंज्ञक हो। जैसे—अथो इति। अहो इमे। भो इह। इत्यादि ॥ ६१ ॥

१३४—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥ ६२ ॥ १। १। ३१ ॥

जो अनार्ष अर्थात् लौकिक इति शब्द के परे संबुद्धिनिमित्तक ओकार है उसकी शाकल्यऋषि के मत में प्रगृह्यसंज्ञा हो। जैसे—वायो इति। अन्य ऋषियों के मत में वायविति। यहां अनार्षग्रहण इसलिये है कि आर्ष अर्थात् वैदिक इति शब्द के परे प्रगृह्यसंज्ञा न हो। जैसे—बन्धवित्य ब्रवीत। इत्यादि ॥ ६२ ॥

१३५—उञः ऊँ ॥ ६३ ॥ १। १। ३२ ॥

शाकल्य आचार्य के मत में अनार्ष इति शब्द परे हो तो उञ् की प्रगृह्यसंज्ञा और उञ् के स्थान में ऊँ ऐसा आदेश हो उसकी भी प्रगृह्यसंज्ञा हो। जैसे—उ इति। ऊँ इति। विति ॥ ६३ ॥

१३६—ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ॥ ६४ ॥ १। १। ३३ ॥

सप्तमी विभक्ति के अर्थ में वर्त्तमान ईकारान्त ऊकारान्त शब्द प्रगृह्यसंज्ञक हों। उ०—मामकी इति। तनू इति। सोमो गौरी अधिश्रितः ॥ ६४ ॥

१३७—नवेति विभाषा ॥ ६५ ॥ १। १। ५८ ॥

निषेध और विकल्प के अर्थ की विभाषा संज्ञा हो ॥ ६५ ॥

१३८—अदर्शनं लोपः ॥ ६६ ॥ १। १। ७४ ॥

विद्यमान के अदर्शन की लोप संज्ञा हो ॥ ६६ ॥

१३९—अचोऽन्त्यादि टि ॥ ६७ ॥ १। १। ७८ ॥

जो अचों के बीच में अन्त्य अच् है उससे लेके जो अन्त्यादि समुदाय सो टिसंज्ञक होता है। जैसे—अग्निचित्। यहां अन्त्य के इत् भाग की टि संज्ञा है ॥ ६७ ॥

१४०—अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा ॥ ६८ ॥ १। १। ७९ ॥

जो वर्ण समुदाय पद में अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण है उस की उपधा संज्ञा होती है। जैसे—निर्, दुर्, यहां इ, उ की उपधा संज्ञा है ॥ ६८ ॥

१४१—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ ६९ ॥ १ । २ । २७ ॥

एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुतसंज्ञक हो । अ । आ । आ३ ॥ ६९ ॥

१४२—सुप्तिङन्तं पदम् ॥ ७० ॥ १ । ४ । १४ ॥

सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पदसंज्ञा हो ॥ ७० ॥

१४३—प्राग्रीश्वरान्निपाताः ॥ ७१ ॥ १ । ४ । ५६ ॥

यह अधिकार सूत्र है इससे आगे जो कहेंगे उनकी निपात संज्ञा होगी ॥ ७१ ॥

१४४—चादयोऽसत्त्वे ॥ ७२ ॥ १ । ४ । ५७ ॥

जहां किसी निज द्रव्य के वाचक न हों वहां च आदि शब्द निपात संज्ञक हों । च । वा । ह । इत्यादि की निपातसंज्ञा है ॥ ७२ ॥

१४५—प्रादय उपसर्गाः क्रियायोगे ॥ ७३ ॥ १ । ४ । ५८ ॥

प्रादि शब्द असत्व अर्थ में निपातसंज्ञक और क्रियायोग में उपसर्ग संज्ञक हों ॥ ७३ ॥

१४६—गतिश्च ॥ ७४ ॥ १ । ४ । ५९ ॥

क्रिया योग में प्रादि शब्द गतिसंज्ञक भी हों ॥ ७४ ॥

१४७—परःसंनिकर्षः संहिता ॥ ७५ ॥ १ । ४ । १०८ ॥

पर (अतिशयंकर) जो सन्निकर्ष (अर्थात् वर्णों की समीपता) है उसकी संहिता संज्ञा हो ॥ ७५ ॥

१४८—विरामोऽवसानम् ॥ ७६ ॥ १ । ४ । १०९ ॥

समाप्ति अर्थात् जिस के आगे कोई वर्ण न हो उस अन्तिम वर्ण की अवसान संज्ञा होवे ॥ ७६ ॥

इति संज्ञाप्रकरणम् समाप्तम् ॥

अथ परिभाषाप्रकरणम् ॥

—*—

१४६–समर्थः पदविधिः ॥ ७७ ॥ २ । १ । १ ॥

जो कुछ इस व्याकरण शास्त्र में पद को विधानकार्य सुना जाता है वह समर्थ को जानना चाहिये। व्याकरण में प्रथम यही परिभाषा सर्वत्र प्रवृत्त होती है क्योंकि "अपदन्न प्रयुञ्जीत" अपद अर्थात् सुप् तिङ् प्रत्यय से रहित शब्द का प्रयोग कभी न करना चाहिये और सुप् तथा तिङ् भी समर्थ ही से विधान होते हैं असमर्थ से नहीं क्योंकि विना संज्ञा के सामर्थ्य नहीं होता सामर्थ्य के विना उससे प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं हो सकती और इस के विना प्रयोग भी नहीं बन सकता।

क्योंकि:–"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः। प्रकृति प्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः" ॥

इस महाभाष्य के वचन का अभिप्राय यही है कि दोनों के मिले विना कोई भी प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता इस कारण सामर्थ्य से विना किसी प्रत्यय कार्य्य वा कोई व्याकरण की बात पृथक् नहीं हो सकती, इसलिये इसी सूत्र के भाष्य में:—

"परिभाषायां च सत्यां यावान् व्याकरणे पदगंधो नाम स सर्वः संगृहीतो भवति" ॥

यह परिभाषा सूत्र है इसलिये जो कुछ व्याकरण का विषय है उस सब में इस सूत्र की प्रवृत्ति अवश्य होती है, क्योंकि जैसे विना धातुसंज्ञा के भ्वादि शब्द कृत्संज्ञक प्रत्ययों की उत्पत्ति में समर्थ नहीं होते और कृत्संज्ञक प्रत्यय भी धातु से परे नहीं हो सकते वैसे विना प्रातिपदिक संज्ञा के टाप् आदि स्त्री और अण् आदि तद्धित प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते क्योंकि विना प्रातिपदिक संज्ञा के उनका सामर्थ्य ही नहीं है जो सुप् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति करासकें और सुप् स्त्री और तद्धितसंज्ञा के विना सुप् आदि प्रातिपदिकों के आगे होने में समर्थ ही नहीं हो सकते ऐसे ही सर्वत्र समझ लेना। इस सूत्र में दो पक्ष हैं, प्रथम पक्ष में दो पद और दूसरे पक्ष में एक पद है। इससे आचार्य्य का यह अभिप्राय

विदित होता है कि प्रथमपक्ष से व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य जिसमें पृथक् २ पद अलग २ स्वर और भिन्न २ विभक्ति रहती हैं उसका प्रकाश और दूसरे पक्ष से एकार्थीभाव सामर्थ्य अर्थात् जिसमें अनेक पदों का एकपद अनेक स्वरों का एक स्वर और अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हो जाती है और जो व्यपेक्षा सामर्थ्य में समर्थ शब्द के आगे उत्तरपद विधि शब्द का लोप भी किया है इससे यह सिद्ध होता है कि व्याकरण आदि सब शास्त्र और लोकव्यवहार में भी समर्थ के लिये सब विधान है असमर्थ के लिये कुछ भी नहीं जैसे आंखवाला देखने में समर्थ होता है इसलिये उसको देखने का उपदेश भी करते हैं कि इसको तू देख अन्धे को कोई नहीं कह सकता क्योंकि वह देखने में समर्थ नहीं है। वैसे ही कोई सामर्थ्यवाले के लिये जो कुछ विधान करता है वह शुद्ध और सफल और जो कोई इससे उलटा करता है वह अशुद्ध और निष्फल समझा जाता है इसलिये यह सूत्र जितने व्याकरण आदि शास्त्रों के विषय हैं उन सब में लगता है इससे यह भी समझना कि जो भट्टोजिदीक्षित ने कौमुदी में इस सूत्र को समास ही में प्रवृत्त किया है सो अशुद्ध ही है ॥ ७७ ॥

१५०—इको गुणवृद्धी ॥ ७८ ॥ १ । १ । १८ ॥

जहां २ गुण और वृद्धि शब्द करके गुण और वृद्धि का विधान करें वहां २ इक् ही के स्थान में गुण और वृद्धि होते हैं। ऐसा सर्वत्र व्याकरणशास्त्र में समझ लेना, यहां अ, ए और ओ की गुण संज्ञा आ, ऐ और औ की वृद्धि संज्ञा है। जैसे कर्त्ता। यहां ऋ के स्थान में (१५६) से अ गुण होकर (१५९) से रपर होगया है। चेता। यहां इकार के स्थान में एकार और स्तोता। यहां उकार को ओकार गुण हुआ है। वृद्धि—कारकः। यहां ऋ के स्थान में आर् वृद्धि। नायकः। ऐतिकायनः। यहां ई और इ के स्थान में ऐ और पावकः। औपगवः। यहां ऊ और उ के स्थान में औ वृद्धि हुई है। इक् ग्रहण इसलिये है कि-अन्तगः। यहां ओष्ठस्थानी गम् धातु के मकार व्यंजन के स्थान में ओष्ठस्थानी ओकार गुण न होवे। और गुण वृद्धि ग्रहण इसलिये हैं कि जहां संज्ञा शब्दों से गुण वृद्धि कहें वहीं इक् के स्थान में हों। और द्यौः। यहां दिव् शब्द को औकारादेश कहा है सो संज्ञापूर्वक विधि के न होने से वकार के स्थान में होता है। (सः) यहां दकार के स्थान में आकारादेश होता है। पूर्ववत् ॥ ७८ ॥

१५१—आद्यन्तवदेकस्मिन् ॥ ७९ ॥ १ । १ । ३५ ॥

जैसे आदि और अन्त में कार्य्य होते हैं वैसे एक में भी हों अर्थात् अनेकाश्रित कार्य भी एक को हो जावे । जिससे पूर्व कोई न हो और परे हो उस को आदि और जिससे परे कोई न हो पूर्व हो उसको अन्त कहते हैं, इस कारण आदि अन्त को कहे हुए कार्य्य एक में नहीं बन सकते इसलिये यह परिभाषा है । जैसे-(आर्धधातुकस्येड् वलादेः) अङ्ग से परे वलादि आर्धधातुक को इट् का आगम होता है सो करिष्यति, हरिष्यति । यहां तो स्य प्रत्यय वलादि के होने से होजाता है और जोषिषत्, मन्दिषत् । यहां केवल एकाक्षर (सिप्-का स्) वल् प्रत्यय होने से नहीं प्राप्त होता था । इस परिभाषा सूत्र से यहां भी होगया । अन्तवत्-जैसे घटाभ्याम् । पटाभ्याम् । यहां अदन्त अंग को दीर्घ होता है । आभ्याम् । यहां केवल अकार के होने से दीर्घ नहीं प्राप्त था अंतवत् मान के हो जाता है ॥ ७९ ॥

१५२—आद्यन्तौ टकितौ ॥ ८० ॥ १ । १ । ६० ॥

जो टकार और ककार अनुबन्धवाले आगम हों वे आदि अन्त में यथासंख्य करके होजावें । अर्थात् टित् आगम जिसको कहा हो उसी के आदि में और कित् जिस को विधान किया हो उस के अन्त में होजावे । जैसे टित्-पुरुषाणाम् । यहां नुट् आम् के आदि में । अभवत् । यहां अट् का आगम धातु के आदि में । भविता । यहां इट् का आगम प्रत्यय के आदि में हुआ है । कित्-सोमसुत् । जटिलो भीषयते । यहां तुक् और षुक् आगम भी धातु के अन्त में हुए हैं इत्यादि ॥ ८० ॥

१५३—मिदचोऽन्त्यात्परः ॥ ८१ ॥ १ । १ । ६१ ॥

जो मित् आगम वा प्रत्यय है वह अन्त्य अच् से परे होता है । जैसे नुम्-निन्दति । नन्दति । श्नम्-रुणद्धि । मुम्-वाचंयमः । नुम्-कुलानि । यशांसि । इत्यादि ॥ ८१ ॥

१५४—एच इग्घ्रस्वादेशे ॥ ८२ ॥ १ । १ । ६२ ॥

जहां २ एच् के स्थान में ह्रस्व आदेश विधान करें वहां २ इक् ही ह्रस्व होजावें । जैसे गो-चित्रगुः । शबलगुः । यहां ओकार के स्थान में उकार ।

रै- अतिरि। यहां ऐकार के स्थान में इकार और नौ –अधिनु। यहां औकार के स्थान में उकार आदेश होता है, इत्यादि ॥ ८२ ॥

१५५–षष्ठी स्थानेयोगा ॥ ८३ ॥ १ । १ । ६३ ॥

जो २ इस व्याकरणशास्त्र में अनियतयोगा षष्ठी (अर्थात् जिस का नियम नहीं किया कि इस षष्ठी का योग इसमें हो) है वह २ स्थानेयोगा समझनी चाहिये अर्थात् स्थान में उसका योग होवे । जैसे–(अलोऽन्त्यस्य) यहां अलः, अंत्यस्य ये दोनों षष्ठी हैं। सो अनियतयोगा होने से स्थानेयोगा समझी जाती हैं, जैसे–(इको गुणवृद्धी) इकः यह षष्ठी है इक् के स्थान में गुणवृद्धि होवें । स्थान शब्द का लाभ इसी परिभाषा से सर्वत्र होता है और जहां २ षष्ठी का नियम करदिया है कि इस षष्ठी का योग यहां हो वहां २ स्थान शब्द की उपस्थिति नहीं होती, जैसे–शास इदङ्हलोः। यहां शास धातु की उपधा को इत् आदेश होता है, इत्यादि ॥ ८३ ॥

१५६–स्थानेऽन्तरतमः ॥८४ ॥ १ । १ । ६४ ॥

जो २ आदेश जिस २ के स्थान में प्राप्त हो वह २ अन्तरतम अर्थात् सदृशतम हो । अन्तरतम उसको कहते हैं कि जो अत्यन्त सदृश हो जो किसी के स्थान में होता है वही आदेश कहाता है सो स्थान शब्द का लाभ तो पूर्व परिभाषा से हुआ परन्तु जो स्थान में प्राप्त आदेश है वह कैसा होना चाहिये सो नियम इस परिभाषा से करते हैं । सादृश्य चार प्रकार का होता है, तद्यथा–स्थानकृतम् , अर्थकृतम् , प्रमाणकृतम्, गुणकृतश्चेति । स्थानकृत अन्तरतम उसको कहते हैं कि जो २ कण्ठ आदि स्थान आदेशी का हो वही आदेश का भी होना अवश्य है, जैसे–दण्ड–अग्रम्, दण्डाग्रम् । यहां पूर्व पर कण्ठस्थानी दो अकारों के स्थान में दीर्घ एकादेश कहा है सो स्थानकृत आन्तर्य्यमान के कण्ठस्थानवाले दोनों अकारों के स्थान में कण्ठस्थान वाला दीर्घ ही आकार होता है भिन्नस्थान होने से ईकार, ऊकार नहीं होते । अर्थकृत आंतर्य्य उसको कहते हैं कि जहां जैसा एक दो और बहुत अर्थों का बोधक स्थानी हो वहां वैसा ही आदेश भी होना चाहिये, स्थान सदृश हो वा नहीं हो, जैसे–तस्थस्थमिपांतान्तन्तामः। भवताम्, यहां (तस्) प्रत्यय दो अर्थों का

बोधक स्थानी है उसके स्थान में (ताम्) आदेश भी दो अर्थों का बोधक ही होता है इसी प्रकार थास् आदि के स्थान में भी समझना चाहिये। प्रमाणकृत सादृश्य वह कहाता है कि जो एकमात्रिक स्थानी हो तो उसके स्थान में एक मात्रा का ही आदेश भी होवे और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होना अवश्य है, इत्यादि। जैसे—अमुष्मै। अमूभ्याम्। यहां एकमात्रिक स्थानी है उसके स्थान में एकमात्रिक ही और द्विमात्रिक के स्थान में द्विमात्रिक आदेश होता है। गुणकृत आन्तर्य्य उसको कहते हैं कि जो अल्पप्राण स्थानी हो तो उस के स्थान में अल्पप्राणवाला आदेश और महाप्राण स्थानी हो तो महाप्राणवाला ही आदेश होवे, जैसे—वाग्घसति। त्रिष्टुब्भसति। यहां हकार के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश की प्राप्ति में जैसा हकार नादवान् और महाप्राण गुणवाला है उसके स्थान में आदेश भी वैसा ही होना चाहिये सो ये दोनों गुण वर्गों के चतुर्थ वर्णों में हैं इस कारण गुणकृत आन्तर्य्यमान के घकार और भकार ही होते हैं, इत्यादि ॥ ८४ ॥

१५७—भा०—स्थान इत्यानुवर्त्तमाने पुनः स्थानग्रहणं किमर्थम् ? ॥ ८५ ॥

प्र०—पूर्व सूत्र से स्थान की अनुवृत्ति आजाती फिर स्थानग्रहण का प्रयोजन क्या है ? ॥ ८५ ॥

१५८—उ०—यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्य्यं बलीयो यथा स्यात् ॥ ८६ ॥

जहां अनेक प्रकार के अर्थात् स्थानकृत आदि दो तीन वा चारों आन्तर्य मिलते हों वहां स्थानकृत जो आन्तर्य है अत्यन्त बलवान् होने से वही प्रवृत्त किया जाता है। जैसे—चेता। स्तोता। यहां एकमात्रिक इकार उकार के स्थान में प्रमाणकृत आन्तर्य को मानकर अकार गुण पाता है सो न हो, स्थानकृत आन्तर्य से तालु और ओष्ठस्थानवाले एकार और ओकार हो आते हैं, यह द्वितीय स्थानग्रहण का प्रयोजन है। और यहां तमग्रहण इसलिये है कि वाग्घसति। यहां महाप्राण हकार के स्थान में महाप्राण आदेश किया चाहें तो द्वितीय खकार प्राप्त है और जो नादवान् किया चाहें तो तृतीय गकार प्राप्त

होता है, तमग्रहण के होने से जो वर्गों का (घ) आदि चौथा वर्ण महाप्राण और नाद गुणवाला है वह होता है ॥ ८६ ॥

१५९—उरण् रपरः ॥ ८७ ॥ १ । १ । ६५ ॥

जहां ऋ के स्थान में अण् का प्रसङ्ग अर्थात् अण् करने लगें तत्काल ही रपर हो। अर्थात् उस अण् से परे रेफ भी हो जावे, जैसे—कर्त्ता, हर्त्ता। यहां ऋ के स्थान में अकार गुण हुआ है इसी से अण् से परे रेफ भी हो जाता है। किरिः, गिरिः। यहां जो (कॄ) और (गॄ) धातु के स्थान में इकारादेश किया है वह रपर हो गया है। और द्वैमातुरः। यहां उकार भी रपर हुआ है। यहां (उः) ग्रहण इसलिये है कि अवदातं मुखम्। यहां दैप् धातु के ऐकार के स्थान में आकार हुआ है सो रपर न हो जावे। अण् ग्रहण इसलिये है कि सौधातकिः। यहां ऋकार के स्थान में अकङ् आदेश होता है सो रपर न होवे ॥ ८७ ॥

१६०—अलोऽन्त्यस्य ॥ ८८ ॥ १ । १ । ६६ ॥

जहां २ षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में आदेश कहें वहां २ वे अन्त्य अल् के स्थान में होवें। जब (त्यदादीनामः) विभक्ति के परे त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारादेश होवे ऐसा कहें तब इसी परिभाषा की प्रवृत्ति होवे कि जो अन्त्य वर्ण दकार है उसके स्थान में अकारादेश होजाता है। जैसे—स्यः। सः। यः। इदम्। तेभ्यः। इत्यादि ॥ ८८ ॥

१६१—ङिच्च ॥ ८९ ॥ १ । १ । ६७ ॥

जो ङित् अर्थात् जिसका ङकार इत् जाय ऐसा अनेकाल् भी आदेश अन्त्य अल् के स्थान में हो। यहां पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति आती है, जैसे—अनङ्—होतापोतारौ। मातापितरौ। यहां अनङ् आदेश अन्त्य अल् ऋकार के स्थान में होता है। यह सूत्र (१६४) सूत्र का अपवाद है। (प्र०) तातङ् आदेश अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त है सो क्यों नहीं होता? ॥ ८९ ॥

१६२—(उ०) भा०—एवं तर्ह्येतदेव ज्ञापयति न तातङन्त्यस्य स्थाने भवतीति—यदेतं ङितं करोति। इतरथा हि लोटः एरुप्रकरण एव ब्रूयात् तिह्योस्तादाशिष्यन्यतरस्यामिति ॥ ९० ॥

यह इसी सूत्र पर महाभाष्यकार ने समाधान किया है कि जिस कारण तातङ् आदेश ङित् किया है इसी से आचार्य की शैली स्पष्ट विदित होती है कि यह अन्त्य अल् के स्थान में नहीं होता, जो अन्त्य अल् के स्थान में करना होता तो तृतीयाऽध्याय के चतुर्थपाद में (लोटो लङ्वत्) (एरुः) इन सूत्रों के आगे तात् आदेश कहते इसमें लाघव भी बहुत आता था जो लोट् लकार का ति और हि का इकार उसको तात् आदेश विकल्प करके होवे, ऐसा कहने से अन्त्य अल् इकार के स्थान में हो ही जाता फिर अङ्मात्र के अधिक पढ़ने और सप्तमाऽध्याय के प्रथमपाद में तातङ् आदेश के कहने से ठीक जाना जाता है कि तातङ् आदेश में ङित्करण गुण वृद्धि प्रतिषेध आदि के लिये है इस कारण अन्त्य अल् के स्थान में नहीं होता ॥ ६० ॥

१६३—आदेः परस्य ॥ ६१ ॥ १ । १ । ६८ ॥

जो पर अर्थात् उत्तर को कार्य्य कहें वह आदि अल् के स्थान में समझना चाहिये । यह सूत्र (तस्मादित्युत्तरस्य) इस सूत्र का शेष है यहां पढ़ने का प्रयोजन यह है कि अल् की अनुवृत्ति इस में आजावे अन्यत्र पढ़ने से फिर अल् ग्रहण करना होता, जैसे-(आसीनोऽधीते) यहां आस धातु से उत्तर आन को ईकारादेश कहा है सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में होजाता है । द्वीपम् । यहां द्वि शब्द से परे अप् शब्द को ईकारादेश कहा है सो उसके आदि अल् अकार के स्थान में हो जाता है ॥ ६१ ॥

१६४—अनेकाल्शित् सर्वस्य ॥ ६२ ॥ १ । १ । ६६ ॥

जो अनेकाल् और शित् आदेश हो वह संपूर्ण के स्थान में होजावे । अनेकाल् जिसमें अनेक वर्ण हों शित् अर्थात् जिसका शकार इत् जाय, जैसे— अस्तेर्भूः । यहां अस् धातु के स्थान में भू आदेश अनेकाल् होने से सब के स्थान में हो जाता है । भविष्यति । भवितव्यम्, इत्यादि । शित् इदम् इश् । विभक्ति के परे इदम् शब्द के स्थान में इश् आदेश होता है सो शित् होने से सब के स्थान में होजाता है । इतः । इह । आभ्याम् । इत्यादि ॥ ६२ ॥

१६५—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ ॥ ६३ ॥ १ । १ । ७० ॥

जो आदेश है वही स्थानी के तुल्य होवे अर्थात् जो काम स्थानी से

सिद्ध होता है वही आदेश से भी होवे परन्तु जो अलाश्रयविधि कर्त्तव्य हो तो आदेश स्थानिवत् न हो। स्थानी उसको कहते हैं कि जो प्रथम तो हो पीछे न रहे और आदेश उसको कहते हैं कि जो प्रथम न हो और पीछे होजावे जो एक के तुल्य दूसरे को मानकर कोई काम करना है उसको अतिदेश कहते हैं। स्थानी और आदेश के पृथक् २ होने से स्थानी का कार्य आदेश से नहीं निकल सकता इसलिये आदेश को स्थानिवत् अतिदेश करते हैं। जैसे—राजा। यहां विभक्ति लोप होने पर भी पदसंज्ञा रहती है। इत्यादि। आवधिषीष्ट। यहां हन धातु के स्थान में वध आदेश हुआ है उसको हन धातु का कार्य आत्मनेपद स्थानिवत् मानकर होजाता है। पुरुषाय। यहां जो ङे विभक्ति के स्थान में य आदेश होता है उसको सुप् मानकर दीर्घ और पदसंज्ञा आदि कार्य्य भी मानते हैं। इत्यादि। यहां वत्करण इसलिये है कि संज्ञाधिकार में यह परिभाषा सूत्र पढ़ा है सो आदेश की स्थानी संज्ञा न हो जावे। आदेश ग्रहण इसलिये है कि आदेशमात्र स्थानिवत् होजावे अर्थात् जो अवयव के स्थान में आदेश होते हैं वे भी स्थानिवत् होजावें, जैसे—भवतु। यहां इकार के स्थान में उकार हुआ है उसके स्थानिवत् होने से ही पदसंज्ञा आदि कार्य्य होते हैं अनल्विधि ग्रहण इसलिये है कि अल्विधि में स्थानिवद् भाव न हो। अल्विधि शब्द में कई प्रकार का समास होता है। अल् से परे जो विधि, अल् की जो विधि, अल् में जो विधि और अल् करके जो विधि करना वहां स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—अल् से परे विधि—द्यौः। यहां दिव् शब्द के वकार को औकारादेश हुआ है उस हल् वकार से परे सु विभक्ति का लोप (हलङ्याव्भ्यो०) इस सूत्र से प्राप्त है सो नहीं होता क्योंकि यहां हल् से परे सु नहीं है। अल् की जो विधि—द्युकामः। यहां दिव् शब्द के वकार को उकारादेश हुआ है सो जो स्थानिवत् मानाजाय तो उस वकार का लोप (लोपोव्योर्वलि) इस सूत्र से होजावे। अल् में जो विधि—क इष्टः। यहां यकार के स्थान में इकार संप्रसारण हुआ है सो जो स्थानिवत् माना जाय तो (हशि च) इस सूत्र से उत्व प्राप्त है सो नहीं होता। अल् करके जो विधि वहां स्थानिवत् न हो, व्यूढोरस्केन, महोरस्केन। यहां विसर्जनीय के स्थान में सकारादेश हुआ है उसको यदि स्थानिवत् मानें तो विसर्जनीय जो अयोगवाहों में प्रसिद्ध है उसका अट् प्रत्याहार में पाठ मानकर नकार को णकारादेश प्राप्त है सो नहीं होता, इत्यादि इस सूत्र का महान् विषय है विशेष महाभाष्य में देख लेना ॥ ९३ ॥

१६६–अचः परस्मिन् पूर्वविधौ ॥ ६४ ॥ १ । १ । ७१ ॥

जिस अच् के स्थान में आदेश होनेवाला हो उसके परे पूर्व की विधि करना हो तो अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् होजावे, जिसलिये पूर्व सूत्र में अल्विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया और उसी विषय में इस सूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान है इसलिये यह सूत्र उसका अपवाद है। जैसे–पटयति । यहां पटु शब्द से णिच् प्रत्यय के परे उसके उकार का लोप हुआ है उस उकार को इस सूत्र से स्थानिवत् मानने से वृद्धि नहीं होती । यहां अच् ग्रहण इसलिये है कि हल् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिवत् न हो । जैसे–आगत्य । जो यहां मकार का लोप हुआ है उसको स्थानिवत् मानें तो तुक् का आगम नहीं पावे । परस्मिन् ग्रहण इसलिये है कि जहां परनिमित्त अच् का आदेश न हो वहां स्थानिवद्भाव न हो, जैसे–आदीध्ये । यहां जो इट् प्रत्यय का एकारादेश होता है वह परनिमित्त नहीं है उसको यदि स्थानिवत् मानें तो दीधी धातु के ईकार का लोप (योवर्णयोर्दीधीवेव्योः) से होजावे सो नहीं होता । पूर्वविधि ग्रहण इसलिये है कि जहां परविधि कर्त्तव्य हो वहां स्थानिवद्भाव न हो । जैसे–नैधेयः । यहां जब डुधाञ् धातु के आकार का लोप कित् प्रत्यय के परे होता है तब निधि शब्द बनता है उस आकार को यदि स्थानिवत् मानें तो द्व्यच् प्रातिपदिकाश्रित जो ढक् प्रत्यय होता है वह नहीं हो सके, परविधि वही है कि प्रातिपदिक से परे प्रत्यय होते हैं ॥ ६४ ॥

१६७–न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु ॥ ६५ ॥ १ । १ । ७२ ॥

पदान्त, द्विर्वचन, वरे, यलोप, स्वर, सवर्ण, अनुस्वार, दीर्घ, जश्, चर् इन विधियों के करने में जो पर को निमित्त मानके आदेश होता है वह स्थानिवत् न होवे जो पूर्वसूत्र से स्थानिवद्भाव का विधान किया है उसी का नियत स्थानों में यह सूत्र निषेध करता है जैसे पदान्तविधि–कौस्तः । यहां अस् धातु के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है उसको स्थानिवत् मानके जो

आव् आदेश प्राप्त है सो नहीं होता। द्विर्वचनविधि—दद्ध्यत्र। यहां इकार को यणादेश पर को मानकर हुआ है उसके स्थानिवत् होने से धकार को द्विर्वचन नहीं पाता इसलिये द्विर्वचनविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध किया है। वरेविधि अर्थात् जो वरच् प्रत्यय के परे लोप होता है वहां स्थानिवद्भाव न होवे, जैसे—यायावरः। जो यहां अकार का लोप परनिमित्त हुआ है उसके स्थानिवत् होने से आकार का लोप प्राप्त है सो न हुआ। यलोपविधि—ब्राह्मणकण्डूतिः। यहां यक् प्रत्यय के अकार का लोप पर को मानकर हुआ है उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं पाता था। स्वरविधि—चिकीर्षकः। यहां ण्वुल् प्रत्यय के परे चिकीर्ष धातु के अकार का लोप होता है उसके स्थानिवत् मानने से लित् प्रत्यय से पूर्व (की) में उदात्त स्वर इष्ट है सो नहीं हो सकता सो होगया। सवर्णविधि—रुन्धः। यहां श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से धकार के परे अनुस्वार को परसवर्ण अर्थात् नकारादेश नहीं पाता था सो हुआ। अनुस्वारविधि—शिंषन्ति। यहां श्नम् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से नकार को अनुस्वार नहीं प्राप्त होता था सो होगया। दीर्घविधि—प्रतिदीव्ना। यहां प्रतिदिवन् शब्द के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं पाता था सो होगया। जश्विधि—सग्धिः। यहां घस् धातु के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से क्तिन् प्रत्यय के तकार को धकार नहीं पाता था सो होगया। चर्विधि—जक्षतुः। यहां भी घस् धातु के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से घकार को ककारादेश नहीं प्राप्त होता था सो होगया॥ ६५॥

१६८—वा०—प्रतिषेधे स्वरदीर्घयलोपविधिषु लोपाजादेशो न स्थानिवत्॥ ६६॥

जो सूत्र से पदान्त आदि विधियों में निषेध किया है वह इस प्रकार से होना चाहिये कि स्वर। दीर्घ और यलोपविधि के करने में जो लोपरूप अच् के स्थान में आदेश है वही स्थानिवत् न हो अन्य आदेश तो स्थानिवत् हो ही जावे। जैसे—स्वरविधि—पञ्चारत्न्यः। यहां इकार के स्थान में यणादेश हुआ है उसके स्थानिवत् होने से (इगन्तकालकपाल०) इस सूत्र से पूर्वपद

प्रकृतिस्वर होजाता है। दीर्घविधि—किर्य्योः। यहां किरि शब्द के इकार के स्थान में यणादेश होगया है उसके स्थानिवत् होने से दीर्घ नहीं होता। य-लोपविधि—वाय्वोः। यहां उकार के स्थान में वकार हुआ है उसके स्थानिवत् होने से यकार का लोप नहीं होता ॥ ९६ ॥

१६९—वा०—क्विलुगुपधात्वचङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम् ॥ ९७ ॥

(यह दूसरा वार्तिक सूत्र के विषय से अलग स्थानिवद्भाव का निषेध करता है) क्वौ लुप्ते न स्थानिवत्। जहां क्विप् प्रत्यय के परे किसी का लोप हुआ हो वहां स्थानिवद्भाव न हो। लौः। यहां क्विप् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् नहीं होने से वकार को ऊठ् आदेश होता है। लुकि न स्थानिवत्। लुक् होने में स्थानिवद्भाव न हो। पञ्चपटुः। यहां तद्धित प्रत्यय का लुक् होने से ङीप् प्रत्यय के ईकार का लुक् हुआ है। उसके स्थानिवत् नहीं होने से पटु शब्द को यणादेश नहीं होता। उपधात्वे न स्थानिवत्। उपधा का कार्य्य करने में स्थानिवद्भाव न हो। पारिखीयः। यहां परिखा शब्द से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय के परे आकार के स्थानिवत् नहीं होने से परिखा शब्द से खोपध छ प्रत्यय होजाता है। चङ्परनिर्ह्रासे न स्थानिवत्। जहां चङ् प्रत्यय के परे किसी का लोप हो वहां स्थानिवत् मानकर कोई कार्य्य न किया जावे। जैसे—अवीवदत्। यहां णिच् के परे णिच् का लोप हुआ है उस के स्थानिवत् नहीं होने से उपधा को ह्रस्व होजाता है। कुत्वे न स्थानिवत्। कुत्वविधि करने में स्थानिवद्भाव न हो, जैसे-अर्कः। यहां अर्च धातु से घञ् प्रत्यय के परे णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है उस के स्थानिवत् नहीं होने से चकार को ककारादेश हो जाता है ॥ ९७ ॥

१७०—वा०—पूर्वत्राऽसिद्धे च ॥ ९८ ॥

(इस तीसरे वार्तिक से) अष्टाऽध्यायी के अन्त्य के तीन पादों के कार्य्य करने में स्थानिवद्भाव न हो। जैसे—यायष्टिः। यहां यङ् प्रत्यय के अकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से यज् धातु के जकार को षकारादेश नहीं प्राप्त होता था इत्यादि ॥ ९८ ॥

१७१–द्विर्वचनेऽचि ॥ ९९ ॥ १ । १ । ७३ ॥

द्विर्वचननिमित्त अजादि प्रत्यय परे हो तो द्विर्वचन करने के लिये अच् के स्थान में जो आदेश है वह स्थानिरूप ही होजावे । इस सूत्र में स्थानिवद्भाव का विधान है अर्थात् निषेध की अनुवृत्ति नहीं आती इसी से यह भी अतिदेश हुआ, अतिदेश दो प्रकार के होते हैं–एक कार्यातिदेश और दूसरा रूपातिदेश । कार्यातिदेश वह होता है कि जो आदेश को स्थानी के सदृश मानकर स्थानी का काम आदेश से ले लेना । और रूपातिदेश उसको कहते हैं कि स्थानी अपने स्थान में स्वयं आजावे क्योंकि जहां स्थानी के समान आदेश को मानने से काम नहीं चलता वहां रूपातिदेश माना जाता है सो इस सूत्र में रूपातिदेश है, जैसे–पपतुः । यहां अतुस् प्रत्यय के परे धातु के आकार का लोप हुआ है उसके स्थानिवत् होने से ही द्विर्वचन हो सकता है । यहां द्विर्वचन ग्रहण इसलिये है कि गोदः । यहां आकार का लोप अजादि प्रत्यय के परे हुआ है परन्तु द्विर्वचननिमित्त प्रत्यय नहीं । इससे स्थानिवद्भाव नहीं होता और अच् ग्रहण इसलिये है कि देध्मीयते । यहां अजादि प्रत्यय परे नहीं इससे स्थानिवत् नहीं होता ॥ ९९ ॥

१७२–प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् ॥ १०० ॥ १ । १ । ७६ ॥

जहां प्रत्यय का लोप होजावे वहां उस प्रत्यय को मानकर कोई कार्य प्राप्त होवे तो हो जाय । जैसे–अग्निचित् । यहां लोप के बलवान् होने से क्विप् प्रत्यय का लोप प्रथम ही होजाता है पीछे उसको मानकर तुक् का आगम होता है इस सूत्र में प्रत्यय ग्रहण इसलिये है कि जहां संपूर्ण प्रत्यय का लोप हो वहीं प्रत्ययनिमित्त कार्य हो और जहां प्रत्यय के अवयव का लोप हो वहां न हो । जैसे–आघ्नीत । यहां प्रत्यय के अवयव सकार का लोप हुआ है सो जो प्रत्यय लक्षण होवे तो हन् धातु की उपधा का लोप नहीं प्राप्त होवे । दूसरा प्रत्ययग्रहण इसलिये है कि प्रत्यय के लोप में वर्णाश्रय कार्य प्राप्त होता हो सो न हो । जैसे–रायः कुलम्–रैकुलम् । यहां प्रत्यय के लोप में एच् प्रत्याहार के आश्रय ऐकार को आय् आदेश प्राप्त है सो नहीं हुआ ॥ १०० ॥

१७३–न लुमताङ्गस्य ॥ १०१ ॥ १ । १ । ७७ ॥

जहां लुक्, श्लु और लुप् इन शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन हुआ हो वहां उस प्रत्यय के परे जिसकी अङ्ग संज्ञा हो उसको प्रत्ययलक्षण मानकर कार्य न हो। पूर्वसूत्र में जो प्रत्ययलक्षण कार्य सामान्य से कहा है उसका इस सूत्र से विशेष विषय में निषेध करते हैं। जैसे-गर्गाः। यहां यञ् प्रत्यय को मानकर वृद्धि और आद्युदात्त स्वर प्राप्त है सो नहीं होते। इस सूत्र में लुमता ग्रहण इसलिये है कि धार्यते। यहां णिच् प्रत्यय का लोप हुआ है इससे प्रत्यय निमित्त कार्य जो वृद्धि है उसका निषेध नहीं होता॥ १०१॥

१७४-तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥ १०२ ॥ १।१।८०॥

जो शब्द सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट (पढ़ा) हो उससे जो पूर्व शब्द वा वर्ण हो उसी को कार्य हो अर्थात् उससे परे और व्यवधानवाले को न होवे। इस सूत्र में इति शब्द अर्थ का बोध होने के लिये पढ़ा है अन्यथा (तस्मिन्) यही शब्द जहां पढ़ते वहीं पूर्व को कार्य होता। जैसे-दधि-अत्र। यहां अकार सप्तमी निर्दिष्ट है उससे पूर्व जो इकार है उसी को कार्य होता है। इसमें निर्दिष्ट ग्रहण इसलिये है कि व्यवधान में यणादेश न हो। जैसे-समिधः। यहां धकार के व्यवधान में यण् नहीं होता॥ १०२॥

१७५-तस्मादित्युत्तरस्य ॥ १०३ ॥ १ । १ । ८१॥

जो पञ्चमी विभक्ति से निर्देश किया कार्य है वह व्यवधानरहित पर के स्थान में हो। पूर्वसूत्र से यहां निर्दिष्टशब्द की अनुवृत्ति आती है, इति शब्द यहां भी पूर्वोक्त प्रयोजन के लिये है। जैसे-द्वीपम्। यहां द्वि शब्द से परे अप् शब्द को ईकारादेश होता है। इस सूत्र में निर्दिष्टग्रहण का प्रयोजन यह है कि अत्यन्त समीपवाले को कार्य हो। अन्तर्दधाना आपः। यहां अप् शब्द को ईकारादेश न होवे (आदेः परस्य) यह सूत्र लिख चुके हैं सो इसी का शेष है॥ १०३॥

१७६-स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा॥ १०४॥ १।१।८२॥

व्याकरण शास्त्र में शब्द का जो रूप है उसी का ग्रहण होवे। (अर्थात् उसके पर्य्यायवाची और विशेषवाची का ग्रहण न हो) जैसे-लोक में यह परंपरा है कि शब्द के उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है, जैसे-किसी ने

किसी से कहा कि गौ लाओ। तो चार पगवाली व्यक्तिविशेष को ले आता है वैसे व्याकरण में शब्दों से कार्य कहे हैं, अर्थों से उनका होना तो कदापि संभव नहीं, जैसे अग्नि से कुछ कार्य कहा तो क्या अंगारों से वह काम हो सकता है ? इसलिये अग्नि के पर्य्यायवाची जितने शब्द हैं उन सब से वह कार्य प्राप्त होता था। इस दोष के निवारण के लिये इस सूत्र का आरम्भ किया है, जैसे–गो शब्द को कोई कार्यविधान किया है वह उसके पर्यायवाची धेनु आदि शब्दों से और विशेषवाची कृष्णा आदि शब्दों से न हो। इस सूत्र में रूपग्रहण इसलिये है कि शब्द का सम्बन्धी जो अर्थ है उसका ग्रहण न होवे ॥ १०४ ॥

जो इस सूत्र पर चार वार्तिक हैं सो लिखते हैं:—

१७७–वा०–सित्तद्विशेषाणां वृक्षाद्यर्थम् ॥ १०५ ॥

सित् निर्देश करना चाहिये अर्थात् जिन २ शब्दों के विशेषवाची शब्दों का ग्रहण इष्ट है वहां २ एक सकार अधिक पढ़कर एक नवीन संकेत करना चाहिये जिससे वृक्ष आदि शब्दों के विशेषवाची शब्दों का बोध होजावे। जैसे–(विभाषा वृक्षमृग०) इत्यादि एकवचन प्रकरण में सामान्यवाची वृक्ष आदि शब्दों के ग्रहण में विशेषवाची न्यग्रोध आदि का भी ग्रहण होता है, जैसे–प्लक्षन्यग्रोधम्। प्लक्षन्यग्रोधाः, इत्यादि ॥ १०५ ॥

१७८–वा०–पित्पर्यायवचनस्य च स्वाद्यर्थम् ॥ १०६ ॥

जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों और उनके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण और अपने रूप का ग्रहण इष्ट है वहां २ पित्संकेत करना चाहिये। जैसे–स्वे पुषः। स्वपोषं पुष्यति। यहां अपने स्वरूप का ग्रहण है। रैपोषं पुष्यति। धनपोषं पुष्यति। यहां स्वशब्द के पर्यायवाची रै आदि हैं। अश्वपोषम्। गोपोषम्। यहां अश्व आदि शब्द उसके विशेषवाची हैं ॥ १०६ ॥

१७९–वा०–जित्पर्यायवचनस्यैव राजाद्यर्थम् ॥ १०७ ॥

जिन राजादि शब्दों के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण इष्ट है वहां २ जित्संकेत करना चाहिये। इस वार्त्तिक से (सभा राजामनुष्यपूर्वा) इस सूत्र में राजन् शब्द के पर्यायवाचियों का ही ग्रहण होता है। इनसभम्। ईश्वरस-

भम्। ये राजन् शब्द के पर्यायवाची हैं और राजन् शब्द का ही ग्रहण नहीं होता। राजसभा और राजन् शब्द के विशेषवाचियों का भी ग्रहण नहीं होता। जैसे-चन्द्रगुप्तसभा। पुष्पमित्रसभा। इत्यादि ॥ १०७ ॥

१८०-वा०-भित्तस्य च तद्विशेषाणां च मत्स्याद्यर्थम् ॥ १०८ ॥

जिन मत्स्यादि शब्दों के विशेषवाचियों और उनके स्वरूप का ग्रहण इष्ट है वहां भित्संकेत करना चाहिये। इस वार्त्तिक से (पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति) इस सूत्र में मत्स्य शब्द से अपने स्वरूप और उसके विशेषवाची शब्दों का ग्रहण होना इष्ट है। जैसे—मत्स्यान्हन्ति मात्सिकः। यहां स्वरूप का ग्रहण और उसके विशेषवाची। शाफरिकः। शाकुलिकः। इत्यादि। पर्यायवाची अजिह्म आदि शब्दों का ग्रहण नहीं होता परन्तु एक पर्यायवाची का भी ग्रहण इष्ट है। मीनान्हन्ति मैनिकः ॥ १०८ ॥

१८१-अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ॥ १०९ ॥ १ । १ । ८३ ॥

अण् प्रत्याहार और उदित् ये दोनों अपने सवर्णों के ग्रहण करनेवाले हों अर्थात् इनको जो कार्यविधान किया हो वह इनके सवर्णियों को भी हो परन्तु प्रत्यय का अण् सवर्ण का ग्राहक न हो। पूर्व सूत्र से (स्वं रूपं०) इन दो शब्दों की अनुवृत्ति आती है। अण् प्रत्याहार इस सूत्र में पर णकार से लिया जाता है और उदित् करके कु, चु, टु, तु, पु, ये पांच अक्षर। जैसे—(अस्य च्वौ) यहां अकार को कार्य कहा है सो आकार को भी होता है तथा उदित् (चुटू) यहां चवर्ग टवर्ग का (अट्कुप्वां०) यहां कु, पु शब्दों से कवर्ग पवर्ग का ग्रहण होता है। इस सूत्र में प्रत्यय का निषेध इसलिये है कि अ, उ। इन प्रत्ययों के दीर्घ वर्णों का ग्रहण न हो ॥ १०९ ॥

१८२-तपरस्तत्कालस्य ॥ ११० ॥ १ । १ । ८४ ॥

जिससे तकार परे हो वा जो वर्ण तकार से परे आवे वह उतने ही काल और अपने रूप का बोधक हो अर्थात् तपर ह्रस्व वर्ण को कार्यविधान किया हो तो दीर्घ और प्लुत को न हो। जैसे-(अत्) यहां दीर्घ आकार का ग्रहण नहीं होता क्योंकि उसके उच्चारण में द्विगुण काल लगता है तथा जहां २ सूत्रों में

अकार तपर पढ़ा है उसका प्रयोजन यह है कि उदात्त अनुदात्त और स्वरित का भी ग्रहण हो क्योंकि उदात्तादिकों में कालभेद नहीं होता, ह्रस्व स्वरों में पूर्व सूत्र से सामान्य करके सवर्ण ग्रहण प्राप्त था सो इस सूत्र से ह्रस्व तपर स्वरों में अधिक कालवाले दीर्घ प्लुत का निषेध कर दिया है तथा पूर्वसूत्र से दीर्घ स्वरों में सवर्ण ग्रहण प्राप्त नहीं था सो इस सूत्र से तत्काल के ग्रहण में उदात्तादि विशेष गुणों का भी ग्रहण हो जाता है ॥ ११० ॥

१८३—येन विधिस्तदन्तस्य ॥ १११ ॥ १ । १ । ८६ ॥

जिस विशेषण करके विधि हो वह जिसके अन्त में हो उसको कार्य हो। जैसे--अचो यत्। यहां अचः यह पद धातु का विशेषण होने से अन्त शब्द का लाभ करके जो अच् को कार्यविधान है सो अजन्त को होता है। भव्यम्। इत्यादि ॥ १११ ॥

१८४—वा०—समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः ॥ ११२ ॥

समासविधान और प्रत्ययविधान में तदन्तविधि न हो। समासविधान में जैसे—कष्टश्रितः। यहां तो समास होता है और परमकष्टं श्रितः। यहां तदन्त का समास नहीं होता। प्रत्ययविधि—नडस्यापत्यं नाडायनः। यहां तो प्रत्ययविधान होता है और सूत्रनडस्यापत्यं सौत्रनाडिः। यहां तदन्त से फक् प्रत्यय नहीं हुआ। इत्यादि ॥ ११२ ॥

१८५--वा०—उगिद् वर्णग्रहणवर्जम् ॥ ११३ ॥

पूर्व वार्तिक से जो निषेध किया है सो प्रत्ययविधि में सर्वत्र नहीं लगता अर्थात् उगित् ग्रहण और वर्ण ग्रहण को छोड़ के। जैसे—भवती। यहां उदित् भवत् शब्द से ङीप् प्रत्यय होता है तो अतिभवती। यहां तदन्त से भी हो जावे। वर्ण ग्रहण--अत इञ्। दाक्षिः। इत्यादि में अदन्त से भी प्रत्ययविधान होता है ॥ ११३ ॥

१८६—अचश्च ॥ ११४ ॥ १ । २ । २८ ॥

जहां २ व्याकरण शास्त्र में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत विधान करें वहां २ अच् ही के स्थान में हों। जैसे-(ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य) यहां प्रातिपदिक को ह्रस्व कहा है, जैसे-(रै) अतिरि। यहां ऐकार को इकार और अ-

धिनु । यहां औकार को उकार होता है । यहां अच् ग्रहण इसलिये है कि सुवा-ग्ब्राह्मणकुलम् । इत्यादि प्रयोगों में हलन्त को ह्रस्व न हो । दीर्घ-"अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" । स्तु । श्रु । स्तूयते । श्रूयते । यहां उकार के स्थान में ऊकार दीर्घ हुआ है । अच् का नियम इसलिये है कि अग्निचीऽ३त्त यहां तकार के स्थान में प्लुत न हो जावे । परन्तु जहां संज्ञा शब्दों से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत पढ़े हों वहीं अच् के स्थान में हों, यह नियम इसलिये है कि त्यदादीनामः । यहां अकारादेश कहा है और अकार की ह्रस्व संज्ञा है तो यहां अच् की अपेक्षा न हो, इत्यादि ॥ ११४ ॥

१८७–यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ॥ ११५ ॥ १ । ३ । १० ॥

जहां २ बराबर संख्यावाली का कार्य में सम्बन्ध करना हो वहां २ यथा-संख्य अर्थात् जैसा उनका क्रम पढ़ा हो वैसा ही सम्बन्ध किया जावे । जैसे-(एचोऽयवायावः) यहां एच् प्रत्याहार में चार वर्ण हैं सो ही अय्, अव्, आय्, आव् ये चार आदेश हैं सो प्रथम के स्थान में प्रथम, द्वितीय के स्थान में द्वितयि, तृतीय के स्थान में तृतीय और चतुर्थ के स्थान में चतुर्थ होते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र यह नियम जान लेना, यहां (समानाम्) ग्रहण इसलिये है कि "लक्षणेत्थम्भूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः" यहां चार अर्थ और तीन उपसर्ग हैं इससे यथासंख्य क्रम नहीं लगता, इत्यादि ॥ ११५ ॥

१८८–स्वरितेनाधिऽकारः ॥ ११६ ॥ १ । ३ । ११ ॥

उस स्वरित के चिन्ह से अधिकार का बोध करना चाहिये । जो अक्षर के ऊपर खड़ी रेखा लगाते हैं वह वर्ण का स्वरित धर्म होता है, जैसे-प्रत्ययः । धातोः । कर्मण्यण् इत्यादि । अब जिस के ऊपर स्वरित का चिन्ह किया हो वह अधिकार कहांतक जावेगा यह बात उस २ के विशेष व्याख्यान से जानना ॥ ११६ ॥

१८९–विप्रतिषेधे परं कार्य्यम् ॥ ११७ ॥ १ । ४ । २ ॥

विप्रतिषेध में पर को कार्य होना चाहिये । इतरेतरप्रतिषेधो विप्रतिषेधः । जो परस्पर एक दूसरे का रोकना है वह विप्रतिषेध कहाता है । द्वौ प्रसंगौ यदान्यार्थौ भवत एकस्मिँश्च युगपत्प्राप्नुतः स विप्रतिषेधः । जो पृथक् २

प्रयोजनवाले दो कार्य एक विषय में एक काल में प्राप्त होते हैं उसको विप्रतिषेध कहते हैं, जैसे—वृक्षाभ्याम् । यहां (अतो दीर्घो यञि) इससे दीर्घ होता है और वृक्षेषु । यहां (बहुवचने झल्येत्) इससे एकारादेश होता है ये तो इनके पृथक् २ प्रयोजन हैं परन्तु (वृक्षेभ्यः) यहां जो दो सूत्रों की प्राप्ति एक काल में होकर वृक्ष शब्द को दीर्घ और एकारादेश दोनों ही प्राप्त होते हैं इसका न्याय इस परिभाषा सूत्र से किया है कि पर का कार्य एकारादेश हो जावे और पूर्वसूत्र का कार्य दीर्घादेश न हो । इत्यादि असंख्य प्रयोजन हैं ॥ ११७ ॥

१६०—अन्तादिवच्च ॥ ११८ ॥ ६ । १ । ८५ ॥

जो पूर्व पर के स्थान में एकादेश विधान किया है सो पूर्व का अन्त अवयव और पर का आदि अवयव समझना चाहिये । पूर्व पर और एक शब्द की अनुवृत्ति इसके पूर्व सूत्र से आती है, इसके प्रयोजन—जैसे पूर्व का अन्तवत् । ब्रह्मबन्धूः । यहां ऊकारान्त शब्द से ऊङ् प्रत्यय होता है । ऊकारान्त तो प्रातिपदिक और अप्रातिपदिक प्रत्यय का ऊकार है इन दोनों ऊकारों का एकादेश प्रातिपदिक के ग्रहण करके गृहीत होने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं हो सकती, इत्यादि । पर का आदिवत् । अग्नी इति । वायू इति । यहां इकार, उकार और औकार का एकादेश हुआ है सो द्विवचन औकार की आदिवत् होने से ही प्रगृह्य संज्ञा हो सकती है अन्यथा नहीं हो सकती थी, इत्यादि ॥ ११८ ॥

१६१—षत्वतुकोरसिद्धः ॥ ११९ ॥ ६ । १ । ८६ ॥

जो षत्व और तुक्विधि के करने में पूर्व पर के स्थान में एकादेश है वह सिद्ध कार्य करने में असिद्ध हो जाता है । जैसे षत्व—कोऽसिचत् । यहां अकार को पूर्वरूप एकादेश हुआ है उसको षत्वविधि करने में असिद्ध मानके षत्व नहीं होता इत्यादि । तुक्विधि—अधीत्य । परीत्य । यहां सवर्णदीर्घ एकादेश को असिद्ध मानकर ह्रस्व से परे तुक् का आगम होता है, इत्यादि ॥ ११९ ॥

१६२—वा०—संप्रसारणङीट्सु सिद्धः ॥ १२० ॥

परन्तु जहां संप्रसारण, ङि विभक्ति और इट् प्रत्यय के साथ एकादेश

हुआ हो तो वहां षत्व और तुक्विधि करने में एकादेश सिद्ध ही माना जावे। क्योंकि सूत्र से निषेध प्राप्त था उसी प्रतिषेध का यह प्रतिषेध है, जैसे संप्रसारण-शकहूषु। यहां शकपूर्वक ह्वेञ् धातु से क्विप् के परे संप्रसारण को पूर्वरूप एकादेश हुआ है उसको असिद्ध मानने से सप्तमी विभक्ति के सकार को षत्व नहीं पाता था इससे हो गया। ङि-वृत्तेछत्रम्। वृत्तेच्छत्रम्। यहां वृत्त शब्द का ङि विभक्ति के इकार के साथ एकादेश हुआ है जो उसको असिद्ध मानें तो पूर्ववत् नित्य तुक् पाता है (पदान्ताद्वा) से विकल्प इष्ट है सो हो गया, इत्यादि ॥ १२० ॥

१६३-पूर्वत्राऽसिद्धम् ॥ १२१ ॥ ८। २। १ ॥

जो कार्य यहां से पूर्व सपादसप्ताऽध्यायी अर्थात् एक पाद और सात अध्याय में जितना शब्दकार्य कहा है वहां सर्वत्र त्रिपादी का किया कार्य असिद्ध माना जावे और त्रिपादी में भी पूर्व २ के प्रति पर २ सूत्र का कार्य असिद्ध माना जाय, जैसे पादा उच्येते। यहां (लोपः शाकल्यस्य) इस सूत्र से अवर्णपूर्व वकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर गुण एकादेशरूपसन्धि नहीं होती। अग्न आयाहि। यहां भी अवर्ण से पूर्व यकार का लोप होने से उस को असिद्ध मानकर सवर्ण दीर्घ नहीं होता, इत्यादि। त्रिपादी में-गोधुङ्मान्। यहां दुह धातु के हकार को घकार घकार को गकार और गकार को ङकार और दकार को धकार होता है। इस सब को असिद्ध मानकर मतुप् के मकार को वकारादेश नहीं होता, इत्यादि ॥ १२१ ॥

१६४-न लोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति॥१२२॥८।२।२॥

परन्तु प्रातिपदिकान्त नकार का जो लोप होना है वह सुप्, स्वर, संज्ञा और कृत्सम्बन्धी तुक्विधि इन्हीं विधियों के करने में असिद्ध माना जावे। सुप् विधि में दो प्रकार का समास होता है सुप् के स्थान में जो विधि और सुप् के परे जो विधि, जैसे-सुप् के स्थान में जो विधि-राजभिः। तक्षभिः। यहां राजन् तक्षन् शब्द के नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध न मानें तो भिस् विभक्ति को ऐस् आदेश हो ही जावे सो इष्ट नहीं है तथा सुप् के परे जो विधि-राजभ्याम्। तक्षभ्याम्। यहां नलोप को असिद्ध मानने से विभक्ति से परे दीर्घ नहीं होता। स्वरविधि—प्रश्नार्मेम्। सप्तार्मेम्।

यहां पञ्चन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर (अर्मे चाऽवर्णं द्व्यच् त्र्यच्) इस स्वरविधायक सूत्र से अवर्णान्त पूर्वपद को आद्युदात्त स्वर प्राप्त है सो नहीं होता क्योंकि नलोप के असिद्ध मानने से अवर्णान्त ही नहीं। संज्ञाविधि—पञ्चभिः। यहां पञ्चन् और सप्तन् शब्द के नकार का लोप हुआ है उसको असिद्ध मानकर षट्संज्ञा होती और तदाश्रय षट्संज्ञा के कार्य भी होते हैं। तुक् विधि—ब्रह्महभ्याम्। ब्रह्महभिः। यहां न लोप को असिद्ध मानकर जो कृत् के आश्रय से तुक् प्राप्त है सो नहीं होता। यहां कृद् ग्रहण इसलिये है कि ब्रह्महच्छत्रम्। यहां जो छकाराश्रय तुगागम है सो हो जावे, इत्यादि (प्र०) "पूर्वत्राऽसिद्धम्" इस उक्त सूत्र से ही त्रिपादी के सब कार्य्य असिद्ध हो जाते फिर यह सूत्र किसलिये किया ? (उ०) यह सूत्र नियमार्थ है कि इतने ही विधियों के करने में नकार का लोप असिद्ध माना जावे अन्यत्र नहीं, इससे राजीयति। यहां ईकारादेश अवर्णान्त मानकर हो जाता है, इत्यादि ॥ १२२ ॥

१९५—न मु ने ॥ १२३ ॥ ८ । २ । ३ ॥

नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता। अर्थात् सिद्ध ही माना जाता है, जैसे-अमुना। यहां अदस् शब्द के दकार को मकार और अकार को उकारादेश त्रिपादी में होता है उसको असिद्ध नहीं मानने से घिसंज्ञक से परे टा विभक्ति को ना आदेश होजाता है, नाभाव कर लेने के पीछे जो मुभाव को असिद्ध मानें तो अदन्त अङ्ग को दीर्घ प्राप्त होता है इसलिये ऐसा अर्थ करना कि नाभाव के करने में और करने के पश्चात् भी मुभाव सिद्ध ही माना जावे, इत्यादि ॥ १२३ ॥

१९६—वा०—संयोगान्तलोपो रोरुत्वे ॥ १२४ ॥

यहां रु को उकारादेश करने में संयोगान्तलोप सिद्ध माना जाता है। जैसे-हरिवो मेदिनं त्वा। यहां जो हरिवनत् शब्द में संयोगान्त तकार का लोप असिद्ध माना जावे तो हश् के न होने से उत्व प्राप्त नहीं होता, इत्यादि ॥ १२४ ॥

१९७—वा०—सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः ॥ १२५ ॥

सवर्णदीर्घ एकादेश के करने में त्रिपादी में विहित सिच् प्रत्यय का लोप

सिद्ध ही समझना चाहिये। जैसे-अलावीत्। अपावीत्। यहां इट से परे सिच् के सकार का लोप ईट् के परे हुआ है पश्चात् उस सकार के लोप को असिद्ध मानें तो सवर्णदीर्घ एकादेश नहीं पावे, इत्यादि ॥ १२५ ॥

१९८-वा०-संयोगादिलोपः संयोगान्तलोपे ॥ १२६ ॥

जो त्रिपादी में संयोगादि सकार ककार का लोप होता है वह संयोगान्त लोप करने में सिद्ध माना जावे। जैसे-काष्ठतट्। यहां संयोगादि ककार का लोप संयोगान्त लोप में सिद्ध मानने से संयोगान्त टकार का लोप नहीं होता, इत्यादि ॥ १२६ ॥

१९९-वा०-निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययेड्विधिषु सिद्धो वक्तव्यः ॥ १२७ ॥

जो निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों के स्थान में आदेश होते हैं वे षत्व, स्वर, प्रत्यय और इट्विधि के करने में सिद्ध मानने चाहियें। जैसे-षत्वविधि-वृक्णः। वृक्णवान्। यहां ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकारादेश हुआ है उसको सिद्ध मानने से (व्रश्चभ्रस्ज०) इस सूत्र से षत्व नहीं होता इत्यादि। स्वरविधि-क्षीवः। यहां क्षीव धातु से निष्ठा के परे ईत्मात्र का लोप माना है (क्षीव्-इट्-क्त) इस अवस्था में निपातन से इट् का इ और क्त का त् इस प्रकार इत् का लोप होकर क्त के अ में व मिलके क्षीवः बनता है, उसको सिद्ध मानके (निष्ठा च द्व्यजनात्) इससे आद्युदात्त स्वर हो जाता है। प्रत्ययविधि-क्षीवेन तरति क्षीविकः। यहां भी उस लोप के सिद्ध मानने से ही द्व्यच् लक्षण ठन् प्रत्यय होता है। इट्विधि-क्षीवः। इसको जब तकार के स्थान में वकारादेश निपातन मानते हैं तब उसको सिद्ध मानकर इट् नहीं होता ॥ १२७ ॥

२००-वा०-प्लुतिस्तुग्विधौ छे च ॥ १२८ ॥

जो त्रिपादी में विधान किया हुआ प्लुत स्वर है वह छकार के परे तुक्-विधि करने में सिद्ध ही समझना चाहिये। जैसे-अग्ना३इच्छत्रम्। पटा३-उच्छत्रम्। यहां प्लुत को सिद्ध मानकर तुक् का आगम हो जाता है॥ १२८॥

२०१—वा०—श्चुत्वं धुड्विधौ ॥ १२९ ॥

जो शकार चवर्ग के योग में सकार तवर्ग को शकार चवर्ग होते हैं उनको धुड्विधि में सिद्ध मानना चाहिये। जैसे—अट्—श्च्योतति। यहां शकार को सिद्ध मानने से (ङःसि धुट्) इस सूत्र से धुट् का आगम नहीं होता ॥ १२९॥

२०२—वा०—अभ्यासजश्त्वचर्त्वमेत्त्वतुकोः ॥ १३० ॥

जो अभ्यास में झलों को जश्त्व और चर्त्व त्रिपादी में कहा है उसको एत्व और तुक् के करने में सिद्ध मानना चाहिये। जैसे—बभणतुः। बभणुः। यहां अभ्यास के भकार को बकारादेश हुआ है उसको सिद्ध मानने से आदेशादि धातु को एत्व नहीं होता। चर्त्व। उचिच्छिषति। यह उच्छी विवासे धातु का प्रयोग है उसके अभ्यास में चकारादेश होता है उसको असिद्ध मानने से तुक् पाता है सो सिद्ध मानकर न होवे ॥ १३० ॥

२०३—वा०—द्विर्वचने परसवर्णत्वम् ॥ १३१ ॥

जहां २ (अनचि च) करके द्विर्वचन करते हैं वहां २ परसवर्ण सिद्ध ही मानना चाहिये। जैसे—सँय्यन्ता। सँव्वत्सरः। यँल्लोकम्। तँल्लोकम्। इत्यादि में अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है उसको सिद्ध मानने से द्विर्वचन होता है, इत्यादि ॥ १३१ ॥

इति परिभाषाप्रकरणं समाप्तम् ॥

अथ साधनप्रकरणम् ॥

२०४—एकः पूर्वपरयोः ॥ १३२ ॥ ६ । १ । ८४ ॥

यह अधिकार सूत्र है यहां से आगे जो २ कहेंगे वह सब पूर्वपर के स्थान में एकादेश समझना योग्य है ॥ १३२ ॥

२०५—अकः सवर्णे दीर्घः ॥ १३३ ॥ ६ । १ । १०० ॥

अक् प्रत्याहार से सवर्ण अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हो । अक् प्रत्याहार में पांच वर्ण लिये जाते हैं । अ इ उ ऋ लृ । इनकी परस्पर सन्धि दिखलाते हैं । अवर्ण में परस्पर चार प्रकार के सन्धि होते हैं । अ—अ । अ—आ । आ—अ । आ—आ । इन दो २ को मिलके सवर्ण दीर्घ आकार हो जाता है जैसे—परम—अर्थः, परमार्थः । वेद—आदिः, वेदादिः । विद्या—अर्थी, विद्यार्थी । विद्या—आनन्दः, विद्यानन्दः । अन्य शब्दों में भी अवर्ण सन्धि इसी प्रकार के आवेंगे । इवर्ण में भी चार भेद हैं । इ—इ । इ—ई । ई—इ । ई—ई । जैसे—प्रति—इतिः, प्रतीतिः । भूमि—ईशः, भूमीशः । मही—इनः, महीनः । कुमारी—ईहते, कुमारीहते । ऐसे उवर्ण का भी चार प्रकार का विषय है । जैसे—उ—उ । उ—ऊ । ऊ—उ । ऊ—ऊ । क्रम से उदाहरण—विधु—उदयः, विधूदयः । मधु—ऊर्णा, मधूर्णा । चमू—उद्गमः, चमूद्गमः । वधू—ऊतिः, वधूतिः । ऋवर्ण के विषय में भी ऐसा ही समझना परन्तु लिखते भी हैं । पितृ—ऋणम्, पितॄणम् । इत्यादि । परन्तु ऋ लृ दो वर्णों में इतना विशेष है ॥ १३३ ॥

२०६—वा०—ऋति ऋ वा वचनम् ॥ १३४ ॥

ह्रस्व ऋकार से सवर्ण ऋकार के परे पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके ह्रस्व ऋकार एकादेश होता और दूसरे पक्ष में दीर्घ एकादेश होता है । सूत्र से सवर्ण दीर्घ एकादेश प्राप्त है इसलिये यह वार्तिक पढ़ा है, जैसे—होतृ—ऋकारः, होतृकारः । द्वितीय पक्ष में । होतृ—ऋकारः, होतॄकारः ॥ १३४ ॥

२०७—वा०—लृति लृ वा वचनम् ॥ १३५ ॥

ऋकार लृकार के स्थान प्रयत्न एक नहीं हैं इसलिये सवर्णसंज्ञा विषय में वार्तिक लिख चुके हैं और अक् प्रत्याहार में भी ऋ लृ दोनों पढ़े हैं। ऋकार से ह्रस्व लृकार के परे पूर्व पर के स्थान में ह्रस्व लृकार एकादेश हो। जैसे-होतृ-लृकारः, होल्लृकारः। और जिस पक्ष में ऋकार लृकार को मिल-के लृकार एकादेश नहीं होता वहां लृकार के दीर्घ नहीं होने से दीर्घ ऋकार एकादेश ही होजाता है, जैसे-होतॄकारः। इन दोनों की परस्पर सवर्ण संज्ञा का फल भी यही है कि दोनों को मिलके एकादेश हो जावे ॥ १३९ ॥

२०८-आद्गुणः ॥ १३६ ॥ ६ । १ । ८७ ॥

अवर्ण से असवर्ण अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होता है। जैसे-अ-इ। अ-ई। अ-उ। अ-ऊ। अ-ऋ। आ-इ। आ-ई। आ-उ। आ-ऊ। आ-ऋ। यह दश प्रकार का गुण एकादेश होता है। क्रम से उदाहरण-प्र-इदम्, प्रेदम्। परम-ईशः, परमेशः। सूर्य-उदयः, सूर्य्योदयः। शब्द-ऊहा, शब्दोहा। ब्रह्म-ऋषिः, ब्रह्मर्षिः। यहां अकार ऋकार के स्थान में (उरण् रपरः) सूत्र से रपर अर्थात् अर् आदेश हो गया है। कन्या-इयम्, कन्येयम्। महा-ईश्वरः, महेश्वरः। कृपा-उद्घाटनम्, कृपोद्घाटनम्। रक्ष-ऊहः, रक्षोहः। महा-ऋषिः, महर्षिः। इसी प्रकार अन्य शब्दों में भी उदाहरण आवेंगे ॥ १३६ ॥

२०९-वृद्धिरेचि ॥ १३७ ॥ ६ । १ । ८८ ॥

अवर्ण से एच् प्रत्याहार परे हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय। यह सूत्र गुणादेश का अपवाद है, एच् प्रत्याहार में चार वर्ण आते हैं ए ऐ ओ औ इन चार वर्णों के परे वृद्धि होती है। अ-ए। अ-ऐ। अ-ओ। अ-औ। आ-ए। आ-ऐ। आ-ओ। आ-औ। इसी रीति से आठ प्रकार की वृद्धि होती है। जैसे-ब्रह्म-एकम्, ब्रह्मैकम्। परम-ऐश्वर्य्यम्, परमैश्वर्य्यम्। गुड़-ओदनः, गुड़ौदनः। परम-औषधम्, परमौषधम्। महा-ओजस्वी, महौजस्वी। क्षमा-एका, क्षमैका। विद्या-ऐहिकी, विद्यैहि-की। खट्वा-औपगवः, खट्वौपगवः। अब इन गुण वृद्धि के विशेष अपवा-दरूप सूत्र लिखते हैं ॥ १३७ ॥

२१०—एत्येधत्यूठ्सु ॥ १३८ ॥ ६ । १ । ८९ ॥

अवर्ण से एति, एधति और ऊठ् परे हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो। यहां एति और एधति इन दो धातुओं के परे (एङि पररूपम्) से पररूप एकादेश पाता था इसलिये वृद्धि का आरम्भ किया है और ऊठ् आदेश में गुण पाता था उसका अपवाद है। उप-एति, उपैति । उप-एमि, उपैमि । प्र एधते । प्रैधते । उप-एधते, उपैधते । ऊठ् । प्रष्ठ-ऊहः, प्रष्ठौहः । प्रष्ठ-ऊहे, प्रष्ठौहे ॥ १३८ ॥

२११—वा०—अक्षादूहिन्याम् ॥ १३९ ॥

अक्ष शब्द के आगे ऊहिनी शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे-अक्ष-ऊहिनी, अक्षौहिणी । यहां गुण एकादेश की बाधक वृद्धि है ॥ १३९ ॥

२१२—वा०—प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥ १४० ॥

प्र उपसर्ग के आगे ऊह, ऊढ, ऊढि, एष और एष्य शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-प्र-ऊहः, प्रौहः । प्र-ऊढः, प्रौढः । प्र-ऊढिः, प्रौढिः । प्र-एषः, प्रैषः । प्र-एष्यः, प्रैष्यः । इन दो शब्दों में पूर्व पर के स्थान में गुण को बाध के वृद्धि हो जाती है ॥ १४० ॥

२१३—वा०—स्वादिरेरिणोः ॥ १४१ ॥

स्व शब्द के आगे इर और इरिन् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे-स्व-इरम् । स्वैरम् । स्व-इरी, स्वैरी । यहां गुण पाता था सो न हुआ ॥ १४१ ॥

२१४—वा०—ऋते च तृतीयासमासे ॥ १४२ ॥

अवर्णान्त पूर्वपद के आगे तृतीयासमास में ऋत शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। सुखेन-ऋतः, सुखार्तः । दुःखेन-ऋतः, दुःखार्त्तः । यहां ऋतग्रहण इसलिये है कि सुख—इतः, सुखेतः । ऐसे वाक्यों में वृद्धि न हो। तृतीया ग्रहण इसलिये है कि परम-ऋतः, परमर्तः । यहां भी वृद्धि एकादेश न हो और समासग्रहण इसलिये कि सुखेन-ऋतः, सुखेनर्तः ।

यहां भी वृद्धि एकादेश न हुआ । यहां गुण और प्रकृतिभाव भी पाया था ॥ १४२ ॥

२१५–वा०–प्रवत्सतरकम्बलवसनानां च ऋणे ॥ १४३ ॥

प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, इन शब्दों के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है। जैसे–प्र–ऋणम्, प्रार्णम् । वत्सतर–ऋणम्, वत्सतरार्णम् । कम्बल–ऋणम् । कम्बलार्णम् । वसन–ऋणम्, वसनार्णम् । यहां सर्वत्रगण और प्रकृतिभाव पाया था ॥ १४३ ॥

२१६–वा०–ऋणदशाभ्यां च ॥ १४४ ॥

ऋण और दश शब्द के आगे ऋण शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है । जैसे–ऋण–ऋणम् । ऋणार्णम् । दश–ऋणम् । दशार्णम् । यहां भी गुण और प्रकृतिभाव दोनों पाये थे ॥ १४४ ॥

२१७–उपसर्गादृति धातौ ॥ १४५ ॥ ६ । १ । ९१ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश हो जाय । यह सूत्र भी गुण एकादेश का बाधक है । प्र–ऋच्छति, प्रार्च्छति । उप–ऋच्छति, उपार्च्छति । प्र–ऋध्नोति, प्रार्ध्नोति । यहां उपसर्ग ग्रहण इसलिये है कि खट्वा–ऋच्छति, खट्वर्च्छति । यहां वृद्धि न हुई ॥ १४५ ॥

२१८–वा०–सुप्यापिशलेः ॥ १४६ ॥ ६ । १ । ९२ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि सुबन्त धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में विकल्प करके वृद्धि एकादेश होता है, पक्ष में गुण हो जाय । परन्तु यह बात आपिशलि आचार्य के मत में है अन्य के नहीं । यहां पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है । उप–ऋणीयति, उपार्णीयति । उपर्णीयति । विकल्प के लिये वा शब्द तो पढ़ा ही है फिर जो यहां आपिशलि का ग्रहण है सो सत्कारार्थ है ॥ १४६ ॥

२१९–एङि पररूपम् ॥ १४७ ॥ ६ । १ । ९४ ॥

अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप

एकादेश होता है। यह सूत्र वृद्धि का अपवाद है। प्र-एलति, प्रेलति। उप-एलति, उपेलति। प्र-ओषति, प्रोषति। उप-ओषति, उपोषति ॥ १४७ ॥

२२०-वा०-एवे चानियोगे ॥ १४८ ॥

अनियोग अर्थात् अनियत अर्थ में अवर्णान्त से परे एव शब्द हो तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय। इह-एव, इहेव। अद्य-एव, अद्येव। यहां अनियोग ग्रहण इसलिये है कि (इहैव भवमा स्म गाः) यहां नियोग के होने के कारण पररूप न हुआ ॥ १४८ ॥

२२१-वा०-शकन्ध्वादिषु च ॥ १४९ ॥

शकन्धु आदि शब्दों में पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे-शक-अन्धुः, शकन्धुः। कुल-अटा, कुलटा। इत्यादि ॥ १४९ ॥

सीमन्त शब्द भी शकन्ध्वादि शब्दों के सदृश है परन्तु इसमें भेद यह है कि:—

२२२-वा०-सीमन्त केशेषु ॥ १५० ॥

केश अर्थ वाच्य हो तो सीम शब्द से अन्त शब्द के परे पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश हो जाय। जैसे-सीम-अन्तः। सीमन्तः। यहां केशग्रहण इसलिये है कि अन्यत्र पररूप एकादेश न हो अर्थात् जैसे-(सीमान्तः) यहां पररूप एकादेश न हुआ किन्तु सवर्णदीर्घ एकादेश हो गया ॥ १५० ॥

२२३-वा०-ओत्वोष्ठयोः समासे वा ॥ १५१ ॥

जो अवर्णान्त के आगे ओतु, ओष्ठ शब्दों का समास किया हो तो विकल्प करके पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। पक्ष में वृद्धि हो जाती है क्योंकि इस वार्त्तिक से वृद्धि की प्राप्ति में पररूप एकादेश किया है। जैसे-स्थूल-ओतुः, स्थूलोतुः। स्थूलौतुः। विम्ब-ओष्ठी। विम्बोष्ठी। विम्बौष्ठी। यहां समासग्रहण इसलिये है कि एहि बालौतुरायाति। यहां समास के न होने से पररूप नहीं हुआ ॥ १५१ ॥

२२४-वा०-एमन्नादिषु छन्दसि ॥ १५२ ॥

वेदस्थ प्रयोगों में अवर्ण से परे एमन् आदि शब्द हों तो पररूप एकादेश हो। जैसे-अपां त्वा-एमन्, अपां त्वेमन्। अपां त्वा-ओद्मन्, अपां त्वोद्मन्। इत्यादि यहां वृद्धि पाई थी सो न हुई ॥ १५२ ॥

२२५-ओमाङोश्च ॥ १५३ ॥ ६ । १ । ९५ ॥

जो अवर्णान्त शब्द से परे ओम् और आङ् शब्द हों तो पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है। जैसे-कन्या-ओमित्युवाच, कन्योमित्युवाच। यह नियम केवल आङ् विषयक ही नहीं है किन्तु आ-उनत्ति, ओनत्ति। अद्य-ओनत्ति, अद्योनत्ति। कदा-ओनत्ति, कदोनत्ति। जैसे यहां आकार का उकार के साथ पररूप एकादेश होता है वैसे उसको पर का आदिवत् मान के पुनः पररूप एकादेश होता है। यहां भी वृद्धि प्राप्त थी सो न हुई ॥ १५३ ॥

२२६-अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥ १५४ ॥ ६ । १ । ९८ ॥

जो इति शब्द परे हो तो अव्यक्त शब्द का जो अनुकरण उसके अत् भाग को पररूप एकादेश हो जावे। जिसमें अकारादि वर्ण स्पष्ट न निकलें उसको अव्यक्त शब्द कहते हैं। अनुकरण वह कहाता है कि किसी मनुष्य ने जैसा शब्द किया हो उसका प्रतिशब्द (नक़ल) करनी, जैसे-पटत्-इति, पटिति। घटत्-इति, घटिति। इत्यादि। यहां अव्यक्त का अनुकरण इसलिये कहा है कि जगत्-इति, जगदिति। ऐसे वाक्यों में पररूप एकादेश न हुआ ॥ १५४ ॥

२२७-वा०-इतावनेकाज्ग्रहणं श्रदर्थम् । १५५ ॥

जहां इति शब्द के परे अव्यक्त शब्द के अनुकरण को पररूप एकादेश किया है वहां अनेकाच् अव्यक्त शब्द को हो। अर्थात् श्रत्—इति, श्रदिति। यहां एकाच् शब्द के अत् भाग को पररूप न हुआ ॥ १५५ ॥

२२८-तस्य परमाम्रेडितम् ॥ १५६ ॥ ८ । १ । २ ॥

जो द्विर्वचन का पर भाग है उसकी आम्रेडित संज्ञा होती है। जैसे-ऋक् ऋक्। यहां जो परे ऋक् शब्द है उसको आम्रेडित कहते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र समझना ॥ १५६ ॥

२२९—नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥ १५७ ॥ ६ । १ । ९९ ॥

जो आम्रेडित संज्ञक अव्यक्त शब्द के अनुकरण का अत् भाग हो उस को इति शब्द के परे पररूप एकादेश न हो किन्तु जो आम्रेडितसंज्ञक के अन्त में तकार है उसको विकल्प करके पररूप एकादेश होवें। पटत् पटत्। यहां पर भाग आम्रेडित कहाता है। पटत् पटत्—इति, पटत् पटेति। और जिस पक्ष में पररूप न हुआ वहां पटत्पटदिति ॥ १५७ ॥

२३०—वा०—नित्यमाम्रेडिते डाचि पररूपङ्कर्त्तव्यम् ॥ १५८ ॥

इस वार्त्तिक का प्रयोजन यह है कि जो अनुकरण में डाच् प्रत्ययान्त आम्रेडित परे हो तो पूर्व के अन्त्य के तकार को नित्य पररूप एकादेश हो जाय। जैसे—पटत्पटा। यहां तकार का पर अर्थात् पकार का रूप हो जाता है। पटपटा करोति। पटपटायते। घटघटा करोति। घटघटायते। शरशरा करोति। शरशरायते। काशिकावाले जयादित्य आदि लोगों ने इस वार्त्तिक का सूत्रपाठ में व्याख्यान किया है सो सत्य नहीं। महाभाष्य के देखने से स्पष्ट विदित होता है कि यह सूत्र नहीं है किन्तु लेखकभ्रम से सूत्रों में लिखा गया है ॥ १५८ ॥

२३१—एङः पदान्तादति ॥ १५९ ॥ ६ । १ । १०८ ॥

जो पदान्त एङ् से परे ह्रस्व अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। जैसे अग्ने-अत्र, अग्नेऽत्र। वायो—अत्र, वायोऽत्र। ब्राह्मणो—अब्रवीत्, ब्राह्मणोऽब्रवीत्। गुरवे—अदात्, गुरवेऽदात्। अत् ग्रहण इसलिये है कि वायो, इति। यहां पूर्वरूप न हुआ ॥ १५९ ॥

२३२—प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे ॥ १६० ॥ ६ । १ । ११४ ॥

(यहां से लेके सात सूत्रों का विषय वेदों ही में समझना) जहां पदान्त एङ् से परे वकार यकार न हों तो अकार के परे एङ् प्रकृति करके अर्थात् ज्यों का त्यों बना रहे परन्तु वह पाद के बीच में हो। जैसे—आरे अस्मे च शृण्वते, त्रयो अस्य पादाः। उपप्रयन्तो अध्वरम्। शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः। यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः। इत्यादि यहां पाद के बीच में इसलिये कहा है कि

द्विषतो वधोऽसि । रक्षसां भागोऽसि । इत्यादि में एङ् प्रकृति करके न रहे । वकार यकार परे न हों यह इसलिये है कि तेऽवदन् । तेऽयुः । इत्यादि में भी प्रकृतिभाव न हो ॥ १६० ॥

२३३—अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥ १६१ ॥ ६ । १ । ११५ ॥

पदान्त एङ् से अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन उत्तरपदों में वकार यकार पर भी अकार परे हो तो पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जावे । जैसे—वसुभिर्नो अव्यात् । मित्रमहो अवद्यात् । मा शिवासो अवक्रमुः । तेनो अव्रतः । शतधारो अयं मणिः । ते नो अवन्तु पितरः । शिवासो अवस्यवः । इत्यादि ॥ १६१ ॥

२३४—यजुष्युरः ॥ १६२ ॥ ६ । १ । ११६ ॥

यजुर्वेद में अकार के परे उरः शब्द का उरो पदान्त एङ् होता है वह प्रकृति करके रहे । जैसे—उरो अन्तरिक्षम् । इत्यादि ॥ १६२ ॥

२३५—आपो जुषाणो वृष्णो वर्षिष्ठे अम्बे अम्बाले अम्बिके पूर्वे ॥ १६३ ॥ ६ । १ । ११७ ॥

यजुर्वेद में आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, ये एङन्त शब्द अकार के पूर्व हों तो प्रकृति करके रहें और अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे, अम्बाले हों तो ये दो शब्द इसी प्रकार रहें । जैसे—आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु । जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा । वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिभिः । वर्षिष्ठे अधिनाके । अम्बे अम्बाले अम्बिके ॥ १६३ ॥

२३६—अङ्ग इत्यादौ च ॥ १६४ ॥ ६ । १ । ११८ ॥

जो यजुर्वेद में अकार परे हो तो अङ्गे एङन्त शब्द प्रकृति करके रह जावे और जो अङ्गे इसके परे आदि एङ् है सो भी प्रकृति करके रहता है । जैसे—ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अदीध्यत् । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् । इत्यादि ॥ १६४ ॥

२३७—अनुदात्ते च कुधपरे ॥ १६५ ॥ ६ । १ । ११९ ॥

यजुर्वेद में जिस अनुदात्त अकार से परे कवर्ग और धकार हों उसके परे पदान्त एङ् प्रकृति करके रह जावे। जैसे—अयं सो अग्निः। अयं सो अध्वरः। इत्यादि ॥ १६५ ॥

२३८—अवपथासि च ॥ १६६ ॥ ६ । १ । १२० ॥

अवपथास् इस अनुदात्त क्रिया के परे पदान्त जो एङ् है वह प्रकृति करके रहे यजुर्वेद में। जैसे—त्रिरुद्रो अवपथाः। इत्यादि ॥ १६६ ॥

२३९—सर्वत्र विभाषा गोः ॥ १६७ ॥ ६ । १ । १२१ ॥

सर्वत्र अर्थात् लोक और वेद में गो शब्द से परे ह्रस्व अकार रहे तो गो शब्द का एङ् अर्थात् ओकार विकल्प करके प्रकृति अर्थात् ज्यों का त्यों बना रहे और पक्ष में सन्धि भी होजाय। गो—अग्रम्। गोऽग्रम्। गो—अङ्गानि, गोऽङ्गानि। ऐसे २ दो २ रूप होते हैं ॥ १६७ ॥

२४०—अवङ् स्फोटायनस्य ॥ १६८ ॥ ६ । १ । १२२ ॥

स्फोटायन आचार्य के मत में अच्मात्र के परे गो शब्द के ओकार के स्थान में अवङ् आदेश हो ही जाता है। यहां पूर्व सूत्र से गो शब्द की अनुवृत्ति आती है। जैसे—गो—अश्वम्, गवाश्वम्। यहां तो आदेश हुआ परन्तु जहां अन्य आचार्यों के मत में अवङ् आदेश नहीं होता वहां पूर्वरूप और प्रकृतिभाव होने से गोऽश्वम् और गो अश्वम्। ये दो रूप भी होते हैं ॥ १६८ ॥

२४१—इन्द्रे च ॥ १६९ ॥ ६ । १ । १२३ ॥

गो शब्द के परे इन्द्र शब्द हो तो नित्य अवङ् आदेश हो जाता है। जैसे गो—इन्द्रः, गवेन्द्रः ॥ १६९ ॥

२४२—प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥ १७० ॥ ६ । १ । १२४ ॥

प्लुत और प्रगृह्य संज्ञक शब्द अच् प्रत्याहार के परे ज्यों के त्यों बने रहें। जैसे—देवदत्त ३ इहागच्छ। माणवक ३ इहागच्छ। हे ३ इन्द्र। हे ३ अग्ने। इत्यादि प्लुत के उदाहरण हैं जहां २ प्लुत संज्ञा होती है वहां २ उनकी परस्पर सन्धि कदापि नहीं होती, यहां तीन का अंक सर्वत्र प्लुत का चिन्ह है। प्रगृह्य संज्ञा के उदाहरण क्रम से ये हैं—ईकारान्त द्विवचन—अग्नी—इमौ। अग्नी—अत्र। ऊकारान्त द्विवचन—वायू—इह। वायू-अत्र। एकारान्त द्विवचन—

माले-इमे । खट्वे-इमे । कन्ये-आसाते । अदस् शब्द के ईकार ऊकार के-अमी-आसते । अमू-आसाते । इत्यादि ॥ १७० ॥

२४३-आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम् ॥ १७१॥६।१।१२५॥

वेद में आङ् उपसर्ग को अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव भी होता है। जैसे-अभ्रयाँ अपः। गभीर आँ उग्रपुत्रः। इत्यादि, बहुल के कहने से कहीं नहीं भी होता । जैसे-इन्द्रो बाहुभ्यामातरत् । आ- अतरत् । यहां न तो अनुनासिक और न प्रकृतिभाव हुआ ॥ १७१ ॥

२४४-इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥१७२॥ ६ । १ । १२६॥

शाकल्य आचार्य्य के मत में इक् प्रत्याहार से परे असवर्णी अच् हो तो उस इक् को प्रकृतिभाव और ह्रस्व आदेश हो । इ-अ । इ-आ । ई-अ । ई-आ । उ-अ । ऊ-आ । उ-आ । ऋ-आ । ॠ-आ । इ-उ । उ-इ । ऋ-इ। ऋ-उ । इ-ए । इ-ओ । इ-आ । इत्यादि क्रम से दो २ प्रयोग बनेंगे । अन्य आचार्यों के मत में जो सन्धि पाता है वह होजावेगा। सन्धि-अत्र, सन्ध्यत्र । अग्नि-आधानम्, अग्न्याधानम् । कुमारि-अत्र, कुमार्य्यत्र । भूमि-उद्धृता, भूम्युद्धृता। कुमारि-ऊतिः, कुमार्य्यूतिः। कुमारि-ऋच्छति, कुमार्यृच्छति। कुमारि-एति, कुमार्य्येति । कुमारि-ओषति, कुमार्य्योषति । कुमारि-ऐहत, कुमार्य्यैहत कुमारि-औहत, कुमार्य्यौहत । बधु-आगमनम्, बध्वागमनम् । बधु-इन्दति, बध्विन्दति । बधु-ईहते, बध्वीहते । बधु-ऋच्छति, बध्वृच्छति । बधु-एति, बध्वेति । बधु-ओखति, बध्वोखति । बधु-ऐधिष्ट, बध्वैधिष्ट । बधु-और्दिष्ट, बध्वौर्दिष्ट । पितृ-अयनम्, पित्रयनम् । पितृ-आदरः, पित्रादरः । पितृ-इच्छुः, पितृच्छुः । पितृ-ईहा, पित्रीहा । होतृ-उखा, होत्रुखा । पितृ-ऊहः, पित्रूहः । इत्यादि असंख्य प्रयोग बनते हैं । यहां असवर्ण ग्रहण इसलिये है कि कुमारी-ईहते, कुमारीहते । इस के दो प्रयोग न हों किंतु नित्य ही दीर्घ एकादेश होजावे । और शाकल्यग्रहण आदरार्थ है ॥ १७२ ॥

२४५-वा०-सिन्नित्यसमासयोः शाकलप्रतिषेधः ॥१७३॥

सित् प्रत्यय के परे और नित्यसमास में शाकल अर्थात् इस (इकोऽसवर्णे०) सूत्र का कार्य्य न हो । ऋतु-इयः । यहां इयः सित् प्रत्यय है। इसके परे प्रकृ-

तिभाव नहीं होता । ऋत्विय: । यह एक ही प्रयोग होता है । नित्यसमास- वि आकरणम्, व्याकरणम् । कुमारी-अर्थः, कुमार्य्यर्थः । यहां प्रकृतिभाव और ह्रस्व नहीं होता ॥ १७३ ॥

२४६-वा०—ईषाअक्षादिषु च छन्दसि प्रकृतिभाव-मात्रम् ॥ १७४ ॥

जहां २ वैदिक प्रयोगों में प्रकृतिभाव उक्त सूत्र के विषयों से पृथक् आवे वहां २ ईषा अक्षा आदि शब्दों के समान समझना । जैसे-ईषा अक्षाः का ईमिरे पिशंगिला आगमन इत्यादि ॥ १७४ ॥

२४७-ऋत्यकः ॥ १७५ ॥ ६ । १ । १२७ ॥

जो अक् प्रत्याहार से परे ह्रस्व ऋकार हो तो वह शाकल्य ऋषि के मत में प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता और अन्य आचार्य्यों के मत में नहीं होता है। खट्वा ऋश्यः । खट्व ऋश्यः । माला ऋश्यः । माल ऋश्यः । यहां ह्रस्व और प्रकृतिभाव हुआ और खट्वर्श्यः । मालर्श्यः । यहां न हुआ । इत्यादि प्रयोग बनते हैं । यहां अक्ग्रहण इसलिये है कि कुमाराद्दृषी । यहां सन्धि होजाय ॥ १७५ ॥

२४८-अप्लुतवदुपस्थिते ॥ १७६ ॥ ६ । १ । १२८ ॥

जो प्लुत से परे उपस्थित अर्थात् अनार्ष इति शब्द हो तो प्लुत को अ-प्लुतवत् कार्य्य हो अर्थात् प्लुत को प्रकृतिभाव न हो । जैसे-सुभद्रा ३ इति, सुभद्रेति । सुमङ्गला ३ इति, सुमङ्गलेति । सुश्लोका ३ इति, सुश्लोकेति । जिन शब्दों की प्रगृह्यसंज्ञा होती है उनमें से किसी २ की प्लुत संज्ञा भी होती है। जैसे अग्नी ३ इति, इत्यादि यहां प्लुत को अप्लुतवत् नहीं हुआ क्योंकि प्रगृह्य संज्ञा को मान के प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ १७६ ॥

२४९-ई ३ चाक्रवर्म्मणस्य ॥ १७७ ॥ ६ । १ । १२९ ॥

जो प्लुत ईकार है वह चाक्रवर्म्मण आचार्य्य के मत में अप्लुतवत् होता है अर्थात् उसको प्लुत का कार्य्य नहीं होता । चिनुही ३ इदम्, चिनुहीदम् । सुनुही ३ इदम्, सुनुहीदम् । इत्यादि यहां भी पूर्व सूत्र से प्रकृतिभाव हो

जाता परन्तु यह सूत्र उपस्थित से अन्यत्र ही अप्लुतवत् करता है ॥ १७७ ॥

२५०—इको यणचि ॥ १७८ ॥ ६ । १ । ७७ ॥

इक् प्रत्याहार अर्थात् इ उ ऋ ऌ इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इन के स्थान में यण् अर्थात् य् व् र् ल् ये चार वर्ण होजायं । जैसे—वापी—अश्वः, वाप्यश्वः । कुमारी—अपि, कुमार्य्यपि । यहां बहिरङ्गलक्षण यणादेश को असिद्ध मानकर संयोगान्तलोप नहीं होता । वधू—अत्र, बध्वत्र । पितृ—अर्थम्, पित्रर्थम् । ऌ—अनुबन्धः, लनुबन्धः । इत्यादि असंख्य उदाहरण बनते हैं ॥ १७८ ॥

२५१—एचोऽयवायावः ॥ १७९ ॥ ६ । १ । ७८ ॥

एच अर्थात् ए ओ ऐ औ इन चार वर्णों से परे अच् हो तो इनके स्थान में क्रम से अय्, अव्, आय्, आव् ये आदेश होते हैं । जे—अः, जयः । माले—आ, मालया । माले—ओः, मालयोः । इत्यादि । वायो—आयाहि, वायवायाहि । लो—अः, लवः । ऐ—अः, आयः । इत्यादि । लौ—अकः, लावकः । इत्यादि ॥ १७९ ॥

२५२—वान्तो यि प्रत्यये ॥ १८० ॥ ६ । १ । ७९ ॥

वान्त अर्थात् जो पूर्व सूत्र से अव्, आव् आदेश कहे हैं वे यकारादि प्रत्यय के परे भी हो जावें । जैसे अव्—बाभ्रो—यः, बाभ्रव्यः । आव्—नौ—यः, नाव्यः । इत्यादि, यहां वान्तग्रहण इसलिये है कि रै—यति । यहां न हो । यकारादि ग्रहण इसलिये है कि नौका, यहां न हो । प्रत्ययग्रहण इसलिये है कि गोयानम् । यहां अव् आदेश न हो जावे ॥ १८० ॥

२५३—वा०—गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ १८१ ॥

वैदिक प्रयोगों में गो शब्द से परे यति हो तो गो शब्द के स्थान में वांत आदेश होजाय । आ नो मित्रावरुणा घृतैर्गव्यूतिमुक्षतम् । यहां गो आगे यूतिः इसका गव्यूतिः हुआ है ॥ १८१ ॥

२५४—वा०—अध्वपरिमाणे च ॥ १८२ ॥

मार्ग के परिमाण का अर्थ हो तो यूति शब्द के परे गो शब्द के स्थान

में वान्त आदेश हो। जैसे-गो-यूतिः, गव्यूतिः। गव्यूतिमध्वानं गतः। दो कोश को गव्यूति कहते हैं ॥ १८२ ॥

२५५-धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥ १८३ ॥ ६ । १ । ८० ॥

जहां यकारादि प्रत्यय को मानके धातु को एच् हुआ हो तो यकारादि प्रत्यय के परे अव् आदेश होता है अन्यत्र नहीं। भो-यम्, भव्यम्। अवश्य लौयम्। अवश्य लाव्यम्। यहां धातु ग्रहण इसलिये है कि प्रातिपदिक का नियम न हो जावे, तन्निमित्त ग्रहण इसलिये है कि ओयते, लौयमानिः। यहां यकारादि प्रत्ययनिमित्त एच् नहीं है ॥ १८३ ॥

२५६-क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥ १८४ ॥ ६ । १ । ८१ ॥

यत् प्रत्यय परे हो तो शक्यार्थ में क्षि, जि धातुओं के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। क्षेतुं शक्यः क्षय्यः। जेतुं शक्यो जय्यः। शक्यार्थ इसलिये कहा है कि क्षेयं पापम्, इत्यादि में अय् नहीं होवे ॥ १८४ ॥

२५७-क्रय्यस्तदर्थे ॥ १८५ ॥ ६ । १ । ८२ ॥

क्रीधातु का अर्थ जो बेचने का है वह वाच्य हो और यत् प्रत्यय परे हो तो क्रीधातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। क्रय्यो गौः। क्रय्यः कम्बलः। तदर्थ इसलिये कहा है कि क्रेयं धान्यम्। यहां द्रव्यवाच्य विक्रेयार्थ में न होवे ॥ १८५ ॥

२५८-भय्यप्रवय्ये च छन्दसि ॥ १८६ ॥ ६ । १ । ८३ ॥

यत् प्रत्यय परे हो तो वेद विषय में भी और प्रपूर्वक वी धातु के एकार को अय् आदेश निपातन किया है। भय्यम्। प्रवय्या। यहां भय्य शब्द में अपादान में प्रत्यय है और प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में नियत है। वेद में इसलिये कहा है कि भेयम्। प्रवेयम्। यहां न हो ॥ १८६ ॥

२५९-वा०-ह्रदय्या आप उपसंख्यानम् ॥ १२७ ॥

जल अर्थ में ह्रद शब्द के एकार को यत् प्रत्यय के परे अय् आदेश हो। ह्रदय्या आपः ॥ १८७ ॥

इति स्वरसन्धिः ॥

अथ हल्स्वरसन्धिः ॥

२६०—चोः कुः ॥ १८८ ॥ ८ । २ । ३० ॥

पदान्त में वर्त्तमान चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश हो जाता है और झल् परे हो तो भी। इससे परे वाच् आदि चकारान्त शब्दों को ककारादेश हो जाता है। जैसे-वाच् सु- वाच्, वाग् इत्यादि ॥ १८८ ॥

२६१—झलां जशोऽन्ते ॥ १८९ ॥ ८ । २ । ३९ ॥

पदान्त में झलों के स्थान में जश् आदेश हों । देखो जहां चकारान्त शब्दों को ककार होता है । उनसे उत्तरपद के आदि में स्वर हों तो ककार को गकार हो जाता है। जैसे-वाक्-अत्र, वागत्र। और चकार के अच्-अन्तः, अजन्तः। इत्यादि। यहां जकार हो जाता है। प्रष्ठवाह्, दित्यवाह्, तुरासाह्, इत्यादि हकारान्त शब्दों से परे स्वर हों तो इनको जश् आदेश हो जाता है। जैसे-प्रष्ठवाट्-इह, प्रष्ठवाडिह। षट्-अन्तः, षडन्तः। विट्-इह, विडिह। सम्राट्-अत्र, सम्राडत्र। विराट्-ईहते, विराडीहते । इत्यादि टकारान्त शब्दों के स्थान में डकारान्त हो जाते हैं। जो धकारान्त शब्दों से परे स्वर हो तो दकार हो जाता है। जैसे-समिध्-अत्र, समिदत्र। समिध्-आधानम्, समिदाधानम्। इत्यादि। जो तकारान्त शब्दों से परे अजादि उत्तरपद हों तो तकार को दकार हो जाता है। जैसे-विद्युत्-आपतनम्, विद्युदापतनम्। विद्युत्-इह, विद्युदिह। पकारान्त तथा भकारान्त शब्दों के अन्त में अजादि उत्तरपद परे हों तो बकार आदेश हो जाता है। जैसे-अप्-अयनम्, अबयनम्। तिप्-अन्तः, तिबन्तः। सुप्-अन्तः, सुबन्तः। इत्यादि। भकारान्त-अनुष्टुभ्-एव, अनुष्टुबेव। त्रिष्टुभ्-आदि। त्रिष्टुबादि। जो इन से भिन्न अन्य वर्णान्त पदान्त में शब्द आवेंगे तो उन में कुछ विशेष विकार न होगा, जैसे-झय्-आदि, झयादि। सम्-अवैति, समवैति। प्रातर्-अत्र, प्रातरत्र। पुनर्-इह, पुनरिह। इत्यादि ॥ १८९ ॥

इति हल्स्वरसन्धिः ॥

अथ हल्सन्धिः ॥

अब इसके आगे पदान्त अथवा अपदान्त नकार मकार वा अन्य वर्ण को जिस २ वर्ण के परे जो २ कार्य्य होते हैं उस २ को लिखते हैं ॥

२६२—मोऽनुस्वारः ॥ १६० ॥ ८ । ३ । २३ ॥

जो हल् परे हो तो पदान्त मकार को अनुस्वार होता है। जैसे-ग्रामम् याति, ग्रामं याति। यहां पदान्त की अनुवृत्ति इसलिये है कि गम्यते। यहां अनुस्वार न हुआ ॥ १६० ॥

२६३—नश्चाऽपदान्तस्य झलि ॥ १६१ ॥ ८ । ३ । २३ ॥

जो झल् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अर्थात् एक पद में नकार और मकार को अनुस्वार होता है। जैसे मीमान्—सते, मीमांसते। पुम्—सु, पुंसु। इत्यादि। इस विषय में यह समझना चाहिये कि श, ष, स, ह, इतने वर्णों के परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है परन्तु वैदिक प्रयोगों में श, ष, स, र, ह इन वर्णों के परे अनुस्वार को ꣳ आदेश होता है क्योंकि—रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति। महा० १ । १ । २। इस ज्ञापक से सवर्णादेश का निषेध होकर असवर्णादेश होता है। इसमें भी जो कुछ विशेष हो वह आगे लिखेंगे। झल् प्रत्याहार ग्रहण इसलिये है कि मन्यते। यहां न हुआ और झल् प्रत्याहार में बाकी जो वर्ण बचे हैं उनके परे अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार होके जो कुछ विकार होता है वह आगे लिखेंगे ॥ १६१ ॥

२६४—मो राजि समः क्वौ ॥ १६२ ॥ ८ । ३ । २५ ॥

क्विप् प्रत्ययान्त राज् धातु परे हो तो सम् उपसर्ग के मकार को मकार ही आदेश हो। जैसे—सम्—राट्, सम्राट्। साम्--राज्यम्, साम्राज्यम्। यहां सम् ग्रहण इसलिये है कि स्वयंराट्। इत्यादि में नहीं होता, क्विप् प्रत्ययान्तग्रहण इसलिये है कि संराजितव्यम्। संराजितुम्। यहां न हुआ ॥ १६२ ॥

२६५—हे मपरे वा ॥ १६३ ॥ ८ । ३ । २६ ॥

जिससे परे मकार हो ऐसे हकार के परे पदान्त मकार को अनुस्वार

विकल्प करके होता है । द्वितीय पक्ष में मकार ही बना रहता है । जैसे-किं ह्मलयति । किम्ह्मलयति । कथं ह्मलयति । कथम्ह्मलयति । इत्यादि । यहां मपर हकार का ग्रहण इसलिये है कि किं-हससि । इत्यादि में न हो ॥ १९३ ॥

२६६-वा०-यवलपरे यवला वा ॥ १९४ ॥

जिससे परे य, व, ल वर्ण हों ऐसा हकार परे हो तो पदान्त मकार को सानुनासिक य, व, ल विकल्प करके होते हैं । पक्ष में अनुस्वार हो जाता है । (य) किँय्ह्योऽभवत्, किंह्योभवत् । (व) किँव्ह्वलयति । किंह्वलयति । (ल) किँल्ह्लादयति । किंह्लादयति । इत्यादि । प्रत्युदाहरण-जैसे किं हृष्यसि । इत्यादि में न हुआ ॥ १९४ ॥

२६७-नपरे नः ॥ १९५ ॥ ८ । ३ । २७ ॥

जो हकार से परे नकार हो तो मकार को विकल्प करके नकार आदेश होता है । पक्ष में अनुस्वार होगा । जैसे-किन्ह्नुते । किंह्नुते । कथन्ह्नुते । कथंह्नुते । इत्यादि । नपर हकार इसलिये कहा है कि-किं हृदयं तेऽस्ति । यहां न हुआ । अब पदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो के जो २ विशेष होता है सो २ लिखते हैं ॥ १९५ ॥

२६८-अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥ १९६ । ७ । ४ । ५७ ॥

जो यय् प्रत्याहार परे हो तो अपदान्त अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होता है । इससे उत्तरसूत्र में पदान्तग्रहण के ज्ञापक से यह सूत्र अपदान्त के लिये है । जैसे-अं-कः, अङ्कः । अं-चनम्, अञ्चनम् । वं-टनम्, वण्टनम् । अं-तितः, अन्तितः । चं-डः, चण्डः । कं-पनम्, कम्पनम् । इत्यादि । परसवर्ण अर्थात् जिस वर्ग का अक्षर परे हो उसी वर्ग का अनुनासिक वर्ण अनुस्वार के स्थान में हो जाता है । जैसे-कवर्ग के परे पूर्व अनुस्वार के स्थान में ङकार ही होगा, इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये ॥ १९६ ॥

२६९-वा पदान्तस्य ॥ १९७ ॥ ८ । ४ । ५८ ॥

यय् प्रत्याहार के परे पदान्त अनुस्वार को पर का सवर्ण आदेश विकल्प करके होता है । जैसे-कटङ्करोति । कटं करोति । बालश्वेतयति । बालं चेत-

यति । ग्रामण्टीकते । ग्रामं टीकते । नदीन्तरति । नदीं तरति । प्रजाम्पिपर्त्ति । प्रजां पिपर्ति । सँय्यन्ता । संयन्ता । सँव्वत्सरः । संवत्सरः । यँल्लोकम् । यंलोकम् । इत्यादि ॥ इत्यनुस्वारप्रकरणम् ॥ १९७ ॥

२७०—तोर्लि ॥ १९८ ॥ ८ । ४ । ५९ ॥

लकार परे हो तो तवर्ग के स्थान में परसवर्ण हो जावे। जैसे अग्नि-चित् लुनाति, अग्निचिल्लुनाति । विद्युत्-लेलायते, विद्युल्लेलायते । भवान्-लक्षयति । भवाँल्लक्षयति । इत्यादि ॥ १९८ ॥

२७१—ङ्णोः कुक् टुक् शरि ॥ १९९ ॥ ८ । ३ । २८ ॥

शर् प्रत्याहार परे हो तो पदान्त ङकार णकार को विकल्प करके कुक् टुक् का आगम यथाक्रम से होता है । जैसे—उदङ्क्शेते । उदङ्शेते । उदङ्क्षष्ठः । उदङ्षष्ठः । उदङ्क्सुनोति । उदङ्सुनोति । प्रवण्ट्शेते । प्रवण्शेते । प्रवण्ट्ष्वष्कते । प्रवण्ष्वष्कते । प्रवण्ट्सरति । प्रवण्सरति । इत्यादि ॥ १९९ ॥

२७२—डः सि धुट् ॥ २०० ॥ ८ । ३ । २९ ॥

जो पदान्त डकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके धुट् का आगम होता है । जैसे—श्वलिट्त्सीयते । श्वलिट्सीयते । मधुलिट्त्सीयते । मधुलिट्सीयते । इत्यादि ॥ २०० ॥

२७३—नश्च ॥ २०१ ॥ ८ । ३ । ३० ॥

जो पदान्त नकार से परे सकारादि उत्तरपद हो तो उसको धुट् का आगम विकल्प करके होता है । भवान्त्सनोति । भवान् सनोति । इत्यादि ॥ २०१ ॥

२७४—शि तुक् ॥ २०२ ॥ ८ । ३ । ३१ ॥

जो पदान्त नकार से परे शकारादि उत्तरपद हो तो उसको विकल्प करके तुक् का आगम होता है । जैसे—भवाञ्च्छेते । भवाञ्छेते । इत्यादि ॥ २०२ ॥

२७५—ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम् ॥ २०३ ॥ ८ । ३ । ३२ ॥

ह्रस्व से परे जो पदान्त ङम् प्रत्याहार उससे परे अजादि उत्तरपद को

नित्य ही ङमुट् का आगम होता है। अर्थात् ङकार से ङुट्, णकार से णुट्, नकार से परे नुट् का आगम होता है। जैसे-तिङ्-अतिङः, तिङ्ङतिङः। अदङ्ङास्ते। प्रवण्णास्ते प्रवण्ण्वाचत्। कुर्वन्नास्ते। तस्मिन्-इति, तस्मिन्निति। इत्यादि ॥ २०३ ॥

२७६-मय उञो वो वा ॥ २०४ ॥ ८ । ३ । ३३ ॥

जो मय् प्रत्याहार से परे उञ् अव्यय उसको अजादि उत्तरपद परे हो तो विकल्प करके वकार आदेश होता है । जैसे-शम्-उ-अस्तु, शम्वस्तु । तद्-उ-अस्य, तद्वस्य । किम्-उ-आवपनम् । किम्वावपनम् । इत्यादि । अब इस के आगे तुक् का आगम लिखते हैं ॥ २०४ ॥

३७७-ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥ २०५ ॥ ६ । १ । ७१ ॥

पूर्व ह्रस्व को तुक् का आगम होता है जो पित् कृत् परे हो तो । पुण्यकृत् । अग्निचित् । इत्यादि ॥ २०५ ॥

२७८-संहितायाम् ॥ २०६ ॥ ६ । १ । ७२ ॥

यह अधिकार सूत्र है इसके आगे जो २ कहेंगे सो २ संहिता विषय में समझना ॥ २०६ ॥

२७९-छे च ॥ २०७ ॥ ६ । १ । ७३ ॥

जो ह्रस्व से परे छकारादि उत्तरपद हो तो पदान्त और अपदान्त में भी उसको तुक् का आगम होता है । जैसे-इ-छति, इच्छति। गच्छति। स्वच्छन्दः। देवदत्तच्छत्रम् । इत्यादि ॥ २०७ ॥

२८०-आङ्माङोश्च ॥ २०८ ॥ ६ । १ । ७४ ॥

जो आङ् और माङ् से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है। ईषदर्थ, क्रियायोग, मर्य्यादा, अभिविधि इन अर्थों में आकार ङित् आता है। ईषदर्थ-आ-छाया । आच्छाया । क्रियायोग-आ-छादनम्, आच्छादनम्। मर्य्यादा-आ-छायायाः। आच्छायायाः। अभिविधि-आ-छायम्। आच्छायम्। मा-छैत्सीत्, माच्छैत्सीत्। माच्छिदत् । इत्यादि ॥ २०८ ॥

२८१—दीर्घात् ॥ २०९ ॥ ६ । १ । ७५ ॥

जो अपदान्त अर्थात् एकपद में दीर्घ से परे छकार हो तो उसको तुक् का आगम होता है । जैसे—ह्री—छति । ह्रीच्छति । म्लेच्छति । इत्यादि ॥ २०९ ॥

२८२—पदान्ताद्वा ॥ २१० ॥ ६ । १ । ७६ ॥

जो पदान्त दीर्घ से परे छकारादि उत्तरपद हो तो उसको तुक् का आगम विकल्प करके होता है । जैसे—गायत्री—छन्दः, गायत्रीच्छन्दः । इत्यादि ॥ २१० ॥

२८३—वा०—विश्वजनादीनां छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ २११ ॥

विश्वजन आदि शब्दों से परे छकार को विकल्प करके तुक् का आगम होता है । पूर्व (छे च) इस सूत्र से ह्रस्व से परे नित्य तुक् प्राप्त था उसका विकल्प यह समझना चाहिये । जैसे विश्वजन—छत्रम्, विश्वजनच्छत्रम् । तुक् प्रकरण पूरा हुआ ॥ २११ ॥

२८४—स्तोः श्चुना श्चुः ॥ २१२ ॥ ८ । ४ । ३९ ॥

सकार और तवर्ग को शकार और चवर्ग के साथ क्रम से शकार और चवर्ग होते हैं । जैसे—विष्णुमित्रस्—शोभते । विष्णुमित्रश्शोभते । सकार का चवर्ग के साथ, जैसे—देवदत्तस्—चलति, देवदत्तश्चलति । इत्यादि तवर्ग का शकार के साथ, जैसे—अग्निचित्—शेते, अग्निचिच्छेते । इत्यादि । तवर्ग का चवर्ग के साथ, अग्निचित्—छादयति, अग्निचिच्छादयति । इत्यादि अनेक उदाहरण हैं ॥ २१२ ॥

२८५—ष्टुना ष्टुः ॥ २१३ ॥ ८ । ४ । ४० ॥

सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग के साथ षकार और टवर्ग होते हैं । जैसे—पुरुषस्—षष्ठः, पुरुषष्षष्ठः । इत्यादि । पुरुषस्—टीकते । पुरुषष्टीकते । इत्यादि । टवर्ग का सकार के साथ, शूद्रस्—टलति । शूद्रष्टलति । इत्यादि । तवर्ग का टवर्ग के साथ, योषित्—टलति । योषिट्टलति । इत्यादि ॥ २१३ ॥

२८६—न पदान्ताट्टोरनाम् ॥ २१४ ॥ ८ । ४ । ४१ ॥

अनाम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के पदान्त टवर्ग से उत्तर सकार

और तवर्ग को षकार और टवर्ग आदेश न हों। जैसे-षट्-सन्ति। मधुलिट्-सरति। इत्यादि। जो सूत्रकार ने आम् अर्थात् षष्ठी के बहुवचन को छोड़ के ष्टुत्व का निषेध किया है उसी में वार्त्तिककार कहते हैं कि ॥ २१४ ॥

२८७-वा०-अनाम् नवतिनगरीणामिति वाच्यम् ॥ २१५ ॥

नाम् के निषेध के साथ नवति और नगरी शब्द का भी निषेध कहना चाहिये, जैसे-षट्-नाम्, षण्णाम्। षट्-नवतिः, षण्णवतिः। षट्-नगर्य्यः, षण्णगर्यः। इत्यादि। सूत्र में पदान्तग्रहण इसलिये है कि ईड् ते, ईट्टे। यहां टवर्ग आदेश का निषेध न हुआ। टवर्ग से परे इसलिये है कि निष्-तमम्, निष्टमम्। सर्पिष्-तमम्, सर्पिष्टमम्। यहां ष्टुत्व हो ही गया ॥ २१५ ॥

२८८-तोःषि ॥ २१६ ॥ ८। ४। ४२ ॥

षकार के योग में तवर्ग आदेश न हो। जैसे-योषित् षण्ढः, योषित्-षण्ढः। इत्यादि ॥ २१६ ॥

२८९-शात् ॥ २१७ ॥ ८। ४। ४३ ॥

शकार से परे तवर्ग को चवर्ग आदेश न हो। जैसे-विश्नः। प्रश्नः। यहां ञकार न हुआ ॥ २१७ ॥

२९०-यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥ २१८ ॥ ८। ४। ४४ ॥

जो अनुनासिकादि उत्तरपद परे हो तो पदान्त यर् को अनुनासिक आदेश विकल्प करके होता है। जैसे-वाक्-नमति, वाङ्नमति। वाग्नमति। जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं हुआ वहां पदान्त में जश् आदेश होता है। त्रिष्टुभ्-नाम, त्रिष्टुब्नाम। यहां पदान्तग्रहण इसलिये है कि दभ्नोति। क्षुभ्नाति। रुक्मम्। इत्यादि उदाहरणों में नहीं होता ॥ २१८ ॥

२९१-वा०-यरोऽनुनासिके प्रत्यये भाषायां नित्यं वचनम् ॥ २१९ ॥

अनुनासिकादि प्रत्यय परे हों तो यर् को अनुनासिक नित्य ही होता है, भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोग विषय में। जैसे प्राङ्मयम्। चिन्मयम्। इत्यादि।

यहां भाषाग्रहण इसलिये है कि वेद में पूर्ववत् दो ही प्रयोग हों । जैसे—वाङ्मयम् । वाग्मयम् । इत्यादि ॥ २१६ ॥

२६२—अचो रहाभ्यां द्वे ॥ २२० ॥ ८ । ४ । ४५ ॥

अपदान्त में अच् से उत्तर जो रेफ हकार और उनसे उत्तर यर् हों तो उन को विकल्प करके द्वित्व होता है । जैसे—कार—यम् । कार्य्यम् । कार्यम् । हर्य्यनुभवः । हर्यनुभवः । ब्रह्म्म । ब्रह्म । अपह्नुतिः । अपह्नुतिः । इत्यादि । यहां अच् से परे इसलिये कहा है कि रातिर्ह्लयति । इत्यादि । यहां द्विर्वचन न हुआ ॥ २२० ॥

२६३—अनचि च ॥ २२१ ॥ ८ । ४ । ४६ ॥

जो अच् से परे और हल् के पूर्व यर् प्रत्याहार हो उसको विकल्प करके द्वित्व होता है । जैसे—दधि अत्र—दद्ध्यत्र । दध्यत्र । इत्यादि, यहां द्वित्व होकर (३०५) सूत्र से पूर्व धकार को दकार होगया । अच ग्रहण इसलिये है कि स्मितम् । स्तुतम् । इत्यादि में न हो ॥ २२१ ॥

२६४—वा०—द्विर्वचने यणो मयः ॥ २२२ ॥

इस वार्त्तिक के दो अर्थ हैं, एक तो यण् से परे मय् को द्वित्व होता है और दूसरा मय् से परे यण् को द्वित्व हो । जहां यण् से परे मय् को द्वित्व होता है वहां उल्क्का । वलम्म्मीकम् । इत्यादि उदाहरण बनते हैं । और जहां मय् से परे यण् को द्वित्व होता है वहां दध्ध्यत्र । मध्ध्वत्र । इत्यादि उदाहरण बनते हैं ॥ २२२ ॥

२६५—वा०—शरः खयः ॥ २२३ ॥

इस वार्त्तिक में भी दो मत हैं, एक तो शर् से परे खय् को द्विर्वचन होता है और दूसरा खय् से परे शर् को द्विर्वचन हो । जैसे—स्त्थाली । स्त्थाता । सप्फोटः । स्त्तोतः । श्च्योतति । और संवत्स्सरः । क्ष्षीरम् । अप्सराः । इत्यादि ॥ २२३ ॥

२६६—वा०—अवसाने च ॥ २२४ ॥

जो अवसान में यर् हैं उनको विकल्प करके द्विर्वचन होता है । जैसे—वाक्क् । वाक् । इत्यादि ॥ २२४ ॥

२९७—नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥ २२५ ॥ ८ । ४ । ४७ ॥

जो आक्रोश अर्थ में आदिनी शब्द परे हो तो पुत्र शब्द के तकार को द्विर्वचन न हो । यह (अनचि च) इस सूत्र का अपवाद है । जैसे-पुत्र-आदिनी, पुत्रादिनी । आक्रोशग्रहण इसलिये है कि पुत्त्रादिनी सर्प्पिणी । यहां हो गया ॥ २२५ ॥

२९८—वा०—तत्परे च ॥ २२६ ॥

पुत्र शब्द से परे पुत्र शब्द हो तो भी उसको द्विर्वचन न हो । जैसे-पुत्र-पुत्रादिनी ॥ २२६ ॥

२९९—वा०—हतजग्धयोः ॥ २२७ ॥

जो पुत्र शब्द से परे हत और जग्ध शब्द हों तो उसको विकल्प करके द्विर्वचन होता है । जैसे-पुत्त्रहती । पुत्रहती । पुत्त्रजग्धी । पुत्त्रजग्धी । इत्यादि ॥ २२७ ॥

३००—वा०—चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः ॥ २२८ ॥

जो शर् प्रत्याहार के परे चय् प्रत्याहार हो तो उसके स्थान में वर्गों के द्वितीयवर्ण आदेश हो जाते हैं । यह पौष्करसादि आचार्य्य का मत है क्शाता । ख्शाता । वत्सरः । वथ्सरः । अप्सराः । अफ्सराः । इत्यादि ॥ २२८ ॥

३०१—शरोऽचि ॥ २२९ ॥ ८ । ४ । ४८ ॥

जो अच् परे हो तो शर् प्रत्याहार को द्विर्वचन न हो । दर्शनम् । कर्षति । इत्यादि । यहां अच्ग्रहण इसलिये है कि दर्श्श्यते । इत्यादि में निषेध न हो ॥ २२९ ॥

३०२—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥ २३० ॥ ८ । ४ । ४९ ॥

जहां तीन आदि वर्ण इकट्ठे हों वहां शाकटायन आचार्य्य के मत से द्विर्वचन न हो जैसे-इन्द्रः । चन्द्रः । उष्ट्रः । राष्ट्रम् । इत्यादि ॥ २३० ॥

३०३—सर्वत्र शाकल्यस्य ॥ २३१ ॥ ८ । ४ । ५० ॥

जहां २ द्विर्वचन कह आये हैं वहां २ शाकल्य आचार्य्य के मत से न होना चाहिये । जैसे-अर्कः । ब्रह्मा । दध्यत्र । मध्वत्र । इत्यादि ॥ २३१ ॥

३०४–दीर्घादाचार्याणाम् ॥ २३२ ॥ ८ । ४ । ५१ ॥

सब आचार्यों के मत से दीर्घ से परे यर् को द्विर्वचन न होना चाहिये। जैसे–दात्रम् । पात्रम् । स्तोत्रम् । इत्यादि ॥ २३२ ॥

३०५–झलाञ्जश् झशि ॥ २३३ ॥ ८ । ४ । ५२ ॥

जो झश् प्रत्याहार परे हो तो झलों के स्थान में जश् आदेश होता है। जैसे लभ्–धा, लब्धा । दोघ्–धा, दोग्धा । दद्ध्यत्र । इत्यादि । यहां झश् ग्रहण इसलिये है कि दत्तः । आत्थ । इत्यादिकों में न हो ॥ २३३ ॥

३०६–खरि च ॥ २३४ ॥ ८ । ४ । ५४ ॥

जो खर् प्रत्याहार परे हो तो झलों को चर् आदेश हों । जैसे–भेद्ता–भेत्ता । लिभ्–सा, लिप्सा । युयुध्–सते, युयुत्सते । इत्यादि ॥ २३४ ॥

३०७–उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥ २३५ ॥ ८ । ४ । ६० ॥

उद् से परे स्था और स्तम्भ धातु के सकार के स्थान में पूर्व का सवर्ण आदेश होता है । जैसे उद्–स्थानम् । यहां एक थकार को पूर्व सूत्र से तकार हो जाता है । उत्थाता । उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उद्–स्तम्भनम् । उत्तम्भनम् । उत्तम्भिता । उत्तम्भितुम् । उत्तम्भितव्यम् । इत्यादि । स्था स्तम्भ का ग्रहण इसलिये है कि उद्–स्कभ्नोति । उत्स्कभ्नोति । इत्यादि में न हुआ ॥ २३५ ॥

३०८–वा०–उदः पूर्वत्वे स्कन्देश्छन्दस्युपसंख्यानम् ॥ २३६ ॥

वैदिक प्रयोगों में उद् उपसर्ग से परे स्कन्द धातु को पूर्वसवर्ण आदेश हो । जैसे–अघ्न्येदूरमुत्कन्दः । यहां उद्–स्कन्दः । सकार को पूर्वसवर्ण तकार होकर उत्कन्दः । ऐसा होता है ॥ २३६ ॥

३०९–वा०–रोगे चेति वक्तव्यम् ॥ २३७ ॥

रोग अर्थ में भी स्कन्द को पूर्व सवर्ण आदेश हो जावे । जैसे–उत्कन्दो रोगः ॥ २३७ ॥

३१०–झयो होऽन्यतरस्याम् ॥ २३८ ॥ ८ । ४ । ६१ ॥

झय प्रत्याहार से परे हकार को पूर्वसवर्ण आदेश विकल्प करके होता

है। जैसे-कवर्ग से परे हो तो घकार। वाग्-हसति, वाग्घसति। टवर्ग से परे हो तो ढकार। लघड्-हन्ता, लघड्ढन्ता। तवर्ग से परे हो तो धकार। अग्निचित्-हसति, अग्निचिद्धसति। पवर्ग से परे हो तो भकार होता है। त्रिष्टुब्-हसति, त्रिष्टुब्भसति। इत्यादि। यहां झय् ग्रहण इसलिये है कि भवान्-हसति। इत्यादि में न हो ॥ २३८ ॥

३११-शश्छोऽटि ॥ २३९ ॥ ८ । ४ । ६२ ॥

जो झय् से परे और अट् प्रत्याहार के पूर्व शकार हो तो उसको छकार आदेश विकल्प करके होता है। जैसे वाक्-छेते। वाक्-शेते। मधुलिट्-छेते। मधुलिट्-शेते। त्रिष्टुप्-छेते। त्रिष्टुप्-शेते, इत्यादि ॥ २३९ ॥

३१२-वा०-छत्वममीति वक्तव्यम् ॥ २४० ॥

जो अम् प्रत्याहार परे हो तो भी झय् से परे शकार को छकार आदेश होता है। जैसे-तत्-श्लोकेन, तच्छ्लोकेन। तत्-श्मश्रु। तच्छ्मश्रु। इत्यादि ॥ २४० ॥

३१३-हलो यमां यमि लोपः ॥ २४१ ॥ ८ । ४ । ६३ ॥

हल् से परे यम् का लोप विकल्प करके होता है जो यम् परे हो तो। जैसे-शय्य्या। यहां तीन यकार हैं इनमें से मध्यस्थ यकार का लोप होकर शय्या। दध्य्यत्र यहां भी वैकल्पिक लोप होकर दध्यत्र। इत्यादि। हल्ग्रहण इसलिये है कि वित्तम्। यहां न हुआ। यम् का लोप इसलिये कहा है कि अग्निः। यहां लोप न हुआ। और यम् परे इसलिये है कि शार्ङ्गम्। यहां न हुआ ॥ २४१ ॥

३१४-झरो झरि सवर्णे ॥ २४२ ॥ ८ । ४ । ६४ ॥

जो सवर्णी झर् परे हो तो हल् से परे झर् का लोप विकल्प करके होता है। जैसे-प्रतत्त्तम्। अवतत्त्तम्। यहां चार तकार होते हैं। तीन तो प्रथम ही हैं और एक पीछे द्विर्वचन होने से हो जाता है, उनमें से एक वा दो का लोप होकर प्रतत्तम्। प्रत्तम्। अवतत्तम्। अवत्तम्। उत्त्थानम्। यहां भी एक तकार का लोप विकल्प करके हो जाता है। उत्थानम्। इत्यादि ॥ २४२ ॥

इति हल्सन्धिः ॥

अथ अयोगवाहसन्धिः ॥

अब इसके आगे अयोगवाहसन्धि का प्रकरण लिखा जाता है ॥

३१५—स सजुषो रुः ॥ २४३ ॥ ८ । २ । ६६ ॥

जो पदान्त सकार और सजुष् शब्द का मूर्द्धन्य षकार है उसको रु आदेश होता है। पदान्त दो प्रकार का होता है एक तो अवसान में अर्थात् जिससे आगे कोई पद वा अक्षर न हो और दूसरा उत्तरपद के पर भी पदान्त कहाता है। इसमें से अवसान में सकार को रु होता है उसका विषय नामिक पुस्तक में आवेगा। और यह अयोगवाह प्रकरण है यहां शब्दों की मिलावट दिखलाई जाती है। यह रु आदेश सब दन्त्य सकारान्त शब्दों को होता है इसलिये सजुष् शब्द के मूर्द्धन्य षकार को रु विधान किया है। पदान्त सकार भी दो प्रकार का होता है। एक स्वरान्त शब्दों से विभक्ति का सकार और दूसरा जो प्रथम से ही सकारान्त होते हैं, विभक्ति से सकारान्त जैसे—पुरुष सु। इत्यादि। प्रथम से सकारान्त, जैसे—मनस्, पयस्, धनुष्, हविष्, इत्यादि। अब इस पदान्त सकार को रु आदेश होकर पीछे क्या २ कार्य होता है सो क्रम से लिखते हैं ॥ २४३ ॥

३१६—एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥ २४४ ॥ ६ । १ । १३१ ॥

ककार और नञ्समास को छोड़ हल् प्रत्याहार परे हो तो एतत् और तत् शब्द के सु का लोप हो। जैसे—स—पठति। एष—गच्छति। इत्यादि। यहां ककार का निषेध इसलिये है कि एष को—गच्छति। सको—भूते। यहां न हुआ। नञ् समास में निषेध इसलिये है कि अनेषो—दधाति। असो—याति। इत्यादि में न हो। हल्ग्रहण इसलिये है कि एषस्—अत्र, एषोऽत्र। सस्—अत्र। सोऽत्र। यहां "सु" का लोप न हो ॥ २४४ ॥

३१७—स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥ २४५ ॥ ६ । १ । १३२ ॥

वैदिक प्रयोगों में हल् प्रत्याहार परे हो तो स्यद् शब्द के सु का लोप

बहुल करके हो। जैसे-"स्यतेद्युमां इन्द्रसोमः" बहुलग्रहण से यहां नहीं भी होता। "यत्रस्यो निपतेत्" यहां छन्दसि इसलिये कहा है कि लोक में न हो। स्यो हसति। स्यो धावति। इत्यादि ॥ २४५ ॥

३१८—सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ॥ २४६ ॥ ६। १। १३३ ॥

जो अजादि उत्तरपद परे हो तो तद् शब्द के पदान्त सकार का लोप होता है परन्तु लोप होने से छन्दों के पाद की पूर्ति होती हो तो। जैसे-"सेमन्नो अध्वरं यज" यहां जब सस्-इमम्। पद के परे लोप नहीं पाया था सो लोप होकर गुण एकादेश हो गया तब "सेमम्" ऐसा हुआ जो न होता तो नव अक्षरों के होने से पाद भी पूर्ण नहीं होता। लोक में सैष शूद्रो महाबली। यहां भी "सस्, एषस्" इस अवस्था में विभक्ति के सकार का लोप होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है। यहां पादपूरण इसलिये है कि "स इव व्याघ्रो भवेत्" अब इन दो सूत्रों से जहां सकार का लोप नहीं होता वहां स्वरादि उत्तरपदों के परे रु को क्या २ होता है सो क्रम से लिखते हैं ॥ २४६ ॥

३१९—अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥ २४७ ॥ ६। १। ११२ ॥

जो अप्लुत ह्रस्व अकार से अप्लुत अकार परे हो तो रु के स्थान में उकार आदेश होता है। जैसे-पुरुषर्-अत्र, पुरुषोऽत्र। मनर्-अर्प्पय, मनोऽर्पय। इत्यादि अप्लुत से परे इसलिये है कि "सुश्रोता ३ अत्र त्वमसि" यहां उत्वादेश न हो। अप्लुत परे हो इसलिये है कि "तिष्ठतु पय आ३ग्निदत्त" यहां न हो। अब जहां अवर्णान्त वा अन्य स्वरान्त शब्दों से परे (रु) हो और उत्तरपद में अश् प्रत्याहार तो क्या होना चाहिये इस विषय में लिखते हैं ॥ २४७ ॥

३२०—भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥ २४८ ॥ ८। ३। १७ ॥

जो भोस्, भगोस्, अघोस् और अवर्ण पूर्वक रु से परे अश् प्रत्याहार हो तो रु के स्थान में (य्) आदेश हो जाता है। जैसे-भोय्-अत्र, भो अत्र। भगोय्-इह, भगो इह। अघोय्-उत्तिष्ठ, अघो उत्तिष्ठ। अकार से परे आकार के पूर्व। पुरुष य्-आगच्छति, पुरुष आगच्छति। आकार से परे आकार के पूर्व। ब्राह्मणा य्-अविदुः, ब्राह्मणा अविदुः। अब जो रु के स्थान में (य्)

आदेश हुआ है इसका क्या होना चाहिये सो लिखते हैं ॥ २४८ ॥

३२१–व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥ २४६ ॥ ८ । ३ । १८ ॥

जो अवर्ण से परे यकार वकार है उसको लघुप्रयत्नतर आदेश हो शाकटायन आचार्य्य के मत में। जिसके उच्चारण में बहुत थोड़ा बल पड़े वह लघुप्रयत्नतर कहाता है। (एचोऽयवायावः) इस उक्त सूत्र से पदान्त में जो अय् आदि आदेश होते हैं वे तथा जो पूर्व सूत्र से रु के स्थान में यकारादेश होता है उन सब यकार वकारों का यहां ग्रहण है। पुरुषयागच्छति। पुरुषयिह। ब्राह्मणाय विदुः। इत्यादि। अय् आदेश। के आसते, कयासते। वायो आयाहि, वायवायाहि। श्रियै उद्यतः, श्रियायुद्यतः। असौ आदित्यः, असाव्वादित्यः। जो यह लघुप्रयत्नतर आदेश होता है सो उदाहरणों में बहुत कम आता है अब जहां लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता वहां क्या होता है सो दिखलाते हैं ॥ २३६ ॥

३२२–लोपः शाकल्यस्य ॥ २५० ॥ ८ । ३ । १९ ॥

जो अवर्ण से परे और अश् प्रत्याहार के पूर्व पदान्त यकार वकार हो तो उनका विकल्प करके लोप होता है शाकल्य आचार्य्य के मत में। जैसे पुरुषय्–आगच्छति। पुरुष आगच्छति। पुरुषयागच्छति। ब्राह्मणाय्–अविदुः, ब्राह्मणा अविदुः। ब्राह्मणायविदुः। कय्–आसते। क आस्ते। कयासते। गृहय्–आसते। गृह आसते। गृहयासते। वायव्–आयाहि। वाय आयाहि। वायवायाहि। पादाव्– उच्येते। पादा उच्येते। पादावुच्येते। हरय्–एहि। हर एहि। हरयेहि। विष्णव्–इह। विष्ण इह। विष्णविह। इत्यादि ॥ २५० ॥

३२३–ओतो गार्ग्यस्य ॥ २५१ ॥ ८ । ३ । २० ॥

जो अश् प्रत्याहार परे हो तो ओकार से परे रु को य् होता है उसका नित्य ही लोप होवे। गार्ग्य का ग्रहण पूजार्थ है। भोय्–अत्र=भो अत्र। भगोय्–इह=भगो इह। अघोय्–इह=अघो इह ॥ २५१ ॥

३२४–उञि च पदे ॥ २५२ ॥ ८ । ३ । २१ ॥

उञ् पद के परे अवर्ण के आगे जो पदान्त यकार वकार हों तो उनका नित्य लोप हो जावे। जैसे–सयूउ प्राणस्य प्राणः=स उ प्राणस्य प्राणः। कयूउ

स्विञ्जायते पुनः=क उ स्विञ्जायते पुनः कय् उ सन्ति=क उ सन्ति । वायव् उ वाति=वाय उ वाति । श्रियाय् उ यतते=श्रिया उ यतते । इत्यादि ॥ २५२ ॥ सजुष् आदि शब्दों को रु विधान कर चुके हैं उस रेफान्त को पदान्त में दीर्घ आदेश हो जाता है । उससे उत्तरपद में जो स्वर होगा तो रेफ उस में मिल जावेगा । और जो हल् वर्ण आवेगा तो उस के ऊपर रेफ चढ़ जावेगा । स्वर में—सजूरत्र । सजूरिह । इत्यादि । परन्तु ऋकार के परे रेफ ऊपर ही चढ़ जाता है । सजूर्ऋषिः । वायुर्ऋच्छति । इत्यादि । अग्निर्-अत्र=अग्निरत्र । अग्निर् आनीयते=अग्निरानीयते । इत्यादि । जो अश् प्रत्याहार में स्वरों से भिन्न वर्ण रहें तो वहां क्या होना चाहिये सो लिखते हैं ॥ २५२ ॥

३२५—हशि च ॥ २५३ ॥ ६ । १ । ११३ ॥

ह्रस्व अकार से परे रु के रेफ को ऊकार आदेश होता है जो हश् प्रत्याहार परे हो तो । जैसे—पुरुष उ हसति । उकार के साथ गुण एकादेश होकर पुरुषो हसति । इत्यादि ॥ २५३ ॥

३२६—हलि सर्वेषाम् ॥ २५४ ॥ ८ । ३ । २२ ॥

हल् प्रत्याहार के परे भो, भगो, अघो और अवर्ण जिसके पूर्व हो उस यकार का लोप सब आचार्य्यों के मत से हो । भो य्—हसति=भो हसति । भगो य्—हसति=भगो हसति । अघो य्—हसति-अघो हसति । आकारान्त से-पुरुषा य्—हसन्ति=पुरुषा हसन्ति । बाला य्—नन्दन्ति=बाला नन्दन्ति । चन्द्रमा य्—वर्द्धते=चन्द्रमा वर्द्धते । इत्यादि । हश्मात्र में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । यहां हल्ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये है क्योंकि यहां हश् प्रत्याहार से ही प्रयोजन है, अब इकार आदि स्वरों से परे रु हो और हश् प्रत्याहार उत्तरपद में आवे तो रु का रेफ उत्तरवर्ण के ऊपर चढ़ जाता है । जैसे—सजूर्देवेन । सजूर्याति । अग्निर्दहति । वायुर्वाति । गौर्धावति । इत्यादि । शर् प्रत्याहार में रेफ भी आता है उसके परे क्या होना चाहिये सो लिखते हैं ॥ २५४ ॥

३२७—रो रि ॥ २५५ ॥ ८ । ३ । १४ ॥

जो रेफ के परे रेफ हो तो पूर्व रेफ का लोप होता है । जैसे—प्रातर्—रक्तम् । प्रात-रक्तम् । निर्—रक्तम्=नि-रक्तम् । गुरुर्—राजते गुरु-राजते । अब

लोप होकर क्या होना चाहिये सो लिखते हैं ॥ २५५ ॥

३२८—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥ २५६ ॥ ६ । ३ । १११ ॥

जहां रेफ ढकार का लोप हो वहां उस रेफ ढकार से पूर्व अण् को दीर्घ आदेश हो जावे। दीर्घ होकर भ्रातारक्कम् । नीरक्कम् । गुरू राजते । इत्यादि ॥ २५६ ॥

३२९—ढो ढे लोपः ॥ २५७ ॥ ८ । ३ । १३ ॥

ढकार के परे ढकार का लोप हो। जैसे—लिह—क्त—सु=लिढ्—ढम्=लिढम् । गुह—क्त—सु=गुढ्—ढम्=गुढम् । यहां ढकार के लोप में भी पूर्व अण् को दीर्घ होकर लीढम् । गूढम् । इत्यादि उदाहरण होते हैं। अब हलादि वर्णों में खर् प्रत्याहार के परे रु को क्या होना चाहिये सो लिखते हैं ॥ २५७॥

३३०—खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥ २५८ ॥ ८ । ३ । १५ ॥

खर् प्रत्याहार के परे और अवसान में रेफ के स्थान में विसर्जनीय आदेश होता है। जैसे नदी-जस्—स्रवन्ति=नद्यः स्रवन्ति । पुरुष—सु—शेते=पुरुषः शेते । इत्यादि । स्वाभाविक रेफ । गोः स्रवति । धूः सरति । खर् प्रत्याहार-मात्र में विसर्जनीय होकर क्या २ होता है सो आगे लिखते हैं ॥ २५८ ॥

३३१—विसर्जनीयस्य सः ॥ २५९ ॥ ८ । ३ । ३४ ॥

खर् प्रत्याहार अर्थात् छ, ठ, थ, च, ट, त इन छः वर्णों के परे विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। खर् प्रत्याहार में जो अन्य वर्ण रहें उनके परे दूसरा कार्य्य कहेंगे। पुरुषस्—चेतति=पुरुषश्चेतति । सजूस्—चेतति=सजूश्चेतति । सजूस्—छिनत्ति=सजूश्छिनत्ति । और वासस्—छादयति=वासश्छादयति । यहां विसर्जनीय को सकार होकर (२८४) सूत्र से श होता है । उक्तस्थकारः । पुरुषस्तरति । उक्तस्—टकारः=उक्तष्टकारः । उक्तस्—ठकारः=उक्तष्ठकारः (२८५) सूत्र से स को ष हो गया है ॥ २५९ ॥

३३२—शर्परे विसर्जनीयः ॥ २६० ॥ ८ । ३ । ३५ ॥

शर् जिससे परे हो ऐसा खर् प्रत्याहार परे हो तो पूर्व विसर्जनीय को विसर्ज्जनीय हो। जैसे—पुरुषः त्साम्यति । पुरुषः त्सरुः । इत्यादि ॥ २६० ॥

३३३—वा शरि ॥ २६१ ॥ ८ । ३ । ३६ ॥

शर् प्रत्याहार के परे विसर्जनीय को विकल्प करके विसर्जनीय आदेश हो। जैसे-पुरुषः-शेते, पुरुषश्शेते । कवयः-षट्, कवयष्षट् । धार्मिकाः-सन्तु, धार्मिकास्सन्तु । इत्यादि ॥ २६१ ॥

३३४—वा शर्प्रकरणे खर्परे लोपः ॥ २६२ ॥

जिससे परे खर् प्रत्याहार का वर्ण हो ऐसा जो शर् उसके पूर्व विसर्जनीय हो तो विकल्प करके लोप हो। जैसे-पुरुषाः ष्ठीवन्ति । पुरुषा ष्ठीवन्ति। वृक्षाः स्थातारः । वृक्षा स्थातारः । इत्यादि ॥ २६२ ॥

यहां खर्परक शर् प्रत्याहार में तीन २ प्रयोग बनेंगे । पुरुषाः ष्ठीवन्ति । पुरुषा ष्ठीवन्ति । पुरुषाष् ष्ठीवन्ति । इत्यादि । अब खर् प्रत्याहार में सब वर्णों के साथ विसर्जनीय की सन्धि तो दिखला दी परन्तु खर् प्रत्याहारस्थ क, ख, प, फ इन चार वर्णों के साथ विसर्जनीय को जो २ होता है सो दिखलाते हैं ॥

३३५—कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च ॥ २६३ ॥ ८ । ३ । ३७ ॥

कवर्ग पवर्ग अर्थात् क, ख, प, फ इन चार वर्णों के परे विसर्जनीय को विकल्प करके क्रम से जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश हों ॥

पुरुषᳲकरोति । पुरुषः करोति । बालᳲखिद्यते । बालः खिद्यते । पुरुषᳲपठति । पुरुषः पठति । बालᳲफणति । बालः फणति । इत्यादि । जिस पक्ष में जिह्वामूलीय उपध्मानीय आदेश नहीं होते उस पक्ष में विसर्जनीय ही रहते हैं ॥ २६३ ॥

३३६—सोऽपदादौ ॥ २६४ । ८ । ३ । ३८ ॥

जो अपदादि अर्थात् एक पद में कवर्ग पवर्ग परे हों तो विसर्जनीय के स्थान में सकार आदेश हो जाता है । जैसे यशः-कल्पम्=यशस्कल्पम् । पयः-कल्पम्=पयस्कल्पम् । अयः-पाशम्=अयस्पाशम् । अन्धः-पाशम्=अन्धस्पाशम् । इत्यादि । यहां कल्पप्, पाशप् प्रत्ययों के परे रु के विसर्जनीय को सकार हुआ है । यहां से आगे २ जो पूर्व सूत्र से जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदेश होते हैं उन्हीं के अपवाद सब सूत्र समझना ॥ २६४ ॥

३३७–वा०–सोऽपदादावनव्ययस्य ॥ २६५ ॥

जो अपदादि कवर्ग पवर्ग में विसर्जनीय को सकारादेश कहा है वह अ-व्यय के विसर्जनीय को न हो। जैसे–प्रातः कल्पम्। पुनः कल्पम्। इत्यादि॥२६५॥

३३८–वा०–रोः काम्ये नियमार्थम् ॥ २६६ ॥

जहां काम्यच् प्रत्यय के परे विसर्जनीय को सकारादेश होता है वहां रु के रेफ का विसर्जनीय हो तो सकारादेश न हो। जैसे–गीः काम्यति। पूः काम्यति ॥ २६६ ॥

३३९–इणः षः ॥ २६७ ॥ ८ । ३ । ३९ ॥

इण् प्रत्याहार से उत्तर जो विसर्जनीय उसको मूर्द्धन्य षकार आदेश हो। अपदादि कवर्ग पवर्ग परे हों तो। जैसे—हविष्काम्यति। सजूष्कल्पम्। दोष्कल्पम्। हविष्पाशम्। दोष्पाशम्। यहां अपदादि की अनुवृत्ति करने का यह प्रयोजन है कि गुरुः कारयति। गुरुः पाठयति। यहां सकारादेश न हो। कवर्ग पवर्ग की अनुवृत्ति इसलिये आती है कि सर्पिस्ते। धनुस्ते। यहां मूर्द्धन्य न हो। अब यहां से आगे अवर्ण से परे विसर्जनीय को सकार और इण् प्रत्याहार से परे उसको मूर्द्धन्य आदेश सब सूत्रों में कहेंगे ऐसा अधिकार समझना ॥ २६७ ॥

३४०–नमस्पुरसोर्गत्योः ॥ २६८ ॥ ८ । ३ । ४० ॥

जो कवर्ग और पवर्ग परे हों तो गतिसंज्ञक नमस् और पुरस् शब्दों के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। नमः–कर्त्ता=नमस्कर्ता। नमः–कृत्य=नमस्कृत्य। पुरस्कर्ता। पुरस्कृत्य। इत्यादि ॥ २६८ ॥

३४१–इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य ॥ २६९ ॥ ८।३।४१ ॥

इकार वा उकार जिसकी उपधा में हैं उस प्रत्ययभिन्न शब्द के विसर्जनीय को षकार होता है। जैसे, निर्–कृतम्=निष्कृतम्। निर्–पीतम्=निष्पीतम्। दुर्—कृतम्=दुष्कृतम्। दुर्–पीतम्=दुष्पीतम्। आविस्–कृतम्=आविष्कृतम्। प्रादुस्—कृतम्=प्रादुष्कृतम्। इत्यादि। यहां अप्रत्यय ग्रहण इसलिये है कि वायुः पाति। यहां षकार आदेश न हो ॥ २६९ ॥

३४२–वा०–पुम्मुहुसोः प्रतिषेधः ॥ २७० ॥

पुम् और मुहुस् इन शब्दों में भी अप्रत्यय के विसर्जनीय हैं यहां इस उक्त सूत्र से विसर्जनीय को षकाराऽऽदेश न हो। जैसे–पुंस्कामः । मुहुःकामः। यहां विसर्जनीय को षकार न हो ॥ २७० ॥

३४३–तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥ २७१ ॥ ८ । ३ । ४२ ॥

गतिसंज्ञक तिरस् शब्द के जो विसर्जनीय उनको कवर्ग पवर्ग के परे सकारादेश विकल्प कर के होता है। पक्ष में विसर्जनीय रह जावेंगे। तिरस्कृतम् । तिरःकृतम् । तिरस्कर्त्ता । तिरःकर्त्ता । तिरःकृत्य । तिरस्कृत्य । तिरष्पिबति । तिरःपिबति। गतिग्रहण इसलिये है कि तिरः कृत्वा। यहां सकारादेश न हो ॥ २७१ ॥

३४४–द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥ २७२ ॥ ८ । ३ । ४३ ॥

कृत्वसुच् प्रत्यय के अर्थ में वर्त्तमान जो द्वि, त्रि और चतुर् शब्द इनके विसर्जनीय को षकार आदेश विकल्प करके हो कवर्ग पवर्ग परे हो तो। द्विष्करोति । द्विःकरोति । त्रिष्करोति । त्रिःकरोति । चतुष्करोति । चतुःकरोति । द्विष्पठति । द्विःपठति । त्रिष्पठति । त्रिःपठति । चतुष्पठति । चतुःपठति । इत्यादि । यहां कृत्वोऽर्थग्रहण इसलिये हैं कि चतुष्कपालम् । चतुष्कण्टम् । चतुष्पथम् । इत्यादि में विकल्प न हो ॥ २७२ ॥

३४५–इसुसोः सामर्थ्ये ॥ २७३ ॥ ८ । ३ । ४४ ॥

(यहां विकल्प की अनुवृत्ति आती है) जो सामर्थ्य विदित होता हो तो कवर्ग पवर्ग के परे विकल्प करके इस् उस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को षकारादेश होता है । जैसे–हविष्करोति । हविः करोति । सर्पिष्करोति । सर्पिः करोति । ज्योतिष्पश्यति । ज्योतिः पश्यति । यजुष्पठति । यजुः पठति । इत्यादि । यहां सामर्थ्यग्रहण इसलिये है कि तिष्ठतु सर्पिः करोतु बलमन्नम् । इत्यादिकों में सापेक्ष होने से षकारादेश न हुआ ॥ २७३ ॥

३४६–नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥ २७४ ॥ ८ । ३ । ४५ ॥

जो कवर्ग पवर्ग के परे समास में अनुत्तरपदस्थ अर्थात् उत्तरपद में इस्

उस् न हों तो उन इस् उस् प्रत्ययान्त शब्दों के विसर्जनीय को नित्य षकार आदेश हो जावे। जैसे—सर्पिष्कुण्डिका। सर्पिष्पात्रम्। धनुष्करः। इत्यादि। यहां अनुत्तरपदस्थग्रहण इसलिये है कि सुसर्पिः पानम्। सुसर्पिः कुण्डिका। इत्यादि में षकारादेश नहीं हुआ ॥ २७४ ॥

३४७—अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ॥ २७५ ॥ ८। ३। ४६ ॥

जो अकार से परे अव्यय को छोड़कर अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय को कृ और कमि धातु तथा कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी शब्द परे हों तो सकार आदेश हो। जैसे—अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। पयस्कुम्भः। पयस्कुम्भी। यहां स्त्रीलिंग में भी होता है। पयस्पात्रम्। अयस्कुशा। अयस्कर्णी। यहां अकार से परे ग्रहण इसलिये है कि गीःकारः। पूःकारः। यहां सकार न हो। तपरकरण इसलिये पढ़ा है कि भाःकामः। यहां न हो। और अव्यय का निषेध इसलिये है कि अन्तःकरणम्। प्रातःकालः। पुनः करोतु। समास इसलिये है कि यशः करोति। यहां न हो। अनुत्तरपदस्थ इसलिये है कि सुवचः कामः। यहां न हो ॥ २७५ ॥

३४८—अधः शिरसी पदे ॥ २७६ ॥ ८। ३। ४७ ॥

जो समास में पद शब्द परे हो तो अधस् और शिरस् के अनुत्तर पदस्थ विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। अधस्पदम्। शिरस्पदम्। अधस्पदी। शिरस्पदी। यहां समासग्रहण इसलिये है कि अधःपदम्। यहां न हो। अनुत्तर पदस्थग्रहण इसलिये है कि परमशिरःपदम्। यहां सकारादेश न हुआ ॥ २७६ ॥

३४९—कस्कादिषु च ॥ २७७ ॥ ८। ३। ४८ ॥

जो २ शब्द कस्क आदि गण में पढ़े हैं उनके विसर्जनीय को यथालिखित सकार वा षकार आदि जानना चाहिये। यहां भी एक पद से परे विसर्जनीय और उत्तरपद में कवर्ग पवर्ग पर लिये जाते हैं, जैसे कः—कः। कस्कः। कौतस्कुतः। भ्रातुष्पुत्रः। शुनस्कर्णः। सद्यस्कालः। सद्यस्क्री। सद्यस्क्रः कांस्कान्। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालम्। बहिष्पूलम्। यजुष्पात्रम्। अयस्काण्डः। मेदस्पिण्डा। इति ॥ २७७ ॥

३५०—छन्दसि वा प्राम्रेडितयोः ॥२७८॥ ८ । ३ । ४९॥

जो प्र और आम्रेडित को छोड़ कर कवर्ग पवर्ग परे हों तो वेद में विकल्प करके विसर्जनीय को सकारादेश होता है जैसे अयः—पात्रम् । अयस्पात्रम् । यहां प्र और आम्रेडित का निषेध इसलिये है कि इन्द्राय सोमाः प्रदिवो दिवानाः । आम्रेडित । पुरुषः पुरुषः परि, इत्यादि सकारादेश न हुआ ॥ २७८ ॥

३५१—कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥ २७९ ॥ ८ । ३ । ५० ॥

कः, करत्, करति, कृधि, कृत, इनके परे वेदों में अदिति शब्द को छोड़ कर सब शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है । विश्वतस्करः । विश्वतस्करत् । यशस्करति । विश्वतस्कृधि । अधस्कृतम् । सहस्कृतम् । इत्यादि पूर्वसूत्र से सर्वत्र विकल्प करके प्राप्त था इसलिये यह सूत्र नियमार्थ किया है । यहां अदिति का निषेध इसलिये है कि यथा नो अदितिः करत् । यहां सकारादेश न हुआ ॥ २७९ ॥

३५२—पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥ २८० ॥ ८ । ३ । ५१ ॥

वेदों में जो अधि के अर्थ का परि उपसर्ग परे हो तो पंचमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है । जैसे—विश्वतस्परि । दिवस्परि । इत्यादि । यहां पंचमी का ग्रहण इसलिये है कि या गौः पर्य्येति । इत्यादि में नहीं होता । परि इसलिये है कि लोकेभ्यः प्रजापतिः समैरयत् । इत्यादि में न हो । अध्यर्थ इसलिये है कि दिवः पृथिव्याः पर्य्योज उद्धृतम् । इत्यादि में न हो ॥ २८० ॥

३५३—पातौ च बहुलम् ॥ २८१ । ८ । ३ । ५२ ॥

वेदों में पाति धातु के प्रयोग परे हों तो कहीं २ पंचमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है जैसे—दिवस्पातु । राज्ञस्पातु । वृकेभ्यस्पातु । इत्यादि । कहीं २ नहीं भी होता । परिषदः पातु । इत्यादि ॥ २८१ ॥

३५४—षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥ २८२ ॥ ८ । ३ । ५३ ॥

वेदों में जो पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस् और पोष परे हों तो षष्ठी के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है। जैसे-वाचस्पतिः। दिवस्पुत्राय सूर्य्याय। दिवस्पृष्ठे। पृथिव्यास्पृष्ठे। तमसस्पारम्। इडस्पदे समिध्यते। सूर्यचक्षुर्दिवस्पयः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तः। यहां षष्ठी ग्रहण इसलिये है कि मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्। यहां न हुआ ॥ २८२ ॥

३५५-इडाया वा ॥ २८३ ॥ ८ । ३ । ५४ ॥

जो वेदों में पूर्वसूत्रोक्त पति आदि शब्द परे हों तो इडा शब्द की षष्ठी के विसर्जनीय को विकल्प करके सकारादेश होता है। जैसे-इडायास्पतिः। इडायाः पतिः। इत्यादि ॥ २८३ ॥

३५६-अम्नरूधरवरित्युभयथाच्छन्दसि ॥ २८४ ॥ ८ । २ । ७० ॥

अम्नस्, ऊधस्, अवस् इन शब्दों के सकार को रु आदेश विकल्प करके होता है। जैसे-अम्नस्-एव, अम्नरेव। ऊधस्-एव, ऊधरेव। अवस्-एव, अवरेव। इत्यादि ॥ २८४ ॥

३५७-अहन् ॥ २८५ ॥ ८ । २ । ६८ ॥

अहन् शब्द को रु आदेश होता है। अहन्-भ्याम्, अहोभ्याम् ॥ २८५ ॥ इस सूत्र पर यह वार्त्तिक है:—

३५८-वा०-रुत्वविधावह्नोरूपरात्रिरथन्तरेषूपसंख्यानम् ॥ २८६ ॥

रुत्वविधि प्रकरण में रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे अहन् शब्द के नकार को रु आदेश होता है। जैसे अहन्-रूपम्, अहोरूपम्। अहन्-रात्रः, अहोरात्रः। अहन्-रथन्तरम्, अहोरथन्तरम् ॥ २८६ ॥

३५९-रोऽसुपि ॥ २८७ ॥ ८ । २ । ६९ ॥

जो सुप् से भिन्न कोई उत्तरपद परे हो तो अहन् शब्द के नकार को र्

आदेश होता है। इसमें यह विशेष है कि जहां रु होता है वहां उत्व भी होता है और जहां र् होता है वहां उत्व नहीं होता। जैसे, अहन्-ददाति, अहर्ददाति। अहन्-भुङ्क्ते, अहर्भुङ्क्ते। इत्यादि। और इस पर यह वार्त्तिक है ॥ २८७ ॥

३६०-वा०-अहरादीनां पत्यादिषु ॥ २८८ ॥

जो अहन् आदि शब्दों में रेफ होता है उस के स्थान में एक पक्ष में रेफ को रेफ ही हो जावे पति आदि शब्द परे हों तो। प्रयोजन यह है कि एक पक्ष में रेफ को विसर्जनीय और एक पक्ष में रेफादेश होता है। जैसे-अहर्पतिः। अहःपतिः। गीर्पतिः। गीःपतिः। अहर्कर्म्म। अहःकर्म्म। इत्यादि ॥ २८८ ॥

३६१-वा०-छन्दसि भाषायां च प्रचेतसो राजन्युपसंख्यानम् ॥ २८९ ॥

लौकिक और वैदिक प्रयोगों में प्रचेतस् शब्द के सकार को राजन्य शब्द के परे रु आदेश विकल्प करके होता है। पक्ष में रेफ आदेश होजावेगा। जैसे-प्रचेतस्-राजन्, प्रचेतोराजन्। और पूर्ववार्तिक से जो तीन शब्दों के परे र् विधान किया है वह नियमार्थ है कि अहर्-रम्यम्, अहोरम्यम्। यहां र् आदेश न हो ॥ २८९ ॥

३६२-वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहान्दः ॥ २९० ॥ ८। २। ७२ ॥

जो पदान्त और अवसान में वसुप्रत्ययान्त और स्रंसु ध्वंसु और अनडुह् शब्द हों तो उनको दकारादेश होता है। वसुप्रत्ययान्त-विद्वस्-आसनम्, विद्वदासनम्। सेदिवस्-आगमनम्। सेदिवदागमनम्। इत्यादि। उखास्रस्-अत्र, उखास्रदत्र। पर्णध्वस्-अत्र, पर्णध्वदत्र। इत्यादि। अनडुह्-इच्छा, अनडुदिच्छा। अनडुह्-उल्लंघनम्, अनडुदुल्लंघनम्। इत्यादि। अब जहां रु के पूर्व अच् को अनुनासिक होता है उस का प्रकरण लिखते हैं ॥ २९० ॥

३६३-अत्राऽनुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥ २९१ ॥ ८। ३। २ ॥

(यह सूत्र अधिकार के लिये है) जहां २ आगे रु विधान करेंगे वहां २ रु के पूर्व वर्ण को विकल्प करके अनुनासिक होगा ॥ २९१ ॥

३६४—आतोऽटि नित्यम् ॥ २६२ ॥ ८ । ३ । ३ ॥

जो वेदों में अट् प्रत्याहार के परे रु से पूर्व आकार हो तो उसको अनुनासिक नित्य ही हो जावे। जैसे—सूर्य्यवङ्‌ महाँ असि। देवाँ-आसादयादिह ॥ २६२ ॥

३६५—अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ॥ २६३ ॥ ८ । ३ । ४ ॥

जिस पक्ष में रु से पूर्व अनुनासिक नहीं होता वहां उससे पूर्ववर्ण को अनुस्वार हो जाता है। जैसे—विद्वान् सन्—चिनोति। विद्वांसंश्चिनोति ॥ २६३ ॥

३६६—वा०—विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य ॥२६४॥

वेदों में विकल्प करके भवत्, भगवत्, अघवत् शब्दों के अन्त को रु और अव भाग को ओकार आदेश होता है। जैसे—भवत्-एहि, भो एहि। भवन्नेहि। भगवत्-एहि, भगो एहि। भगवन्नेहि। अघवत्-याहि, अघो याहि। अघवन् याहि। इत्यादि। अब सुट् प्रकरण को लिखते हैं जो कि इसी रु प्रकरण से सम्बन्ध रखता है ॥ २६४ ॥

३६७—सुट् कात् पूर्वः ॥ २६५ ॥ ६ । १ । १३४ ॥

यह अधिकार सूत्र है यहां से आगे जहां २ सुट् का विधान करेंगे वहां २ वह ककार से पूर्व होगा ॥ २६५ ॥

३६८—अडभ्यासव्यवायेऽपि ॥ २६६ ॥ ६ । १ । १३५ ॥

जिसको सुट् का आगम विधान करें उसको अट् और अभ्यास के व्यवधान में भी ककार से पूर्व सुट् होवे ॥ २६६ ॥

३६९—संपर्य्युपेभ्यः करोतौ भूषणे ॥ २६७ ॥ ६ । १ । १३६ ॥

भूषण अर्थ में सम्, परि, उप इन उपसर्गों से कृधातु का कोई प्रयोग परे हो तो उस के ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है। जैसे, सम्-करोति। सम्-सुट्-करोति। उक्त (३६८) सूत्र से अट् के व्यवधान में। सम्-अ-करोत्। समस्करोत्। सम्-अकार्षीत्। समस्कार्षीत्। अभ्यास के व्यवधान में। सम्-चकरतुः। सञ्चस्करतुः। सम्-चकरुः। सञ्चस्करुः।

इत्यादि। परि-सुट्-करोति। परिष्करोति। जो यहां दन्त्य सकार को मूर्द्धन्य हो जाता है इसका विषय आख्यातिक ग्रन्थ के षत्वप्रकरण में लिखा है। परि-अ-सुट्-करोत्। पर्य्यस्करोत्। पर्य्यष्करोत्। ये दो प्रयोग षत्व के विकल्प से होते हैं। उप-सुट्-करोति। उपस्करोति। उपस्कारः। उपस्कर्त्ता। उपस्कृतम्। इत्यादि ॥ २६७ ॥

अब सम् के मकार को क्या होना चाहिये सो लिखते हैं:—

३७०-समः सुटि ॥ २६८ ॥ ८। ३। ५ ॥

सुट् परे हो तो सम् के मकार को रु आदेश हो। इस सूत्र से रु आदेश होकर विसर्ग प्राप्त हुआ उसका अपवाद यह वार्तिक है ॥ २६८ ॥

३७१-वा०-संपुंकानां सत्वम् ॥ २६६ ॥

सम्, पुम्, कान् इनके रु को सकार ही होता है। रु को जो सकार किया है उससे पूर्व वर्ण के ऊपर अनुनासिक और अनुस्वार उक्त सूत्र से समझना। अनुनासिक पक्ष में-सँस्स्करोति। सँस्करोति। यहां पक्ष में एक सकार का लोप भी हो जाता है। सँसस्कारः। सँस्कारः। जहां दो सकारों में एक को द्विर्वचन होता है वहां तीन सकार भी हो जाते हैं। सँसस्स्कारः। अनुनासिक न हुआ तो। संस्स्कारः। संस्कारः। संस्कारः। ये छः प्रयोग होते हैं ॥ २६६ ॥

३७२-समवाये च ॥ ३०० ॥ ६। १। १३७ ॥

जहां समुदाय अर्थ में कृ धातु हो वहां सम्, परि, उप इनसे पर ककार के पूर्व सुट् का आगम होता है। जैसे-संस्कृतम्। परिस्कृतम्। उपस्कृतम्। यहां भी पूर्व के समान सब उदाहरण समझना ॥ ३०० ॥

३७३-उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥ ३०१ ॥ ६। १। १३८ ॥

प्रतियत्न अर्थात् जो किसी व्यवहार में अनेक गुणों का आरोपण करना। वैकृत अर्थात् विकार को प्राप्त होना। वाक्यऽध्याहार अर्थात् जो जानने योग्य अर्थ है उसके जानने के लिये वाक्य बोलना। इन तीन अर्थों में जो उप उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम हो।

प्रतियत्न–उपस्कुरुते एधोदकस्य । वैकृत–उपस्कृतं भुङ्क्ते । वाक्याध्याहार–उपस्कृतं ब्रूते । इत्यादि ॥ ३०१ ॥

३७४–किरतौ लवने ॥ ३०२ ॥ ६ । १ । १३६ ॥

लवन अर्थात् काटने अर्थ में जो कृ धातु का प्रयोग हो तो उप उपसर्ग से परे उसके ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है । जैसे–उप–किरति । यहां ककार से पूर्व सुट् होकर कृषीवलः क्षेत्रमुपस्किरति । अट् के व्यवधान में । उपास्किरत् । अभ्यास के व्यवधान में । उपचस्करतुः ॥ ३०२ ॥

३७५–हिंसायाम् प्रतेश्च ॥ ३०३ ॥ ६ । १ । १४० ॥

हिंसा अर्थ में उप तथा प्रति उपसर्ग से परे कृ धातु का प्रयोग हो तो ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है । जैसे–उपस्किरति जीवान् । प्रतिष्किरति जीवान् । इत्यादि ॥ ३०३ ॥

३७६–अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥ ३०४॥ ६। १। १४१॥

चतुष्पात् अर्थात् चार पगवाले घोड़ा, हाथी, ऊंट, बकरी, गौ आदि और पक्षी, मोर, तीतिर, मुर्गा आदि ये कर्त्ता हों तो अप उपसर्ग से परे कृ धातु के ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, करोदना अर्थ सूचित होता हो तो ॥ ३०४ ॥

३७७–वा०–किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम् ॥ ३०५ ॥

हर्ष–आनन्दित होना, जीविका–कुछ प्राप्ति की इच्छा करना, कुलायकरण–किसी का आश्रय लेना । इन तीन अर्थों में उक्त सुट् का आगम होता है । हर्ष–अपस्किरते वृषो हृष्टः । बैल जब आनन्दयुक्त होते हैं तो सींगों से भूमि को करोदा करते हैं । जीविका–अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी । मुरगे क्षुधातुर होकर अपनी चोंच से भूमि को करोदा करते हैं । कुलायकरण–अपस्किरतेश्वाऽऽश्रयार्थी । कुत्ता आश्रय अर्थात् शरण चाहता हुआ भूमि को करोदता है । इत्यादि ॥ ३०५ ॥

३७८–कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥ ३०६ ॥ ६ । १ । १४२ ॥

यहां जाति अर्थ में कुस्तुम्बुरु शब्द के तकार से पूर्व को सुट् का आगम

निपातन किया है। कुस्तुम्बुरु किसी ओषधि का नाम है। उस के फल। कुस्तुम्बुरूणि फलानि। यहां जातिग्रहण इसलिये है कि कुतुम्बुरूणि फलानि। यहां सुट् न हुआ ॥ ३०६ ॥

३७९—अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥ ३०७ ॥ ६ । १ । १४३ ॥

क्रिया के निरन्तर होने में अपरस्पराः, यह शब्द निपातन किया है। अपरस्पराः पठन्ति। निकृष्ट और उत्तम विद्यार्थी लोग निरन्तर पढ़ते हैं यहां सातत्यग्रहण इसलिये है कि अपरपरा गच्छन्ति। अनियम से चलते हैं यहां सुट् न हुआ ॥ ३०७ ॥

३८०—वा०—समो हिततत्योर्वा लोपः ॥ ३०८ ॥

हित और तत शब्द के परे सम् के मकार का लोप विकल्प करके होता है। संहितम्। सहितम्। संततम्। सततम्। इसी सतत शब्द से सातत्य बनता है। जहां लोप नहीं होता वहां मकार को अनुस्वार होकर विकल्प से परसवर्ण भी हो जाता है ॥ ३०८ ॥

३८१—वा०—सम्तुमुनोः कामे लोपो वक्तव्यः ॥ ३०९ ॥

जो काम शब्द परे हो तो सम् और तुमुन् प्रत्यय के मकार का लोप होता है। सम्—कामः, सकामः। भोक्तुम्—कामः, भोक्तुकामः। इत्यादि ॥ ३०९ ॥

३८२—वा०—अवश्यमः कृत्ये लोपो वक्तव्यः ॥ ३१० ॥

जो कृत्य प्रत्ययान्त शब्दों के परे पूर्व अवश्यम् शब्द हो तो उसके मकार का लोप हो जावे। अवश्यम्—भाव्यम्, अवश्यभाव्यम्। अवश्यलाव्यम्। इत्यादि। इन वार्तिकों का यहां प्रसंग नहीं था। परन्तु इसी (२७९) सूत्र पर थे इसलिये लिख दिये हैं ॥ ३१० ॥

३८३—गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥ ३११ ॥ ६ । १ । १४४ ॥

सेवित, असेवित और प्रमाण अर्थ का वाचक (गोष्पदम्) यह निपातन किया है। सेवित—गोष्पदो देशः। असेवित—गोष्पदमरण्यम्। प्रमाण—गोष्पदपूरं वृष्टो मेघः। यहां इन अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि गोः पदम्। गोपदम्। यहां सुट् न हुआ। और इन अर्थों में ऐसा विग्रह होना चाहिये कि गावः पद्यन्ते प्राप्यन्ते यत्र तत् गोष्पदम् ॥ ३११ ॥

३८४—आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ॥ ३१२ ॥ ६ । १ । १४५ ॥

प्रतिष्ठा अर्थ में (आस्पदम्) यह निपातन किया है। आस्पदं स्थिर-मालब्धम्। यहां भी पद शब्द के पूर्व सुट् हुआ है। यहां प्रतिष्ठाग्रहण इसलिये है कि आपदमप्रतिष्ठां प्राप्तो देवदत्तः। यहां न हुआ ॥ ३१२ ॥

३८५—आश्चर्यमनित्ये ॥ ३१३ ॥ ६ । १ । १४६ ॥

अनित्य अर्थात् जो कभी २ हो सर्वदा न हो इस अनित्य अर्थ में (आश्चर्य्यम्) यह निपातन किया है (आ–चर्य्यम्) यह चकार से पूर्व सुट् हो जाता है। आश्चर्य्यमिदं कर्म्म। अनित्यग्रहण इसलिये है कि आचर्य्यं सत्यम्। यहां न हुआ क्योंकि सत्य का आचरण नित्य ही करना चाहिये ॥३१३॥

३८६—वर्चस्केऽवस्करः ॥ ३१४ ॥ ६ । १ । १४७ ॥

वर्चस्क अर्थात् अन्न के मल अर्थ में (अवस्करः) यह निपातन किया है। यहां वर्चस्कग्रहण इसलिये है कि अवकरः। यहां न हुआ ॥ ३१४ ॥

३८७—अपस्करो रथाङ्गम् ॥ ३१५ ॥ ६ । १ । १४८ ॥

रथ के अङ्ग अर्थात् अवयव अर्थ में (अपस्कर) यह शब्द सुट् सहित निपातन किया है। यहां रथाङ्गग्रहण इसलिये है कि अपकरः। यहां न हुआ ॥ ३१५ ॥

३८८—विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा ॥ ३१६ ॥ ६ । १ । १४९ ॥

शकुनि अर्थात् पक्षी अर्थ में विपूर्वक किर शब्द के ककार से पूर्व सुट् का आगम विकल्प करके निपातन किया है। विष्किरः। विकिरः। दोनों पक्षीविशेष के नाम हैं ॥ ३१६ ॥

३८९—ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥ ३१७ ॥ ६ । १ । १५० ॥

वैदिक शब्दों में ह्रस्व से परे चन्द्र शब्द हो तो उसके चकार से पूर्व सुट् का आगम होता है। सुश्चन्द्रो युष्मान्। सु–चन्द्रः। सुश्चन्द्रः। ह्रस्व से परे इसलिये कहा है कि पराचन्द्रः। इत्यादि में न हुआ। उत्तरपदग्रहण इसलिये है कि समास में ही सुट् का आगम हो जावे। जैसे-शुक्रमसि। चन्द्रमसि। यहां न हुआ ॥ ३१७ ॥

३६०—प्रतिष्कशश्च कशेः ॥ ३१८ ॥ ६ । १ । १५१ ॥

यहां प्रतिपूर्वक कश् धातु का प्रतिष्कशः । यह शब्द निपातन किया है । प्रति-कशः, प्रतिष्कशः । यहां ककार से पूर्व सुट् और सकार को मूर्द्धन्यादेश निपातन से हुआ है ॥ ३१८ ॥

३६१—प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥ ३१९ ॥ ६ । १ । १५२ ॥

ऋषि अर्थ में प्रस्कण्वः, हरिश्चन्द्रः । ये दो शब्द सुट् आगम के साथ निपातन किये हैं । अर्थात् ये दोनों ऋषि के नाम हैं । जहां और किसी के नाम होंगे वहां सुट् न होगा इत्यादि ॥ ३१९ ॥

३६२—मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥ ३२० ॥ ६ । १ । १५३ ॥

मस्करः (बांस की लकड़ी) और मस्करी (उसको धारण करनेवाला संन्यासी), ये दोनों शब्द वेणु और परिव्राजक अर्थ में निपातन किये हैं । जहां इनसे अन्य अर्थ हो वहां मकरः (धूर्तता) और मकरी (धूर्त मनुष्य का नाम) जानना ॥ ३२० ॥

३६३—कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥ ३२१ ॥ ६ । १ । १५४ ॥

कास्तीर और अजस्तुन्द, ये दो शब्द नगर अर्थ में निपातन किये हैं । अर्थात् किसी नगर के नाम हों वहां इन दो शब्दों के तकार से पूर्व सुट् होता है । कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्तुन्दं नाम नगरम् । अन्य अर्थों में कातीरम् । अजतुन्दम् । ऐसा ही रहेगा ॥ ३२१ ॥

३६४—पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥ ३२२ । ६ । १ । १५६ ॥

जहां पारस्कर आदि शब्द संज्ञा अर्थात् किसी के नियत नाम होते हैं वहां इन में सुट् का आगम किया है । जैसे-पारस्करः । किसी देश का नाम है अन्यत्र, पारकरः । कारस्करः । किसी वृक्ष का नाम है । अन्यत्र, कारकरः । रथस्या । किसी नदी का नाम है । अन्यत्र, रथया । किष्कुः । एक हाथ वा वितस्ति भर नाप का नाम है । अन्यत्र, किकुः । किष्किन्धा । किसी गुफा का नाम है । अन्यत्र, किकिन्धा ॥ ३२२ ॥

३६५–वा०–तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलो-
पश्च ॥ ३२३ ॥

चोर और देवता अर्थ में तत् और बृहत् शब्द से कर और पति शब्द यथासंख्य परे हों तो इनको सुट् का आगम और तत् तथा बृहत् शब्द के अन्त्य तकार का लोप भी हो जावे। जैसे–तत्–करः। यहां तकार का लोप और सुट् होकर तस्करः। यह नाम चोर का है। तथा बृहत्—पतिः। यहां सुट् और तलोप होकर बृहस्पतिः। परमात्मा का वा वेदपारग ब्रह्मर्षि का नाम है॥ ३२३ ॥

३६६–वा०–प्रात्तुम्पतौ गवि कर्त्तरि ॥ ३२४ ॥

प्र उपसर्ग से परे तुम्प धातु का प्रयोग और इस धातु का कर्त्ता गौ हो तो सुट् होता है। प्र–तुम्पति। प्रस्तुम्पति गौः। इत्यादि यहां गौ कर्त्ता इसलिये कहा है कि प्रतुम्पति सिंहः। यहां न हुआ॥ ३२४ ॥

३६७–वा०–प्रायस्य चित्तिचित्तयोः सुडस्कारो वा ॥ ३२५ ॥

जो प्राय शब्द से परे चित्ति और चित्त शब्द हो तो सुडागम अथवा प्राय शब्द को अस् आदेश हो जावे। प्राय–चित्तिः। प्राय–चित्तम्। प्रायश्चित्तिः। प्रायश्चित्तम्। और इस सूत्र के महाभाष्य में यह भी लिखा है कि जहां किसी सूत्र वा वार्त्तिक से सुट् विधान न किया हो और वेदादि सत्य शास्त्रों में देखने में आवे तो उसको पारस्करप्रभृति गण के भीतर ही जानो क्योंकि पारस्करप्रभृति आकृतिगण है। इति सुट् प्रकरणम्॥ ३२५ ॥

३६८–पुमः खय्यम्परे ॥ ३२६ ॥ ८। ३। ६ ॥

अम् प्रत्याहार जिससे परे हो ऐसा खय् प्रत्याहार परे हो तो पुम् शब्द के मकार को रु आदेश होता है। जैसे पुम्—कामा। यहां ककार तो खय् प्रत्याहार में और उससे परे जो आकार वह अम् प्रत्याहार में गिना जाता है। पुँस्कामा। पुँस्स्कामा। पुंस्कामा। पुंस्स्कामा। पुँस्पुत्रः। पुँस्स्पुत्रः। पुंस्पुत्रः। पुंस्स्पुत्रः। पुँश्चली। पुँश्श्चली। पुंश्चली। पुंश्श्चली। इत्यादि। खय्ग्रहण इसलिये है कि पुन्दासः। यहां न हुआ। और अम्परे ग्रहण इसलिये है कि पुंक्षीरम्। यहां न हुआ। यहां एक पक्ष में सकार को द्विर्वचन हो जाता

है। इस प्रकरण में रु का अधिकार है परन्तु पुम् शब्द को उक्त (संपुंका०) इस वार्त्तिक से सकारादेश इसलिये होता है कि कवर्ग पवर्ग के परे विसर्जनीय को जिह्वामूलीय और उपध्मानीय आदेश कहे हैं वे न हों ॥ ३२६ ॥

३९९—नश्छव्यप्रशान् ॥ ३२७ ॥ ८ । ३ । ७ ॥

प्रशान् शब्द को छोड़ के पदान्त नकार को रु आदेश होता है जो छव् प्रत्याहार से परे अम् प्रत्याहार हो तो। और पूर्व सूत्र से रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक और अनुस्वार हो जाते हैं। जैसे—भवान्–छिनत्ति। नकार को रु, रु को विसर्जनीय, विसर्जनीय को सकार, सकार को शकार होकर भवाँश्छिनत्ति। भवांश्छिनत्ति। भवान्–चेतति। भवाँश्चेतति। भवांश्चेतति। सन्–च। सँश्च। संश्च। भवान्–टीकते। भवाँष्टीकते। भवांष्टीकते। भवान्–तर्पयति। भवाँस्तर्पयति। भवांस्तर्पयति। इत्यादि। यहां प्रशान् का निषेध इसलिये है कि प्रशान्–छिनत्ति। प्रशान्–चेतति। रु आदेश न हुआ। छव् ग्रहण इसलिये है कि कि भवान् वदतु। यहां न हुआ। अम्पर ग्रहण इसलिये है कि भवान् त्सरति। यहां न हुआ ॥ ३२७ ॥

४००—उभयथर्क्षु ॥ ३२८ ॥ ८ । ३ । ८ ॥

(पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त रु आदेश का इस सूत्र से विकल्प किया है) अम्परक छव् प्रत्याहार के परे ऋग्वेद में नकारान्त पद के नकार को रु आदेश हो विकल्प करके। जैसे—तस्मिँस्त्वा दधति। तस्मिंस्त्वा दधति। जिस पक्ष में रु नहीं होता वहां नकार बना रहता है। तस्मिन्त्वा दधति। इत्यादि ॥ ३२८ ॥

४०१—दीर्घादटि समानपादे ॥ ३२९ ॥ ८ । ३ । ९ ॥

दीर्घ से परे पदान्त नकार को अट् प्रत्याहार के परे समानपाद अर्थात् एकपाद में रु आदेश हो ऋग्वेद में विकल्प करके। जैसे—जनाँ अचुच्यवीतन। यहां रु को यकार होके लोप हो जाता है। गिरींरचुच्यवीतन। यहां लोप न होने से अकार में रेफ मिल गया। विकल्प ग्रहण इसलिये है कि आदित्यान् याचिषामहे। यहां रु आदेश न हुआ रु के पूर्व अनुनासिक नित्य होता है सो लिख चुके हैं परन्तु वह दीर्घ आकार से ही परे नित्य होगा ईकार ऊकार से

तो विकल्प करके होगा। परिधीरँति। परिधीरंति। वसूँरिह। वसूंरिह। त्वमग्ने वसूँरिह। रुद्राँ आदित्याँ उत। इत्यादि ॥ ३२९ ॥

४०२—नॄन् पे ॥ ३३० ॥ ८ । ३ । १० ॥

जो पकारादि उत्तरपद परे हो तो नॄन् शब्द के नकार को विकल्प करके रु आदेश होता है। अन्य कार्य्य सब पूर्व के तुल्य जानना। जैसे नॄँः पिपर्त्ति। नॄँ×पिपर्त्ति। नॄंः पिपर्त्ति। नॄं×पिपर्त्ति। एक पक्ष में नॄन् पिपर्त्ति। इत्यादि यहां पकारादि ग्रहण इसलिये है कि नॄन् भोजयति। यहां कुछ भी विकार नहीं होता ॥ ३३० ॥

४०३—स्वतवान् पायौ ॥ ३३१ ॥ ८ । ३ । ११ ॥

पायु शब्द परे हो तो स्वतवान् शब्द के नकार को रु आदेश विकल्प करके होता है। जैसे—भुवस्तस्य स्वतवाः पायुरग्ने स्वतवाः पायुः। इत्यादि यहां सब कार्य पूर्ववत् होते हैं ॥ ३३१ ॥

४०४—कानाऽऽम्रेडिते ॥ ३३२ । ८ । ३ । १२ ॥

आम्रेडित अर्थात् द्वितीय कान् शब्द परे हो तो कान् शब्द के नकार को रु आदेश होता है। जैसे-कान्-कान्। यहां रु होकर (संपुंकानां सत्वम्) इस वार्त्तिक से जिह्वामूलीय और विसर्जनीय को बाधकर सकार ही हो जाता है कांस्कान् ॥ ३३२ ॥

इतीरितस्सन्धिविधिम्महामुनेर्निशम्य सन्धेर्विषयस्सतां मुदे।
सुखेन तच्छास्त्रप्रवृत्तयेनया मयार्य्यया कल्पितयार्य्यभाषया ॥ १ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीप्रणीतार्य्य-
भाषाविवृत्तिसहितस्सन्धिविषयस्समाप्तः ॥

विज्ञापन ॥

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नक़द रुपया मिलेगा ।

डाकमहसूल सबका मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	२०)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	१०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१)
,, केवल संस्कृत	॥।)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	४।≡)॥।
अष्टाध्यायी मूल	≡)॥
पंचमहायज्ञविधि	-)॥
,, बढ़िया	=)
निरुक्त	॥≈)
शतपथ (१ काण्ड)	।)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	≈)
व्यवहारभानु	≈)
भ्रमोच्छेदन	)॥।
अनुभ्रमोच्छेदन	)॥।
सत्यधर्मविचार (मेलाचांदापुर) नागरी	-)
,, ,, (उर्दू)	-)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी)	)।
,, (मरहठी)	-)
,, (अंग्रेज़ी)	)॥।
गोकरुणानिधि	-)
स्वामीनारायणमतखण्डन	-)॥
हवनमंत्र	)।
आर्याभिविनय बड़े अक्षरों का	।=)
आर्याभिविनय गुटका	≡)

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
सत्यार्थप्रकाश नागरी	१)
सत्यार्थप्रकाश (बंगला)	१)
संस्कारविधि	॥)
विवाहपद्धति	।)
शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद	-)॥।
आ० स० के नियमोपनियम	)।
वेदविरुद्धमतखण्डन	≈)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण (नागरी)	)॥।
,, (अंग्रेज़ी)	-)
भ्रान्तिनिवारण	-)
शास्त्रार्थकाशी	)॥।
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (नागरी)	)॥
तथा (अंग्रेज़ी)	)।
मूलवेद साधारण	५)
,, सुनहरी	८)
अनुक्रमणिका	१॥)
शतपथब्राह्मण पूरा	४)
ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥=)
छान्दोग्योपनिषद् संस्कृत तथा हिन्दी भाष्य	३)
यजुर्वेदभाषाभाष्य	२)
वृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	३)
नित्यकर्मविधि)।, एक रु० सैकड़ा	

पुस्तक मिलने का पता—

प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक पुस्तकालय—अजमेर.

ओ३म्

अथ वेदाङ्गप्रकाशः ॥

तत्रत्यः ।

तृतीयो भागः ॥

नामिकः ॥

पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां ॥

द्वितीयो भागः ॥

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ॥

पठनपाठनव्यवस्थायां पञ्चमो भागः ॥

अजमेरनगरे वैदिक-यन्त्रालये मुद्रितः ॥

संवत् १९७४ विक्रमीय.

चतुर्थो वारः १०००

मूल्यम् ।) डा०)॥

विज्ञापन ॥

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नक़द रुपया मिलेगा ।

डाकमहसूल सबका मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य	विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	२०)	सत्यार्थप्रकाश नागरी	१।।)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	१०)	सत्यार्थप्रकाश (बंगला)	१)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१)	संस्कारविधि	।।)
,, केवल संस्कृत	।।।)	विवाहपद्धति	।)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	४।≈)।।।	शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद	-)।।।
अष्टाध्यायी मूल	≈)।।	आ० स० के नियमोपनियम	)।
पंचमहायज्ञविधि	-)।।	वेदविरुद्धमतखण्डन	≈)
,, बढ़िया	=)	वेदान्तिध्वान्तनिवारण (नागरी)	)।।।
निरुक्त	।।≈)	,, (अंग्रेज़ी)	-)।।
शतपथ (१ काण्ड)	।)	भ्रान्तिनिवारण	-)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	≈)	शास्त्रार्थ काशी	)।।।
व्यवहारभानुः	≈)	स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (नागरी)	)।।
भ्रमोच्छेदन	)।।।	तथा (अंग्रेज़ी)	)।
अनुभ्रमोच्छेदन	)।।।	मूलवेद साधारण	५)
सत्यधर्मविचार (मेलाचांदापुर) नागरी	-)	चारों वेदों की अनुक्रमणिका	१।।)
,, ,, (उर्दू)	-)	शतपथब्राह्मण मूल पूरा	४)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी) ।।।) सौ	)।	ईशादिदशोपनिषद् मूल	।।≈)
,, (मरहठी)	-)	छान्दोग्योपनिषद् संस्कृत तथा हिन्दी भाष्य	३)
,, (अंग्रेज़ी)	)।।।	यजुर्वेदभाषाभाष्य	२)
गोकरुणानिधि	-)	बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	३)
स्वामीनारायणमतखण्डन	-)।।	नित्यकर्मविधि)।, एक रु० सैकड़ा.	
हवनमंत्र १) रुपया सौ	)।		
आर्याभिविनय बड़े अक्षरों का	।=)		
आर्याभिविनय गुटका	≈)		

पुस्तक मिलने का पता—

प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक पुस्तकालय, अजमेर.

ओ३म् ॥

अथ नामिकः ॥

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतविवरणसहितः ।

पठनपाठनव्यवस्थायां पञ्चमं पुस्तकम् ॥

यह पढ़ने पढ़ाने की व्यवस्था में पांचवां पुस्तक है प्रथम सन्धि विषय को पढ़कर पश्चात् इसको पढ़ना चाहिये, नामिक इसलिये इसको कहते हैं कि इसमें सुप् के साथ नाम अर्थात् संज्ञा आदि शब्दों का विधान है और इसी हेतु से (नाम्नां व्याख्यानो ग्रन्थो नामिकः) यह तद्धितार्थ संगत होता है क्योंकि यहां नामशब्द से व्याख्यान अर्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है । नाम वाचकों को प्रयोगसिद्धि के लिये मुनिवर पाणिनिजी ने प्रातिपदिक संज्ञा से विधान किया है ।

(प्र०) प्रातिपदिक संज्ञा का क्या फल है ।

(उ०) सुप्, स्त्री और तद्धित प्रत्ययों का विधान होना ।

(प्र०) सुप् किसका नाम है ।

(उ०) प्रथमा के एक वचन से लेके सप्तमी के बहुवचन पर्य्यन्त २१ इक्कीस प्रत्ययों के संघात का ।

(प्र०) सुप् के कितने अर्थ हैं ।

(उ०) सुपां कर्म्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् ॥ महाभाष्य अध्याय १ । पाद आह्निक २ ॥

ये ग्यारह अर्थ सुप् के हैं, कर्म्म, कर्त्ता, करण, संप्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण और हेतु तथा एकत्व, द्वित्व और बहुत्व ॥

(प्र०) शब्द कै प्रकार के होते हैं ।

(उ०) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् । नैगमरूढिभवं हि सुसाधु ॥ महा० अ० ३ । पा० ३ । सू० १ । आ० १ ॥

तीन प्रकार के अर्थात् यौगिक, रूढि और योगरूढि, परंतु यास्कमुनि आदि निरुक्तकार और वैयाकरणों में शाकटायनमुनि सब शब्दों को धातु से निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढि ही मानते और पाणिनि आदि रूढि भी मानते हैं। परन्तु सब ऋषि मुनि वैदिक शब्दों को यौगिक और योगरूढि तथा लौकिक शब्दों में रूढि भी मानते हैं ॥

(प्र०) उक्त यौगिक, रूढि और योगरूढि इन तीन प्रकार के शब्दों के क्या २ लक्षण हैं ॥

(उ०) (यौगिक) उनको कहते हैं कि जो प्रकृति और प्रत्ययार्थ तथा अवयवार्थ का प्रकाश करते हैं। जैसे—कर्त्ता, हर्त्ता, दाता, अध्येता, अध्यापक, लम्बकर्ण, शास्त्रज्ञान, कालज्ञान इत्यादि। (रूढि) उनको कहते हैं कि जिनमें प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ न घटता हो किन्तु वे संज्ञाबोधक हों। जैसे—खट्वा, माला, शाला, इत्यादि। (योगरूढि) उनको कहते हैं कि जो अवयवार्थ का प्रकाश करते हुए अपने योग से अन्य अर्थ में नियत हों। जैसे—दामोदर, सहोदर, पङ्कज इत्यादि। उक्त तीन प्रकार के शब्द नामान्तर से भी प्रसिद्ध हैं अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छाशब्द (जातिवाचक) उनको कहते हैं कि जिनका योग आकृति और बहुत व्यक्तियों के साथ हो, जाति के दो भेद हैं सामान्य जाति और सामान्यविशेष जाति, (सामान्य जाति) उसको कहते हैं कि जिसका योग तुल्य आकृति और बहुत समान व्यक्तियों में रहता हो जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि (सामान्य) विशेष जाति उसको कहते हैं कि जो पदार्थ किसी में सामान्य और किसी से विशेष हो जैसे मनुष्यादि सामान्यजातियों में स्त्री पुरुष इत्यादि। पशुओं में गौ, हस्ती, अश्व इत्यादि। और पक्षियों में हंस, काक इत्यादि ॥

गुणवाची शब्द वे हैं जो द्रव्य के आश्रित हों जैसे—धर्म, अधर्म, संस्कार, शुक्ल, हरित, नील, पीत, रूप, गन्ध, स्पर्श, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान इत्यादि ॥

क्रिया शब्द उनको कहते हैं कि जो चेष्टा और व्यापार आदि के वाचक हों जैसे भवति, करोति, पचति, आस्ते, शेते इत्यादि ॥

और यदृच्छाशब्द उन को कहते हैं कि कोई मनुष्य यथावत् बोलने में असमर्थ होकर जिनका अन्यथा उच्चारण करे जैसे—(ऋतक) के बोलने में (लृतक) का उच्चारण करते हैं ॥

(प्र०) इन शब्दों के प्रयोग कितने भेदों से होते हैं ॥

(उ०) स्त्रीलिङ्ग, पुल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग इन तीनों भेदों से ॥

(प्र०) इन भेदों के लक्षण और प्रमाण क्या हैं ।

(उ०) स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः । उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥ महा० अ० ४ । पा० १ । सू० ३ ॥

जिसके बड़े २ लोम हों वह पुरुष । जिसके स्तन और शिर के बाल बड़े २ हों वह स्त्री और जो इन दोनों के मध्यस्थ चिह्नवाला हो वह नपुंसक कहाता है । पुल्लिङ्ग के उदाहरण जैसे पुरुषः पुरुषौ पुरुषाः, इत्यादि । स्त्रीलिङ्ग के अम्बा अम्बे अम्बाः, इत्यादि । नपुंसकलिङ्ग के नपुंसकं नपुंसके नपुंसकानि इत्यादि ॥

(प्र०) इस प्रमाण और लक्षण से मनुष्य आदि चेतन व्यक्तियों में तो लिङ्ग-ज्ञान होता है परन्तु जड़ पदार्थों में नहीं, क्योंकि उनमें पुरुष, स्त्री और नपुंसक के चिह्न कुछ भी नहीं देख पड़ते हैं ॥

(उ०) उनमें भी कचित् २ कुछ २ लिङ्गों के चिह्न देख पड़ते हैं जैसे भागः भागौ भागाः, इत्यादि । यहां पुल्लिङ्ग चिह्न (घञ्) खट्वा खट्वे खट्वाः । नदी नद्यौ नद्यः, इत्यादि । यहां स्त्रीलिङ्ग के चिह्न (टाप्) और (ङीप्) ज्ञानं ज्ञाने ज्ञानानि यहां (ल्युट्) प्रत्यय नपुंसक का चिह्न है जैसे इन शब्दों में व्याकरण की रीति से प्रत्यय लिङ्ग के द्योतक दिखलाई देते हैं वैसे सर्वत्र वेद निरुक्त और निघण्टु आदि में निर्देश देखकर शब्दों के लिङ्गों की व्यवस्था यथावत् जाननी उचित है, क्योंकि:-

लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य ॥ महा० अ० २ । पा० १ । सू० १ । आ० १ ॥

लिङ्गों का अनुशासन एक विशेष पुस्तक में करना योग्य नहीं है, किन्तु लिङ्ग-ज्ञान के अर्थ वेदादि शास्त्रों का जानना सब को आवश्यक है ॥

(प्र०) शब्द विषय कितना है ॥

(उ०) सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधाभिन्नाः । एकशतमध्वर्य्युशाखाः । सहस्रवर्त्मा सामवेदः । एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् । नवधा आथर्वणो वेदः । वाकोवाक्यमितिहासःपुराणं वैद्यकमित्येतावञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः । एतावन्तं शब्दप्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव । एतस्मिंश्चातिमहति शब्द-

प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते ॥ महा० अ० १ । आ० १ ॥

जो मनुष्य सातद्वीपयुक्त पृथिवी तीन लोक अर्थात् नाम जन्म और स्थान साङ्गोपाङ्ग वेद अर्थात् एकसौ एक व्याख्यानयुक्त यजुः । हज़ार व्याख्यानयुक्त साम । इक्कीस व्याख्यानयुक्त ऋक् । नव व्याख्यानयुक्त अथर्ववेद (वाकोवाक्य) अर्थात् दर्शनशास्त्र (इतिहासः, पुराणम्) साम गोपथ ब्राह्मण और (वैद्यक) अर्थात् चरक सुश्रुत आदि इस बहुत बड़े शब्द के विषय को देखे सुने विना कोई कहे कि अदृष्टशब्दों का निर्देश कहीं नहीं किया यह उसका कहना केवल हठ और अज्ञान का भरा हुआ है क्योंकि जो साधारणता से प्रयोगविषय देखने में नहीं आता वह विद्वानों के देखने में विस्तीर्ण शब्द विषय में आता है ॥

४०५–अथ शब्दानुशासनम् ॥ १ ॥ अ० १ । १ । १ ॥

यहां (अथ) शब्द अधिकार के लिये है शब्दों का अनुशासन अर्थात् उनकी शिक्षा का अधिकार किया जाता है यहां से आगे क्रम से शब्दों का विषय दिखाया जायगा ॥ १ ॥

(प्र०) शब्द का लक्षण क्या है ।

४०६–(उ०) श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाऽभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ॥ २ ॥ महा० १ । १ ॥

जिसका कानों से सुनकर बोध हो जो बुद्धि से निरन्तर ग्रहण करने के योग्य उच्चारण से प्रकाशित और आकाश जिसके रहने का स्थान है वह शब्द कहाता है ॥ २ ॥

(प्र०) शब्द के कै भेद हैं ।

(उ०) चार अर्थात् नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात, इन चारों में से नाम शब्दों का व्याख्यान इस ग्रन्थ में किया जायगा ॥ ३ ॥

(प्र०) नामवाचक कौन शब्द हैं ।

४०७–(उ०) सत्वप्रधानानि नामानि ॥ ३ ॥ निरु० १ । १ ॥

जो मुख्यता से सत्वप्रधान अर्थात् द्रव्य और गुणों के वाचक शब्द हैं उनको नाम कहते हैं । जैसे–गौः, अश्वः, पुरुषः, इत्यादि ॥

(प्र०) व्याकरण में कैसे २ शब्दों का विधान किया जाता है ।

४०८–(उ०) समर्थः पदविधिः ॥ ४ ॥ अ० २ । १ । १ ॥

पदविधि समर्थ के आश्रित होता है। समर्थ अर्थात् जिसके साथ जिसकी योग्यता हो उसी के साथ उसका पदकार्य्य होता है जैसे (भू-तव्यत्) यहां धातुसंज्ञा के विना (भू) शब्द प्रत्ययविधान में असमर्थ तथा (तव्यत्) यह कृत् और प्रत्यय संज्ञा के विना विधान होने ही में असमर्थ है इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये तथा जिस पद के साथ जिसकी योग्यता हो उसी से उसका समास होता है व्याकरण में सब सूत्रों से प्रथम इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है तत्पश्चात् सुबन्त विषय में प्रातिपदिकसंज्ञा होती है प्रातिपदिक संज्ञा विधायक सूत्र ॥ ४ ॥

४०९-अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ॥५॥ अ० १।२।४५॥

यहां अर्थवत् शब्द में मतुप् प्रत्यय नित्ययोग में किया है क्योंकि शब्द और अर्थ का सनातन संबन्ध है। केवल धातु और प्रत्यय से पृथक् अर्थवान् शब्द वह प्रातिपदिक संज्ञक हो जैसे धन, वन, इत्यादि ॥ ५ ॥

४१०-कृत्तद्धितसमासाश्च ॥ ६ ॥ अ० १ । २ । ४६ ॥

कृदन्त तद्धितान्त और समास भी प्रातिपदिक संज्ञक हों जैसे कृदन्त में (अधीङ्-तृच्) तद्धित में (उपगु-अण्) समास में (राजन्-ङस् । पुरुष-सु) इत्यादि अव्युत्पन्न और व्युत्पन्न दोनों पक्षों में उक्त सूत्रों से प्रातिपदिक संज्ञा होती है ॥ ६ ॥

४११-ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ ७ ॥ अ० ४ । १ । १ ॥

यह अधिकार सूत्र है ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिक से स्वादिक स्त्रीवाचक और तद्धित प्रत्यय होते हैं उनमें से (स्वादिक) प्रत्यय यथा ॥ ७ ॥

४१२-स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस् ङेभ्यांभ्यस् ङसिभ्यांभ्यस् ङसोसां ङ्योस्सुप् ॥ ८ ॥ अ० ४ । १ । २ ॥

ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिक से (सु) आदि * इक्कीस २१ प्रत्यय हों ॥ ८ ॥

४१३-सुपः ॥ ९ ॥ अ० १ । ४ । १०२ ॥

सुप् प्रत्याहार के जो २ तीन २ वचन हैं वे एक २ के प्रति एकवचन द्विवचन और बहुवचन संज्ञक हों ॥ ९ ॥

४१४-विभक्तिश्च ॥ १० ॥ अ० १ । ४ । १०३ ॥

* इन्हीं प्रत्ययों के प्रथम से लेकर अन्त्य पू पर्य्यन्त का सुप् प्रत्याहार नाम है ॥

तिङ् और सुप् के जो तीन २ वचन हैं वे विभक्ति संज्ञक हों अब यथाक्रम से विभक्तियों के रूप लिखते हैं ॥

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	सु	औ	जस्	पञ्चमी	ङसि	भ्याम्	भ्यस्
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	सप्तमी	ङि	ओस्	सुप्
चतुर्थी	ङे	भ्याम्	भ्यस्				

इस प्रकार से सातों विभक्तियों के अलग २ रूप जान लेना चाहिये ॥१०॥

४१५–द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ॥ ११ ॥ अ० १ । ४ । २२ ॥

दो पदार्थों के कहने की इच्छा हो तो द्विवचन और एक पदार्थ के कहने की इच्छा हो तो एक वचन हो जैसे (पुरुष–सु) (पुरुष–औ) ॥ ११ ॥

४१६–बहुषु बहुवचनम् ॥ १२ ॥ अ० १ । ४ । २१ ॥

बहुत पदार्थों की कहने की इच्छा हो तो बहुवचन हो जैसे (पुरुष–सु । पुरुष-औ । पुरुष–जस्) इनमें से प्रथम (पुरुष–सु) इसका साधन जैसे ॥ १२ ॥

४१७–उपदेशेऽजनुनासिक इत् ॥ १३ ॥ अ० १ । ३ । २ ॥

जो उपदेश में अनुनासिक अच् है वह इत्संज्ञक हो उपदेश यहां उसको कहते हैं कि जो धातु सूत्र और गणों में पाणिन्यादि मुनियों का प्रत्यक्ष कथन है। इस सूत्र से (सु) इसके उकार की इत्संज्ञा होकर ॥ १३ ॥

४१८–तस्य लोपः ॥ १४ ॥ अ० १ । ३ । ९ ॥

जिसकी इत्संज्ञा हुई हो उसका लोप हो । लोप होकर (पुरुष–स्) इस अवस्था में ॥ १४ ॥

४१९–सुप्तिङन्तम्पदम् ॥ १५ ॥ अ० १ । ४ । १४ ॥

जिसके अन्त में सुप् वा तिङ् हो उस समुदाय की पदसंज्ञा हो । इससे सु और तिप् आदि प्रत्ययान्त शब्दों की पदसंज्ञा होती है । तिङन्तों की व्याख्या आख्यातिक में लिखी जायगी (पुरुष–स्) इसकी पदसंज्ञा होकर पश्चात् ॥ १५ ॥

४२०–ससजुषोरुः ॥ १६ ॥ अ० ८ । २ । ६६ ॥

सकारान्त पद और सजुष् शब्द के स् और ष् को रु आदेश हो (पुरुष-रु) इस अवस्था में रु के उकार की * इत्संज्ञा होकर लोप होगया (पुरुष-र्) ॥ १६ ॥

४२१-विरामोऽवसानम् ॥ १७ ॥ अ० १ । ४ । १०६ ॥

वक्ता की उक्ति का जो विराम अर्थात् ठहरना है उसकी अवसानसंज्ञा हो। जैसे (पुरुष-र्) उससे रेफ की अवसानसंज्ञा हुई। अवसानसंज्ञा का फल ॥ १७ ॥

४२२-खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥ १८ ॥ अ० ८ । ३ । १५ ॥

खर्प्रत्याहार रेफ से परे हो तो अवसान में रेफ को विसर्जनीय आदेश हो। इससे रेफ के स्थान में विसर्जनीय हो के। पुरुषः। अब प्रथमाविभक्ति का द्विवचन। पुरुष-औ। इस अवस्था में † पूर्व पर को वृद्धि एकादेश होकर। पुरुषौ। सिद्ध हुआ। प्रथमा विभक्ति का बहुवचन। पुरुष-जस्। इस अवस्था में ॥ १८ ॥

४२३-चुटू ॥ १६ ॥ अ० १ । ३ । ७ ॥

जो प्रत्यय की आदि में चवर्ग और टवर्ग हों तो उनकी इत्संज्ञा हो। इससे जकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। पुरुष-अस्। इस अवस्था में ॥ १६ ॥

४२४-न विभक्तौ तुस्माः ॥ २० ॥ अ० १ । ३ । ४ ॥

जो विभक्तियों के अन्त में तवर्ग, स् और म्, हैं उनकी इत्संज्ञा न हो। इससे। पुरुष-अस्। यहां अन्त के सकार की इत्संज्ञा न हुई अब इस अवस्था में ॥ २० ॥

४२५-प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥ २१ ॥ अ० ६ । १ । १०१ ॥

जो अक्प्रत्याहार से परे प्रथमा और द्वितीया का अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो। जैसे। पुरुषास्। रुत्व विसर्जनीय होकर। पुरुषाः। अब द्वितीया विभक्ति का प्रथम वचन। पुरुष-अम्। इस अवस्था में ॥ २१ ॥

४२६-अमि पूर्वः ॥ २२ ॥ अ० ६ । १ । १०६ ॥

अक् प्रत्याहार से अम् का अच् परे हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्णरूप एकादश हो, जैसे। पुरुषम्। द्वितीया का द्विवचन। पुरुष-औट्। यहां ‡ टकार

* (इत्संज्ञा) उपदेशेऽजनुनासिक इत्, (लोपः) तस्य लोपः।

† (वृद्धिरेचि ादेशः) वृद्धिरेचि। सन्धि० ॥ १०७ ॥

‡ इसमें टकार अनुबन्ध सुट् प्रत्याहार के लिये है।

की इत्संज्ञा और लोप तथा औकार अकार को वृद्धि एकादेश होकर । पुरुषौ । हुआ । द्वितीया का बहुवचन । पुरुष–शस् । इस अवस्था में ॥ २२ ॥

४२७–लशक्वतद्धिते ॥ २३ ॥ अ० १ । ३ । ८ ॥

तद्धित से अन्यत्र प्रत्यय के आदि जो लकार शकार और कवर्ग उनकी इत्संज्ञा हो। इत्संज्ञक शकार का लोप हो गया । जैसे । पुरुष–अम् । इस अवस्था में पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो के । पुरुषा–स् ॥ २३ ॥

४२८–तस्माच्छसो नः पुंसि ॥ २४ ॥ अ० ६ । १ । १०२ ॥

किये हुए पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश से परे शस् प्रत्यय के सकार को नकार आदेश हो, जैसे । पुरुषान् । अब तृतीया विभक्ति का एकवचन । पुरुष–टा । इस अवस्था में ॥ २४ ॥

४२९–टाङसिङसामिनात्स्याः ॥ २५ ॥ अ० ७ । १ । १२ ॥

अदन्त अङ्ग से परे टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य, ये तीन आदेश हों, जैसे । पुरुष–इन । अब पूर्व पर को * गुण एकादेश होकर । पुरुषेन ॥ २५ ॥

४३०–अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥ २६ ॥ अ० ८ । ४ । २ ॥

एक पद में अट् प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इनके व्यवधान में भी जो रेफ् और षकार से परे नकार हो तो उसके स्थान में णकारादेश हो । जैसे । पुरुषेण । तृतीया विभक्ति का द्विवचन । पुरुष–भ्याम् । इस अवस्था में ॥ २६ ॥

४३१–यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम् ॥ २७ ॥ अ० १ । ४ । १३ ॥

जिस धातु वा प्रातिपदिक से परे प्रत्यय विधान करें उसकी तथा वह धातु वा प्रातिपदिक जिसके आदि में हो उसकी भी अङ्गसंज्ञा होती है । सु आदि सब प्रत्ययों के परे पूर्व की अङ्गसंज्ञा होती है ॥ २७ ॥

४३२–सुपि च ॥ २८ ॥ अ० ७ । ३ । १०२ ॥

जो यञादि सुप् परे हो तो अकारान्त अङ्ग को दीर्घ हो, जैसे । पुरुषाभ्याम् । तृतीया का बहुवचन । पुरुष–भिस् । इस अवस्था में ॥ २८ ॥

४३३–अतोभिस ऐस् ॥ २९ ॥ अ० ७ । १ । ९ ॥

* (गुणः) आद्गुणः । सन्धि० ॥ १०९ ॥

जो अकारान्त अङ्ग से परे भिस् हो तो उसको ऐस् आदेश हो । अनेकाल् होने से भिस् मात्र के स्थान में ऐस् हुआ । अब (१) वृद्धि, रुत्व और विसर्जनीय होकर । पुरुषैः ॥ २९ ॥

४३४–बहुलं छन्दसि ॥ ३० ॥ अ० ७ । १ । १० ॥

परन्तु वैदिकप्रयोगों में भिस् के स्थान में ऐस् आदेश बहुल करके होता है । जैसे । देवेभिः । देवैः । करणेभिः । करणैः । इत्यादि । सब अकारान्त शब्दों में दो २ रूप होंगे । चतुर्थी का एक वचन (पुरुष–ङे) इस अवस्था में ॥ ३० ॥

४३५–ङेर्यः ॥ ३१ ॥ अ० ७ । १ । १३ ॥

जो अकारान्त अङ्ग से परे ङे हो तो उसके स्थान में (य) आदेश हो । जैसे । पुरुष य । यहां भी (२) दीर्घ होकर । पुरुषाय । द्विवचन (पुरुष–भ्याम्) पुरुषाभ्याम् । बहुवचन । पुरुष–भ्यस् ॥ ३१ ॥

४३६–बहुवचने झल्येत् ॥ ३२ ॥ अ० ७ । ३ । १०३ ॥

बहुवचन में झलादि सुप् परे हो तो अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश हो । जैसे । पुरुषे–भ्यस् । (३) रुत्व विसर्जनीय होकर । पुरुषेभ्यः । पञ्चमी का एक वचन । पुरुष–ङसि । ङसि के स्थान में (४) आत् और उससे (५) सवर्ण दीर्घदेश होकर । पुरुषात् । पंचमी का द्विवचन । पुरुष–भ्याम् । पूर्ववत् दीर्घ होके । पुरुषाभ्याम् । बहुवचन । पुरुष–भ्यस् । पुरुषेभ्यः । षष्ठी का एकवचन । पुरुष–ङस् । इसके स्थान में उक्त सूत्र से स्य आदे होकर । पुरुषस्य । द्विवचन । पुरुष–ओस् ॥ ३२ ॥

४३७–ओसि च ॥ ३३ ॥ अ० ७ । ३ । १०४ ॥

ओस् विभक्ति परे हो तो अकारान्त अंग को एकार आदेश हो । इससे पुरुष के अन्त्य अकार को एकार होकर । पुरुषे–ओस् । हुआ । एकार को अय् और सकार को रुत्व विसर्जनीय होकर । पुरुषयोः । बहुवचन (आम्) पुरुष–आम् ॥ ३३ ॥

४३८–ह्रस्वनद्यापो नुट् ॥ ३४ ॥ अ० ७ । ३ । ५४ ॥

(१) (वृद्धिः)—वृद्धिरेचि, ससजुषोरुः ।
(२) (दीर्घः)—सुपिच ।
(३) (रुत्व) ससजुषोरुः, (विसर्ज्जनीयः) खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।
(४) (आत्)—टाङसिङसामिनात्स्याः ।
(५) (सवर्णदीर्घादेशः) अकःसवर्णे दीर्घः । सन्धि० १३३ ।

ह्रस्व स्वर, नदी संज्ञक ईकारान्त, ऊकारान्त और आकारान्त से परे आम् को नुट् का आगम हो। (१) टित्व धर्म से आम् के आदि में नुट् हुआ, जैसे। पुरुष नुट्—आम्। इस अवस्था में (२) उकार और टकार की इत्संज्ञा और लोप होकर (पुरुष—न्—आम्) आकार में नकार मिल के। पुरुषनाम् ॥ ३४ ॥

४३९—नामि ॥ ३५ ॥ अ० ६ । ४ । ३ ॥

नाम् अर्थात् जो षष्ठी का बहुवचन नुट् सहित आम् परे हो तो अजन्त अङ्ग को दीर्घादेश हो, जैसे। पुरुषनाम्। यहां नकार को (३) णकार हो के। पुरुषाणाम्। सप्तमी का एक वचन (ङी) पुरुष--ङि। (४) ङ् की इत्संज्ञा और लोप होकर अकार और इकार के स्थान में गुण एकादेश एकार हुआ। पुरुषे। द्विवचन। पुरुष—ओस्। पूर्ववत् एकार (५) अय् और स् को रुत्व विसर्जनीय होके। पुरुषयोः। सप्तमी का बहुवचन (सुप्) पुरुष—सुप्। अन्त्य हल् पकार की इत्संज्ञा और पूर्ववत् एकार होकर (पुरुषेसु) इस अवस्था में ॥ ३५ ॥

४४०—आदेशप्रत्यययोः ॥ ३६ ॥ अ० ८ । ४ । ५९ ॥

इण्प्रत्याहार और कवर्ग से परे आदेश और प्रत्यय के सकार को मूर्द्धन्य अर्थात् षकार आदेश हो, जैसे। पुरुषेषु ॥ ३६ ॥

४४१—सम्बोधने च ॥ ३७ ॥ अ० २ । ३ । ४७ ॥

(६) सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति हो। प्रातिपदिकार्थ से संबोधन अर्थ अधिक होने से (७) पूर्व सूत्र से प्रथमा विभक्ति प्राप्त न थी इसलिये यह सूत्र कहा ॥ ३७ ॥

४४२—सामन्त्रितम् ॥ ३८ ॥ अ० २ । ३ । ४८ ॥

सम्बोधन में जो प्रथमा तदन्त शब्द स्वरूप आमन्त्रित संज्ञक हो ॥ ३८ ॥

४४३—एकवचनं सम्बुद्धिः ॥ ३९ ॥ अ० २ । ३ । ४९ ॥

आमन्त्रित प्रथमा विभक्ति के एक वचन की संबुद्धिसंज्ञा हो। जैसे। पुरुष—सु। उकार की इत्संज्ञा होके। पुरुष—स्। इस अवस्था में ॥ ३९ ॥

---

(१) (टित्व आदि में) आद्यन्तौ टकितौ। सन्धि० ८० इससे हुआ।
(२) (उकारेत्संज्ञा) उपदेशेऽजनुनासिक इत्। (टकारेत्संज्ञा) हलन्त्यम्। सन्धि० १६।
(३) (णकार) अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि।
(४) (ङ् की इत्संज्ञा) लशक्वतद्धिते।
(५) (अय्) एचोऽयवायावः। सन्धि० १७९।
(६) (सम्बोधन) अत्यन्त चेताने को कहते हैं।
(७) प्रातिपदिकार्थ लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा।

४४४–एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ॥ ४० ॥ अ० ६ । १ । ६९ ॥

जो एङन्त और ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से परे संबुद्धि का हल् हो तो उसका लोप हो । संबोधन अर्थ दिखाने के लिये । हे, है, अङ्ग, भोस्, ओ । इत्यादिक शब्द भी संबोधन प्रथमान्त शब्द के साथ रहते हैं । जैसे । हे पुरुष । हे पुरुषौ । हे पुरुषाः । वा पुरुषः पुरुषौ पुरुषाः (१) । इसी प्रकार परमेश्वर, शिव, कृष्ण, वृक्ष, घट, पट, ग्रन्थ, वेद, न्याय, धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, व्यवहार, परमार्थ, इत्यादि । अकारान्त पुलिङ्ग शब्दों के रूप जानने चाहिये ॥ ४० ॥

अथ नियतनपुंसकलिङ्गधनशब्दः ॥

धन शब्द का पूर्ववत् प्रातिपदिकसंज्ञा आदि कार्य होकर । धन–सु । इस अवस्था में ॥

४४५--अतोऽम् ॥ ४१ ॥ अ० ७ । १ । २४ ॥

अकारान्त अङ्ग से परे सु और अम् विभक्तियों के स्थान में अम् आदेश हो इस अम् करने का यही प्रयोजन है कि (२) सु और अम् का लुक् पाता है सो न हो । धनम् । धन–औ ॥ ४१ ॥

४४६--नपुंसकाच्च ॥ ४२ ॥ अ० ७ । १ । १९ ॥

जो अकारान्त नपुंसकलिङ्ग से परे (३) औङ् हो तो उसके स्थान में शी आदेश हो । जैसे । धन–शी । श् की इत्संज्ञा हो के । धन–ई । इस अवस्था में (आद्गुणः) इस सूत्र से गुण हो के । धने । धन–जस् ॥ ४२ ॥

४४७–जश्शसोःशिः ॥ ४३ ॥ अ० ७ । १ । २० ॥

जो अकारान्त नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिक से परे जस् और शस् विभक्ति हों तो उनके स्थान में शि आदेश हो, जैसे । धन–शि ॥ ४३ ॥

४४८–शि सर्वनामस्थानम् ॥ ४४ ॥ अ० १ । १ । ५६ ॥

शि सर्वनामस्थान संज्ञक हो । शकार की इत्संज्ञा होके । धन–इ । इस अवस्था में गुण (४) प्राप्त हुआ उसको बाध के ॥ ४४ ॥

---

(१) पुरुषः पुरुषौ पुरुषाः, पुरुषं पुरुषौ पुरुषान्, पुरुषेण पुरुषाभ्याम् पुरुषैः, पुरुषाय पुरुषाभ्याम् पुरुषेभ्यः, पुरुषात् पुरुषाभ्याम् पुरुषेभ्यः, पुरुषस्य पुरुषयोः पुरुषाणाम्, पुरुषे पुरुषयोः पुरुषेषु, हे पुरुष! हे पुरुषौ हे पुरुषाः ।

(२) (स्वमोर्नपुंसकात्) इस सूत्र से लुक् प्राप्त था ।

(३) औङ् यह प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन की सूचना है ।

(४) (गुणः) आद्गुणः । सन्धि० १३६ ॥

४४९—नपुंसकस्य झलचः ॥ ४५ ॥ अ० ७ । १ । ७२ ।

जो सर्वनामस्थान परे हो तो झलन्त और अजन्त नपुंसकलिङ्ग को नुम् का आगम हो । धन-नुम्-इ । यहां मकार और उकार की इत्संज्ञा होके । धन-नि । ऐसा हुआ इस अवस्था में ॥ ४५ ॥

४५०—सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ ॥ ४६ ॥ अ० ६ । ४ । ८ ॥

जो संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो । इस धन शब्द के अन्त को दीर्घ हो के । धनानि । धन-अम् । यहां अम् विभक्ति का लुक् नहीं होता है, किन्तु उसके स्थान में पूर्ववत् अम् आदेश होके प्रथमा विभक्ति के तुल्य । धनम् । धने । धनानि । तृतीया विभक्ति से लेके सब विभक्तियों में पुरुष शब्द के समान प्रयोग समझना चाहिये, जैसे । धनेन । धनाभ्याम् । धनैः । धनाय । धनाभ्याम् । धनेभ्यः । धनात् । धनाभ्याम् । धनेभ्यः । धनस्य । धनयोः । धनानाम् । धने । धनयोः । धनेषु । संबोधन चेतन ही में घट सकता है इसलिये इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते । वस्त्र, शस्त्र, पात्र, बल, बन, जल, सलिल, गृह, इत्यादि । नियत नपुंसकलिङ्गों के भी रूप धन शब्द के समान जानना चाहिये । अकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द कोई भी नहीं है। क्योंकि स्त्रीलिंग में अकारान्त से टाप् वा ङीप् आदि प्रत्यय होजाते हैं, जो अकारान्त धर्म्म शब्द पुल्लिंग और नपुंसकलिंग में है । उसके रूप भी पुरुष और धन शब्द के समान जानना चाहिये । जैसे । धर्म्मः । धर्मौ । धर्माः । धर्मम् । धर्मौ । धर्मान् । धर्मेण । धर्माभ्याम् । धर्मैः । धर्माय । धर्माभ्याम् । धर्मेभ्यः । धर्मात् । धर्माभ्याम् । धर्मेभ्यः । धर्मस्य । धर्मयोः । धर्माणाम् । धर्मे । धर्मयोः । धर्मेषु ॥ नपुंसकलिंग में । धर्मम् । धर्मे । धर्माणि । धर्मम् । धर्मे । धर्माणि । इत्यादि ॥ ४६ ॥

अथ आकारान्तः सोमपा शब्दः ॥

सोम ओषधियों के रस को कहते हैं उसको जो पीये वा उसकी रक्षा करे उसका नाम (सोमपा) है यह (सोमपा) शब्द विशेष के अनुसार तीनों लिंगों में होता है, जैसे । सोमपाः पण्डितः । सोमपा स्त्री । सोमपं कुलम् । उनमें से प्रथम पुल्लिंग जैसे । सोमपा-सु । इत्संज्ञा और विसर्जनीय होके । सोमपाः । सोमपा-औ । वृद्धि एकादेश होके । सोमपौ । सोमपा-जस् । जकार की इत्संज्ञा और लोप तथा सकार को विसर्जनीय और एकादेश होके । सोमपाः । यहां एक

वचन और बहुवचन में भेद तभी होगा कि जब इसके साथ विशेषवाची का निर्देश किया जायगा। जैसे। सोमपाः पण्डितः। सोमपाः पण्डिताः। सोमपा–अम्। पूर्वसवर्ण एकादेश होके। सोमपाम्। सौमपौ। पूर्ववत्। सोमपा–शस्। इस अवस्था में ॥ ४६ ॥

४५१–यचि भम् ॥ ४७ ॥ अ० १। ४। १८ ॥

यादि अजादि सर्वनामस्थान भिन्न कप् (१) प्रत्ययावधिस्वदि प्रत्यय परे हों तो पूर्व की भ संज्ञा हो ॥ ४७ ॥

४५२–आतोधातोः ॥ ४८ ॥ अ० ६। ४। १४०॥

भ संज्ञक आकारान्त धातु का लोप हो। जो आदेश सामान्य से विधान किया जाता है वह (अलोन्त्यस्य) इस परिभाषा बल से अन्त्य वर्ण के स्थान में समझना चाहिये। सोमपा शब्द में (पा) आकारान्त धातु है इसके अन्त्य आकार का लोप होके। सोमपः। सोमपा। सोमपाभ्याम्। सोमपाभिः। सोमपे। सोमपाभ्याम्। सोमपाभ्यः। सोमपः। सोमपाभ्याम्। सोमपाभ्यः। सोमपः। सोमपोः। सोमपाम्। सोमपि। सोमपोः। सोमपासु। संबोधन में कुछ विशेष नहीं। हे सोमपाः। हे सोमपौ। हे सोमपाः। स्त्रीलिंग में भी सोमपा शब्द के प्रयोग ऐसे ही होते हैं परन्तु नपुंसकलिङ्ग में भी कुछ विशेषता है। सोमपा–सु। इस अवस्था में ॥ ४८॥

४५३--ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥ ४९ ॥ अ० १। २। ४७ ॥

जो नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान अजन्त प्रातिपदिक है उसको ह्रस्वादेश हो, जैसे। सोमप–सु। अब सब विभक्तियों में धन शब्द के समान सब कार्य समझना चाहिये। जैसे। सोमपम्। सोमपे। सोमपानि। सोमपम्। सोमपे। सोमपानि। सोमपेन। सोमपाभ्याम्। सोमपैः। सोमपाय। सोमपाभ्याम्। सोमपेभ्यः। सोमपात्। सोमपाभ्याम्। सोमपेभ्यः। सोमपस्य। सोमपयोः। सोमपानाम्। सोमपे। सोमपयोः। सोमपेषु। इसी प्रकार गोजाः। प्रथमजाः। गोषाः। कूपखाः। दधिक्राः। आज्यपाः। कीलालपाः। इत्यादि शब्दों के भी प्रयोग तीनों लिंगों में समझना चाहिये। आकारान्त कन्या शब्द। कन्या–सु। इस अवस्था में ॥ ४९ ॥

४५४–हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ॥ ५० ॥ अ० ६। १। ६८ ॥

हलन्त और दीर्घ ङीप् ङीष् ङीन्। टाप् डाप् चाप् ये जिनके अन्त में हों उन

(१) कप् प्रत्ययावधि पंचमाध्याय के उरःप्रभृतिभ्यः कप्, इस सूत्र तक प्रत्यय लेना चाहिये।

से परे जो सु, ति, सि, इनका अपृक्त हल् उस का लोप हो, जैसे । कन्या । कन्या—औ । इस अवस्था में ॥ ५० ॥

४५५—औङ आपः ॥ ५१ ॥ अ० ७ । १ । १८ ॥

जो आबन्त अङ्ग से परे (१) औङ् हो तो उसको शी आदेश हो । शकार की इत्संज्ञा और गुण हो के । कन्ये । कन्या—जस् । जकार की इत्संज्ञा पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश रुत्व विसर्ज्जनीय होके । कन्याः । कन्या—अम् । पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होके । कन्याम् । कन्या—औट् । पूर्ववत् । कन्ये । कन्या—शस् । शकार की इत्संज्ञा । पूर्वसवर्ण दीर्घ रुत्व और विसर्ज्जनीय होके । कन्याः । कन्या—टा । इस अवस्था में ॥ ५१ ॥

४५६—आङि चाऽऽपः ॥ ५२ ॥ अ० ७ । ३ । १०५ ॥

आवन्त अङ्ग से परे टा विभक्ति हो तो उसको एकार हो, जैसे । कन्ये—टा । टकार की इत्संज्ञा होके, कन्ये—आ । इस अवस्था में अय् आदेश होकर । कन्यया । कन्याभ्याम् । कन्याभिः । कन्या—ङे । इस अवस्था में ॥ ५२ ॥

४५७—याडापः ॥ ५३ ॥ अ० ७ । ३ । ११३ ॥

आवन्त अङ्ग से परे ङित् प्रत्यय को, याट का आगम हो । जैसे । कन्या-याट्—ङे । टकार ङकार की इत्संज्ञा और लोप तथा इससे वृद्धि एकादेश होके । कन्यायै । कन्याभ्याम् । कन्याभ्यः । कन्यायाः । कन्याभ्याम् । कन्याभ्यः । कन्यायाः । कन्या—ओस् । यहां एकार आदेश, अय्, रुत्व और विसर्ज्जनीय होके । कन्ययोः । कन्या—आम् । (२) कन्यानाम् । कन्या—याट्—ङि । इस अवस्था में ॥ ५३ ॥

४५८—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ॥ ५४ ॥ अ० ७ । ३ । ११६ ॥

आबन्त नदीसंज्ञक और नी इन अङ्गों से परे ङि के स्थान में आम् आदेश हो, जैसे । कन्याया—आम् । यहां एकादेश होके । कन्यायाम् । कन्ययोः । कन्यासु । संबोधन में इतना विशेष है कि । कन्या—सु । पूर्ववत् सकार का लोप हो के ॥ ५४ ॥

४५९—सम्बुद्धौ च ॥ ५५ ॥ अ० ७ । ३ । १०६ ॥

सम्बुद्धि परे हो तो आवन्त अंग को एकार आदेश हो, जैसे । हे कन्ये २ । हे

(१) औङ् यह प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन की सूचना है ।
(२) ह्रस्वनद्यापो नुट्, इससे नुट् होगया ।

कन्याः (१) । इसी प्रकार प्रजा, जाया, छाया, माया, मेधा, अजा, इत्यादि आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग जानना चाहिये, परन्तु जरा शब्द में कुछ विशेष है ॥ ५५ ॥

४६०–जराया जरसन्यतरस्याम् ॥ ५६ ॥ अ० ७।२।१०१ ॥

अजादि विभक्तियों के परे जरा शब्द को जरस् आदेश हो । विकल्प करके, जरा । जरसौ । जरे । जरसः । जराः । इत्यादि ॥ ५६ ॥

इकारान्तनियतपुल्लिङ्ग अग्निशब्द ॥

पूर्वत् सब कार्य होकर । अग्निः । अग्नि–औ । यहां (२) पूर्वसवर्ण दीर्घ एकदेश ईकार होके । अग्नी । अग्नि–जस् । इस अवस्था में जकार की इत्संज्ञा हो के ॥

४६१–जसि च ॥ ५७ ॥ अ० ७ । ३ । १०१ ॥

जो जस् प्रत्यय के परे पूर्व ह्रस्वान्त अङ्ग हो तो उसको गुण हो । इससे इकार को एकार गुण और एकार को अय् आदेश होकर । अग्नयः ॥ ५७ ॥

४६२–वा०जसादिषु छन्दसि वा वचनं प्राङ्णौ चङ्युपधायाः॥५८॥

जस आदि विभक्तियों में इस प्रकरण में जो कार्य कहे हैं वे वेद में विकल्प कर के हों, जैसे । गुण का विकल्प । अग्नयः । (३) अग्न्यः । शतक्रतवः । शतक्रत्वः । पश्वे । पशवे । अग्नि–अम् । यहां अमिपूर्वः । इस सूत्र से पूर्वरूप हो के । अग्निम् । अग्नि–औ । पूर्ववत् । अग्नी । अग्नि–शस् । पूर्वसवर्ण दीर्घ और सकार को नकारादेश हो के अग्नीन् । अग्नि–टा ॥ ५८ ॥

४६३–आङो ना स्त्रियाम् ॥ ५९ ॥ अ० ७ । ३ । १२० ॥

जो घिसंज्ञक अङ्ग से परे आङ् अर्थात् टा विभक्ति हो तो उसके स्थान में ना, आदेश हो स्त्रीलिङ्ग में न हो । अग्निना । अग्निभ्याम् । अग्निभिः । अग्नि–ङे ॥ ५९ ॥

४६४--शेषो घ्यसखि ॥ ६० ॥ अ० १ । ४ । ७ ॥

शेष अर्थात् जिनकी नदी संज्ञा न हो ऐसे जो ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द हैं उनकी घिसंज्ञा हो इससे अग्नि शब्द की घिसंज्ञा होके ॥ ६० ॥

---

(१) कन्या कन्ये कन्याः, कन्यां कन्ये कन्याः, कन्यया कन्याभ्याम् कन्याभिः, कन्यायै कन्याभ्याम् कन्याभ्यः, कन्यायाः कन्ययोः कन्यानाम्, कन्यायाम् कन्ययोः कन्यासु, हे कन्ये हे कन्ये हे कन्याः ॥

(२) (पूर्वसवर्ण०) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ।

(३) जहां गुण नहीं होता है वहां (इको यणचि) सन्धि १७८ इससे यण आदेश होजाता है ॥

४६५–घेर्ङिति ॥ ६१ ॥ अ० ७ । ३ । १११ ॥

ङित्प्रत्यय परे हो तो घ्यन्त अङ्ग को गुणादेश हो । उसको अय् आदेश हो के । अग्नये । अग्निभ्याम् । अग्निभ्यः । अग्नि–ङसि । ङकार की इत्संज्ञ और इकार को गुण हो के । अग्ने–अस् । इस अवस्था में ॥ ६१ ॥

४६६–ङसि ङसोश्च ॥ ६२ ॥ अ० ६ । १ । १०६ ॥

जो पदान्त एङ् से परे ङस् सम्बन्धी अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो, जैसे। अग्नेः । अग्निभ्याम् । अग्निभ्यः । अग्नेः । अग्नि–ओस् । यहां य् आदेश हो गया । अग्न्योः । अग्नि–आम् । यहां (१) नुट् और दीर्घ हो कर । अग्नीनाम् । सिद्ध हुआ । अग्नि–ङि । इस अवस्था में ॥ ६२ ॥

४६७–अच्च घेः ॥ ६३ ॥ अ० ७ । ३ । ११६ ॥

जो घिसंज्ञक इकारान्त उकारान्त शब्द से परे ङि विभक्ति हो तो उसके स्थान में औकार और घिसंज्ञक शब्द के इकार उकार को अकारादेश हो, जैसे । अग्नि—औ । वृद्धि एकादेश हो के । अग्नौ । अग्न्योः । अग्निषु । संबोधन । अग्नि--सु । यहां संबुद्धिसंज्ञा हो के ॥ ६३ ॥

४६८–ह्रस्वस्य गुणः ॥ ६४ ॥ अ० ७ । ३ । १०८ ॥

संबुद्धि परे हो तो ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो । इससे गुण हो के (एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः) इस सूत्र से सकार का लोप हुआ । हे अग्ने । हे अग्नी ! हे अग्नयः । यहां संहिता क्यों नहीं होती सो (हैहे प्रयोगे हैहयोः) (२) इस सूत्र से हे की प्लुतसंज्ञा हो के उसको (३) प्रकृतिभाव हो जाता है इसी प्रकार वन्हि । रवि । इत्यादि इकारान्त पुल्लिङ्गशब्दों का साधुत्व विषय जानना चाहिये । परन्तु पति शब्द में इतना विशेष है ॥ ६४ ॥

४६९–पतिःसमास एव ॥ ६५ ॥ अ० १ । ४ । ८ ॥

पति शब्द समास ही में घिसंज्ञक हो । इससे समास से अन्यत्र पति शब्द को घिसंज्ञा के कार्य नहीं होते । पत्या । पत्ये । पति–ङसिं । यहां पत्यस् । इस अवस्था में ॥ ६५ ॥

---

(१) (नुट्) ह्रस्वनद्यापो नुट् 'दीर्घ' नामि ।
(२) यह सूत्र अष्टमाध्याय में प्लुत प्रकरण में कहा है ।
(३) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् , सन्धि० १७० ।

४७०—ख्यत्यात्परस्य ॥ ६६ ॥ अ० ६ । १ । १११ ॥

जो ख्य और त्य इनसे परे ङस् सम्बन्धी अकार हो तो उसको पूर्वरूप उकार आदेश हो । पत्युः । पति–ङि । ङि को (१) औकार आदेश हो गया । पत्यौ । और सखि शब्द में विशेष यह है कि । सखि–सु ॥ ६६ ॥

४७१—अनङ् सौ ॥ ६७ ॥ अ० ७ । १ । ९३ ॥

जो संबुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे हो तो सखि शब्द को अनङ् आदेश हो, अनङ् आदेश के (अ, ङ्) इनकी इत्संज्ञा और लोप तथा (२) दीर्घ होकर । सखान्–सु । 'हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात्' इस सूत्र से सु का लोप और ॥ ६७ ॥

४७२—न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥ ६८ ॥ अ० ८ । २ । ७ ॥

प्रातिपदिकान्त पद के नकार का लोप हो इस सूत्र से नकार का लोप होके । सखा । सखि–औ । इस अवस्था में ॥ ६८ ॥

४७३—सख्युरसंबुद्धौ ॥ ६९ ॥ अ० ७ । १ । ९२ ॥

असंबुद्धि में जो सखि शब्द उससे परे जो सर्वनामस्थान सो णित् हो । इस से णित् होकर ॥ ६९ ॥

४७४—अचोञ्णिति ॥ ७० ॥ अ० ७ । २ । ११५ ॥

ञित् और णित् प्रत्यय परे हों तो अजंत अंग को वृद्धि हो, जैसे । सखै–औ । अब ऐकार को आय् आदेश होके । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । आगे पति शब्द के समान । सखीन् । सख्या । सख्ये । सख्युः । सख्युः । सख्यौ । इत्यादि, पतिशब्द का वेद में कुछ विशेष है ॥ ७० ॥

४७५—षष्ठी युक्तश्छन्दसि वा ॥ ७१ ॥ अ० १ । ४ । ९ ॥

षष्ठीयुक्त जो पति शब्द उसकी घिसंज्ञा वेद में विकल्प करके हो, जैसे । भूतानां पतये नमः । भूतानां पत्ये नमः ॥ ७१ ॥

ह्रस्व इकारान्त नियतनपुंसकलिङ्ग वारि शब्द ॥

वारि–सु । इस अवस्था में ॥

४७६—स्वमोर्नपुंसकात् ॥ ७२ ॥ अ० ७ । १ । २३ ॥

जो नपुंसकलिङ्ग से परे सु और अम् हों तो उनका लोप हो । वारि । वारि–औ ।

(१) (ङि को औकार) इदुद्भ्यामौत् इससे हुआ ॥
(२) (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥

यहां नपुंसकाच्च । इस सूत्र से औकार के स्थान में शी आदेश और शकार की इत्संज्ञा हो के । वारि–ई । इस अवस्था में ॥ ७२ ॥

४७७--इकोऽचिविभक्तौ ॥ ७३ ॥ अ० ७ । १ । ७३ ॥

जो अजादि विभक्ति परे हो तो इगन्त नपुंसक अंग को नुम् का आगम हो। नुम् हो के । वारिणी । वारि--जस् । यहां शि (१) आदेश और दीर्घ (२) हो के । वारीणि । फिर भी द्वितीया विभक्ति में । वारि । वारिणी । वारीणि । वारिणा । वारिभ्याम् । वारिभिः । वारिणे । वारिभ्याम् । वारिभ्यः । वारिणः । वारिभ्याम् । वारिभ्यः । वारिणः । वारिणोः । वारि--आम् । यहां नुट् और नुम् दोनों की प्राप्ति में पूर्वविप्रतिषेध से नुट् (३) होता है । यदि नुम् हो तो पूर्वान्त होने से दीर्घ न हो । वारीणाम् । वारिणि । वारिणोः । वारिषु (४) । इसके संबोधन में प्रयोग नहीं बनते क्योंकि वारि शब्द से जल का ग्रहण होता है । उसके जड़ होने से संबोधन नहीं बन सकता । इसी प्रकार और भी सब नियत नपुंसकलिङ्ग इकारान्त अतिरि आदि शब्दों का साधुत्व जानना चाहिये। परन्तु अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि, इन चार नपुंसकलिङ्ग इकारान्त शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं उनको लिखते हैं। अस्थि । अस्थिनी । अस्थीनि । फिर भी । अस्थि । अस्थिनी । अस्थीनि । अस्थि--टा । इस अवस्था में ॥ ७३ ॥

४७८–अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ॥ ७४ ॥ अ० ७ । १ । ७५ ॥

तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे अस्थि दधि सक्थि अक्षि शब्दों को अनङ् आदेश हो । जैसे । अस्थनङ्–टा । इस अवस्था में अ, ङ्, ट्, इनकी इत्संज्ञा हो के लोप होगया उक्त (५) अजादि विभक्तियों में (अस्थन्) इसकी भ संज्ञा होके॥ ७४॥

४७९–अल्लोपोऽनः ॥ ७५ ॥ अ० ६ । ४ । १३४ ॥

अजादि विभक्तियों के परे अन्नन्त भसंज्ञक अंगके अकार का लोप हो। इससे सकारोत्तर अकार का लोप हो गया । जैसे । अस्थ्न्–आ . । स्थ्, न्, टा के

---

(१) (शि) आदेश जश्शसोः शिः ॥

(२) (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥

(३) (नुम्) 'इकोचि विभक्तौ' इससे प्राप्त हुआ तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इससे नुट् प्राप्त हुआ इन दोनों की युगपत प्राप्ति में 'विप्रतिषेधे परं कार्य्यम्' । सन्धि० ११७ ॥ इस परिभाषा से पर कार्य्य नुम् ही पाया उस नुम् को 'नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इस वार्त्तिक बल से नुम् बाध के पूर्वकार्य्य नुट् होता है ॥

(४) वारि वारिणी वारीणि, वारि वारिणी वारीणि, वारिणा वारिभ्याम् वारिभिः, वारिणे वारिभ्याम् वारिभ्यः, वारिणः वारिभ्याम् वारिभ्यः, वारिणः वारिणोः वारीणाम्, वारिणि वारिणोः वारिषु ॥

(५) अजादि विभक्ति टा, ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस् ॥

आकार में मिल के। अस्थ्ना। अस्थ्ने। अस्थ्नः। अस्थ्नः। अस्थ्नोः। अस्थ्नाम्। अस्थन्-ङि ॥ ७५ ॥

४८०—विभाषा ङिश्योः ॥ ७६ ॥ अ० ६ । ४ । १३६ ॥

ङि और शि विभक्ति के परे भ संज्ञक अन्नन्त अङ्ग के अकार का लोप विकल्प करके हो। अस्थ्नि। अस्थनि। अस्थ्नोः। हलादि विभक्तियों के परे वारि शब्द के समान जानना चाहिये। अस्थि आदि शब्दों की व्यवस्था कुछ वेद में विशेष है ॥७६॥

४८१—छन्दस्यपि दृश्यते ॥ ७७॥ अ० ७ । १ । ७६ ॥

वेद में भी अस्थि आदि शब्दों में उदात्त अनङ् आदेश देखने में आता है। यहां प्रयोजन यह है कि अनङ् आदेश नियम से कहा है। उससे अन्यत्र भी देखने में आता है, जैसे। इन्द्रो दधीचो अस्थभिः। भद्रं पश्येमाक्षभिः। अस्थान्युत्कृत्य जुहोति। इत्यादि ॥ ७७ ॥

४८२-ई च द्विवचने ॥ ७८ ॥ अ० ७ । १ । ७७ ॥

द्विवचन विभक्ति के परे अस्थि आदि शब्दों को उदात्त ईकार आदेश वेद में होता है। अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले। अस्थीभ्याम्। दधीभ्याम्। सक्थीभ्याम्। अक्षीभ्यां। तेनास्थिभ्याम्। (१) इत्यादि ॥ ७८ ॥

इकारान्तनिम्नस्त्रीलिङ्गवेदिशब्द ॥

वेदिः। वेदी। वेदयः। वेदिम्। वेदी। वेदीः। वेद्या। वेदिभ्याम्। वेदिभिः। वेदि-ङे। इस अवस्था में ॥

४८३—ङिति ह्रस्वश्च ॥ ७९ ॥ अ० १ । ४ । ६ ॥

स्त्रीलिङ्ग के वाचक ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्द और जिनके स्थान में इयङ् उवङ् होते हैं ऐसे जो दीर्घ ईकारान्त ऊकारान्त शब्द हैं उनकी नदी संज्ञा विकल्प करके हो। दूसरे पक्ष में ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की घिसंज्ञा भी होती है। इस कारण वेदिशब्द की नदी और घि दोनों संज्ञा होती हैं। प्रथम नदी संज्ञा होकर ॥ ७९ ॥

४८४—आण्नद्याः ॥ ८० ॥ अ० ७ । ३ । ११२ ॥

---

(१) अस्थि। अस्थिनी। अस्थीनि। अस्थि। अस्थिनी। अस्थीनि। अस्थ्ना। अस्थिभ्याम्। अस्थिभिः। अस्थ्ने। अस्थिभ्याम्। अस्थिभ्यः। अस्थ्नः। अस्थिभ्याम्। अस्थिभ्यः। अस्थ्नः। अस्थ्नोः। अस्थ्नाम्। अस्थ्नि। अस्थनि। अस्थिषु। वेदे। अस्थी। अस्थानि। अस्थीभ्याम्। अस्थभिः। ईदृशान्यपि ॥

नद्यन्त अंग से परे ङित् विभक्ति को आट् का आगम हो । वेदि–आट्–ङे । यण् और वृद्धि एकादेश होके । वेद्यै । जिस पक्ष में नदीसंज्ञा न हुई वहां घिसंज्ञा होके । वेदि–ङे । यहां अग्नि शब्द के समान गुण और अय् आदेश होके । वेदये । वेदिभ्याम् । वेदिभ्यः । वेदि–आट्–ङसि (ट्, ङ्, इ) इनकी इत्संज्ञा हो के । वेद्याः । घिसंज्ञा पक्ष में । वेदेः । वेदिभ्याम् । वेदिभ्यः । वेदि–आट्–ङस् । पूर्ववत् । वेद्याः । वेदेः । वेद्योः । वेदि–आम् । यहां (१) नुट् होके । वेदीनाम् । वेदि-ङि । नदीसंज्ञा में । वेदि–आट्–आम् । वेद्याम् । घिसंज्ञा में । वेदौ । वेद्योः । वेदिषु (२) । इसी प्रकार श्रुति, स्मृति, बुद्धि, धृति, कृति, वापि, हानि, रुचि, भूमि और धूलि आदि शब्दों का साधुत्व जानना चाहिये ॥ ८० ॥

ईकारान्त पुंल्लिङ्ग सेनानी शब्द ॥

सेनानी–सु । उकार का लोप रुत्व और विसर्जनीय होके । सेनानीः । सेनानी–औ ॥

४८५–एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥ ८१ ॥ अ० ६ । ४ । ८२ ॥

जिससे धातु का अवयव पूर्व संयोग न हो ऐसा जो इवर्ण है तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अच् परे हो तो यणादेश हो । सेनान्यौ । सेनान्यः । सेनान्यम् । सेनान्यौ । सेनान्यः । सेनान्या । सेनानीभ्याम् । सेनानीभिः । सेनान्ये । सेनानीभ्याम् । सेनानीभ्यः । सेनान्यः । सेनानीभ्याम् । सेनानीभ्यः । सेनान्यः । सेनान्योः । सेनान्याम् । सेनानी–ङि । यहां नी से परे ङि को आम् (३) आदेश होके सेनान्याम् । सेनान्योः । सेनानीषु । संबोधन में यहां कुछ विशेष नहीं है । हे सेनानीः । हे सेनान्यौ । हे सेनान्यः । इसी प्रकार ग्रामणी, अग्रणी, यज्ञनी, सुधी, इत्यादि शब्दों के रूप भी जानना । परन्तु ग्रामणी शब्दमें यह विशेष है कि ॥ ८१ ॥

४८६–श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥ ८२ ॥ अ० ७ । १ । ५६ ॥

वेद में श्री और ग्रामणी शब्द से परे आम् हो तो उसको नुट् आगम होता है ।

---

(१) नदी संज्ञा मान के 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इससे नुट् हुआ ॥

(२) वेदिः । वेदी । वेदयः । वेदिम् । वेदी । वेदीः । वेद्या । वेदिभ्याम् । वेदिभिः । वेद्यै । वेदये । वेदिभ्याम् । वेदिभ्यः । वेद्याः । वेदेः । वेदिभ्याम् । वेदिभ्यः । वेद्याः । वेदेः । वेद्योः । वेदीनाम् । वेद्याम् । वेदौ । वेद्योः । वेदिषु ॥

(३) (आम्) ङेराम् नद्याम् नीभ्यः ॥

जैसे । (१) श्रीणाम् । ग्रामणीनाम् । और सुधी शब्द में यह विशेष है कि । सुधी-सु । सुधीः । (२) सुधी-औ ॥ ८२ ॥

४८७-न भूसुधियोः ॥ ८३ ॥ अ० ६ । ४ । ८५ ॥

अजादि विभक्ति के परे भू और सुधी शब्द को यणादेश न हो । यणादेश के निषेध होने से इयङ् उवङ् आदेश होते हैं । सुधियौ । सुधियः । सुधियम् । सुधियौ । सुधियः । सुधिया । सुधिये । सुधियः । सुधियः । सुधियाम् । सुधियि । सुधियोः । सुधीषु । संबोधन में यहां भी कुछ विशेष नहीं । भू शब्द का साधुत्व आगे आवेगा । सुधी और भू शब्द का वेद में यह विशेष है कि ॥ ८३ ॥

४८८-छन्दस्युभयथा ॥ ८४ ॥ अ० ६ । ४ । ८६ ॥

वैदिक प्रयोग विषय में अजादि विभक्तियों के परे भू और सुधी शब्द को यणादेश विकल्प करके हो । सुध्यौ । सुधियौ । सुध्यः । सुधियः । इत्यादि । सेनानी आदि शब्द यदि स्त्रीलिंग के विशेषण हों तो इनके प्रयोगों में कुछ विशेषता नहीं है और नपुंसकलिंग हों तो इनके प्रयोग वारि शब्द के समान होते हैं । क्योंकि नपुंसकलिंग में उक्त शब्द ह्रस्व इकारान्त हो जाते हैं । अब जो शब्द नियतस्त्रीलिंग ईकारान्त हैं उनके विषय में लिखते हैं ॥ ८४ ॥

अथ नियत ईकारान्त स्त्रीलिंग कुमारी शब्द ॥

कुमारी-सु । यहां उकार की इत्संज्ञा और लोप तथा ङीबन्त से अपृक्त हल् सु (३) का लोप होकर । कुमारी । कुमारी-औ ॥ ८४ ॥

४८९-दीर्घाज्जसि च ॥ ८५ ॥ अ० ६ । १ । १०४ ॥

दीर्घ से परे जस् वा इजादि विभक्ति हों तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश न हो । यहां कुमारी दीर्घ ईकारान्त शब्द है इससे पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होकर यणादेश होता है, जैसे । कुमार्य्यौ । कुमार्यः । दीर्घ ईकारान्त तथा ऊकारान्त शब्दों का जस् विभक्ति के परे वेद में यह विशेष है ॥ ८५ ॥

---

(१) श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् । अन्यत्र सूतग्रामणीनाम् । ग्रामणीः । ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । ग्रामण्यम् । ग्रामण्यौ । ग्रामण्यः । ग्रामण्या । ग्रामणीभ्याम् । ग्रामणीभिः । ग्रामण्ये । ग्रामणीभ्याम् । ग्रामणीभ्यः । ग्रामण्यः । ग्रामणीभ्याम् । ग्रामणीभ्यः । ग्रामण्यः । ग्रामण्योः । ग्रामण्याम् । ग्रामण्याम् । ग्रामण्योः । ग्रामणीषु । हे ग्रामणीः । हे ग्रामण्यौ । हे ग्रामण्यः ॥

(२) सुष्ठु ध्यायतीति सुधीः पण्डितः, सुष्ठु ध्यायति या सुष्ठु धीर्यस्या वेति विग्रहे श्रीवत् ॥

(३) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥

४६०—वाछन्दसि ॥ ८६ ॥ अ० ६ । १ । १०५ ॥

जो दीर्घ से परे जस् हो तो उसको पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश विकल्प करके हो। जैसे। कुमारीः। कुमार्य्यः। बधूः। बध्वः। इत्यादि। कुमारीम्। कुमार्य्यौ। कुमारीः। कुमार्य्या। कुमारीभ्याम्। कुमारीभिः। कुमारी-ङे। यहां ॥ ८६ ॥

४६१—यूस्त्र्याख्यौ नदी ॥ ८७ ॥ अ० १ । ४ । ३ ॥

जो स्त्रीलिंग के वाचक ईकारान्त शब्द हैं उनकी नदी संज्ञा हो। (१) कुमार्य्यै। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमार्योः। कुमारी—आम्। (२) नुट् होके। कुमारीणाम्। कुमार्य्याम्। कुमार्य्योः। कुमारीषु। संबोधन में अपृक्त हल् सु का लोप होकर ॥ ८७ ॥

४६२—अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥ ८८ ॥ अ० ७ । ३ । १०७ ॥

सम्बुद्धि परे हो तो अम्बार्थ और नदी संज्ञकों को ह्रस्वाऽऽदेश हो। हे (३) कुमारि। हे कुमार्य्यौ। हे कुमार्य्यः। जो ईकारान्त ङीप्, ङीष्, ङीन्, प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं उनको कुमारी शब्द के तुल्य समझना चाहिये, जैसे। नदी। सरस्वती। ब्राह्मणी। आसुरी। किशोरी। बधूटी। चिरण्टी। कर्त्री। इत्यादि। परन्तु ईकारान्त स्त्री शब्द के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं, जैसे। स्त्री-सु। पूर्ववत् कार्य होकर। स्त्री। स्त्री-औ। इस अवस्था में ॥ ८८ ॥

४६३—स्त्रियाः ॥ ८९ ॥ अ० ६ । ४ । ७९ ॥

जो अजादि प्रत्यय परे हो तो स्त्री शब्द को (इयङ्) आदेश हो। स्त्रियौ। स्त्रियः। स्त्री—अम्। इस अवस्था में ॥ ८९ ॥

४६४—वाऽम्शसोः ॥ ९० ॥ अ० ६ । ४ । ८० ॥

अम् और शस् प्रत्यय परे हों तो स्त्री शब्द को इयङ् आदेश विकल्प करके हो। स्त्रियम्। जिस पक्ष में (इयङ्) न हुआ वहां पूर्वरूप एकादेश होकर। स्त्रीम्। स्त्रियौ। स्त्रियः। स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्री-ङे ॥ ९० ॥

४६५—नेयङुवङ्स्थानावस्त्री ॥ ९१ ॥ अ० १ । ४ । ४ ॥

जिन स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों के स्थान में इयङ् उवङ् आदेश

---

(१) नद्यन्त मानकर 'आण्नद्याः' इससे आगम होगया ॥

(२) 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सन्धि० १०० । इस परिभाषा से प्रत्ययलक्षण मानकर ह्रस्व हुआ ॥

(३) 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इससे नुट् होगया ॥

होते हैं वे नदी संज्ञक न हों । परन्तु स्त्री शब्द तो नदी संज्ञक हो । स्त्री–आट्–ङे । स्त्रियै । स्त्रियाः । स्त्रियाः । स्त्रियोः । स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रियोः । स्त्रीषु । संबोधन में । नदीसंज्ञा के होने से ह्रस्व (१) होगया । हे स्त्रि । हे स्त्रियौ । हे स्त्रियः । और जो ईकारान्त स्त्रीलिंग दूसरे प्रकार के हैं । अवी । तरी । स्तरी । तन्त्री । ययी । पपी । लक्ष्मी । श्री । ये भी कुमारी शब्द के समान हैं परन्तु इनसे परे सु अपृक्त हल् लोप नहीं होता क्योंकि ये ङीप्, ङीष् वा ङीन् प्रत्ययान्त शब्द नहीं हैं । और इन दूसरे प्रकार के शब्दों से एक श्री शब्द में कुछ विशेष है । जैसे । श्री–सु । श्रीः । श्री–औ ॥ ६१ ॥

४६६–अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥६२॥ अ० ६ । ४ । ७७ ॥

जो अजादि प्रत्यय परे हों तो श्नुप्रत्ययान्त धातु के इवर्ण उवर्ण और भ्रू शब्द इनके इकार को इयङ् और उकार को उवङ् आदेश हों, जैसे । (२) श्रियौ । श्रियः । श्रियम् । श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्री–ङे । (३) श्रियै । श्रिये । श्रियाः । श्रियः । श्रियाः । श्रियः । श्रियोः । श्री–आम् । इस अवस्था में ॥ ६२ ॥

४६७–वाऽऽमि ॥ ६३ ॥ अ० १ । ४ । ५ ॥

इयङ् उवङ् स्थानी स्त्रीवाचक ईकारान्त ऊकारान्त शब्द आम् विभक्ति के परे विकल्प करके नदीसंज्ञक हों । नदी संज्ञापक्ष में श्रीणाम् । अन्यत्र । श्रियाम् । वेद में (४) श्रीणाम् । यह एक ही प्रयोग होता है । श्री–ङि । नदीसंज्ञापक्ष में । श्रियाम् । अन्यत्र । श्रियि । श्रियोः । श्रीषु । हे श्रीः । हे श्रियौ । हे श्रियः ॥ ६३ ॥

अथ उकारान्त पुल्लिङ्ग वायु शब्द ॥

वायुः । वायु–औ । पूर्वसवर्णदीर्घ होकर । वायू । वायु–जस् । घिसंज्ञा होने से गुण और (एचोऽयवायावः) इस सूत्र से अवादेश होके । वायवः । वायु–अम् । (५) पूर्वरूप एकादेश । वायुम् । वायू । वायु–शस् । पूर्वसवर्ण दीर्घ (६) और सकार को नकार आदेश होकर । वायून् । वायुना । वायुभ्याम् । वायुभिः ।

---

(१) (ह्रस्व) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥
(२) क्विप् प्रत्ययान्त शब्द प्रातिपदिक संज्ञक होके भी धातुसंज्ञा का त्याग नहीं करते हैं ॥
(३) 'ङिति ह्रस्वश्च' इस सूत्र से विकल्प करके नदी संज्ञा होगई ॥
(४) 'श्रीग्रामण्योश्छन्दसि' इससे नित्य नुट् होगया ॥
(५) अमि पूर्वः ॥
(६) (सकार को नकारादेश) तस्माच्छसोनः पुंसि ॥

वायवे । वायुभ्याम् । वायुभ्यः । वायु–ङसि । गुण और पूर्व (१) रूप एकादेश होके । वायोः । वायुभ्याम् । वायुभ्यः । वायोः । वायु–ओस् । यणादेश होके । वाय्वोः । वायूनाम् । वायु–ङि । ङि को (२) औकार तथा उकार को अकार होकर वृद्धि एकादेश हुआ । वायौ । वाय्वोः । वायुषु । सम्बोधन में । वायु–स् । अपृक्त-हल् लोप और गुण होकर (३) हे वायो । हे वायू । हे वायवः । इसी प्रकार विभु, प्रभु, भानु, गुरु, शत्रु, इत्यादि उकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों का साधुत्व समझना । परन्तु उकारान्त, क्रोष्टु शब्द में कुछ विशेष है ॥

४९८–तृज्वत्क्रोष्टुः ॥ ९४ ॥ अ० ७ । १ । ९५ ॥

जो संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो क्रोष्टु, शब्द तृच् प्रत्य(४)यान्तवत् हो । क्रोष्टु ऋकारान्त कर्तृ शब्द के समान हो जाता है । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रोष्टारौ । यहां संबुद्धि भिन्न इसलिये है कि । हे क्रोष्टो । सर्वनामस्थान इसलिये है कि क्रोष्टून । यहां तृज्वद्भाव न हुआ ॥ ९४ ॥

४९९–विभाषा तृतीयादिष्वचि ॥ ९५ ॥ अ० ७ । १ । ९७ ॥

तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव विकल्प करके हो । क्रोष्ट्रा । क्रोष्टुना । क्रोष्टु–आम् । यहां (५) नुट् और तृज्वद्भाव दोनों प्राप्त हुए तो नुट् हुआ ॥ ९५ ॥

अथ उकारान्त नपुंसकलिङ्ग वस्तु शब्द ॥

वस्तु–सु । सु का लुक् होके । वस्तु । द्विवचन में शी आदेश शकार की इत्संज्ञा और (नपुंसकस्य झलचः) इससे नुमागम होके । वस्तुनी । वस्तु–जस् । जस् के स्थान में शि आदेश और पूर्व को नुमागम । वस्तु–नुम–इ । वस्तूनि । ऐसे ही द्वितीया में । वस्तु–टा । घिसंज्ञा (६) और उससे परे टा के स्थान में ना आदेश होकर । वस्तुना । वस्तुभ्याम् । वस्तुभिः । वस्तुने । वस्तुभ्याम् । वस्तुभ्यः । वस्तुनः । वस्तुभ्याम् । वस्तुभ्यः । वस्तुनः । वस्तुनोः । वस्तूनाम् । वस्तुनि । वस्तुनोः । वस्तुषु ।

---

(१) 'ङसिङसोश्च' इससे पूर्वरूप हुआ ॥

(२) { ङि—औ / उ—अ } अच्च घेः ॥

(३) (स् लोप) हल् ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्, (गुणः) ह्रस्वस्य गुणः ॥

(४) यह तृज्वत् अतिदेश रूपातिदेश है अर्थात तृच् प्रत्ययान्त क्रुश् धातु का जो रूप है उसका अतिदेश किया है ॥

(५) तृज्वद्भाव परत्व से प्राप्त था उसको बाध के पूर्वविप्रतिषेध से (नुमचिर०) इस वार्तिकबल से नुट् हुआ ॥

(६) घिसंज्ञा टा––ना, शेषोध्यसखि, आङोनास्त्रियाम् ॥

जड़भाव से संबोधन नहीं होता । इसी प्रकार । श्मश्रु । जानु । स्वादु । अश्रु । जतु । त्रपु । तालु । इत्यादि नियतनपुंसकलिङ्ग शब्दों के प्रयोग भी जानना ॥

अथ उकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग धेनुशब्द ॥

धेनुः । धेनू । धेनवः । धेनुम् । धेनू । धेनूः । धेनु—टा । टकार की इत्संज्ञा और गुण होके । धेन्वा । धेनुभ्याम् । धेनुभिः । धेनु—ङे । यहां नदी (१) संज्ञा विकल्प करके और द्वितीय पक्ष में घिसंज्ञा होने से दो २ प्रयोग होते हैं अर्थात् । धेन्वै । (२) धेनवे । धेनुभ्याम् । धेनुभ्यः । धेन्वाः । धेनोः । धेनुभ्याम् । धेनुभ्यः । धेन्वाः । धेनोः । धेन्वोः । धेनूनाम् । धेन्वाम् । धेनौ । धेन्वोः । धेनुषु । संबोधन में गुण होके । हे धेनो । हे धेनू । हे धेनवः । इसी प्रकार रज्जु, सरयु, कुहु, तनु, रेणु, इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी जानने चाहियें । दीर्घ ऊकारान्त शब्द तीन प्रकार के होते हैं धात्वन्त, उणादिप्रत्ययान्त और नियत स्त्रीवाचक प्रत्ययान्त । जैसे । धात्वन्त । परिभूः । उणादि प्रत्ययान्त । कर्षूः । नियतस्त्रीवाचक प्रत्ययान्त । ब्रह्मबन्धूः, इत्यादि । उनमें से धात्वन्त 'परिभू' शब्द के प्रयोग पुल्लिङ्ग में दिखलाते हैं । परिभू—सु । परिभूः । परिभू—औ । यहां (३) उवङ् आदेश होके । परिभुवौ । परिभुवः । परिभुवम् । परिभुवौ । परिभुवः । परिभुवा । परिभूभ्याम् । परिभूभिः । परिभुवे । परिभूभ्याम् । परिभूभ्यः । परिभुवः । परिभूभ्याम् । परिभूभ्यः । परिभुवः । परिभुवोः । परिभुवाम् । परिभुवि । परिभुवोः । परिभूषु । यहां संबोधन में कुछ विशेष नहीं । वर्षाभू, दृन्भू, करभू, पुनर्भू, इन चार शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं । वर्षाभूः । वर्षाभू—औ ॥

५००—वर्षाभ्वश्च ॥ ६६ ॥ अ० ६ । ४ । ८४ ॥

अजादि सुप् विभक्तियों के परे वर्षाभू शब्द के उकार को यणादेश हो । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । वर्षाभ्वम् । वर्षाभ्वौ । वर्षाभ्वः । वर्षाभ्वा । वर्षाभूभ्याम् । वर्षाभूभिः । वर्षाभ्वे । वर्षाभूभ्याम् । वर्षाभूभ्यः । वर्षाभ्वः । वर्षाभूभ्याम् । वर्षाभूभ्यः । वर्षाभ्वः । वर्षाभ्वोः । वर्षाभ्वाम् । वर्षाभुवि । वर्षाभुवोः । वर्षाभूषु । हे वर्षाभूः । हे वर्षाभ्वौ । हे वर्षाभ्वः । दृन्भूः । दृन्भू—औ । इस अवस्था में ॥ ६६ ॥

(१) (नदी संज्ञा विकल्प) ङिति ह्रस्वश्च ॥
(२) 'घेर्ङिति' इससे गुणादेश होजाता है ॥
(३) (उवङ्) अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥

५०१-वा०-दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः॥ ९७॥

अजादि सुप् विभक्तियों के परे दृन्, कर, पुनर् ये हैं पूर्व जिसके ऐसे भूशब्द के उकार को यणादेश हो। जैसे। दृन्भ्वौ। दृन्भ्वः। करभूः। करभ्वौ। करभ्वः। पुनर्भूः। पुनर्भ्वौ। पुनर्भ्वः। इत्यादि। वेद में पुनर्भू आदि शब्दों के प्रयोगों में उवङ् और यण् (१) दोनों आदेश होते हैं, जैसे। पुनर्भुवौ। पुनर्भ्वौ। पुनर्भुवः। पुनर्भ्वः। पुनर्भुवम्। पुनर्भ्वम्। इत्यादि। उक्त ऊकारान्त शब्द विशेष्य लिङ्ग के आश्रय से तीनों लिङ्गों में हो सकते हैं, ऊकारान्त अनियत स्त्रीवाचकों को स्त्रीलिङ्ग में कुछ विशेष कार्य्य नहीं होते हैं, यदि वे नपुंसकलिङ्ग में आवें तो उनको (२) हृस्वादेश होकर वे प्रयोग विषय में वस्तु शब्द के समान हो जाते हैं और उणादि प्रत्ययान्त कर्षू, इत्यादिकों में यदि कोई पुल्लिङ्ग (३) समझा जावे तो उसके प्रयोग 'परिभू' शब्द के समान समझना चाहिये। और नियत स्त्रीलिङ्ग ऊङ् प्रत्ययान्त, ब्रह्मबन्धूः। ब्रह्मबन्धू-औ। यहां यण् होके। ब्रह्मबन्ध्वौ। ब्रह्मबन्ध्वः। ब्रह्मबन्धूः--अम्। यहां (४) पूर्वरूप एकादेश होके। ब्रह्मबन्धूम्। ब्रह्मबन्ध्वौ। ब्रह्मबन्धूः। ब्रह्मबन्ध्वा। ब्रह्मबन्धूभ्याम्। ब्रह्मबन्धूभिः। ङित् वचनों में नदी संज्ञादि (५) कार्य होकर। ब्रह्मबन्ध्वै। ब्रह्मबन्धूभ्याम्। ब्रह्मबन्धूभ्यः। ब्रह्मबन्ध्वाः। ब्रह्मबन्धूभ्याम्। ब्रह्मबन्धूभ्यः। ब्रह्मबन्ध्वाः। ब्रह्मबन्ध्वोः। ब्रह्मबन्धूनाम्। ब्रह्मबन्ध्वाम्। ब्रह्मबन्ध्वोः। ब्रह्मबन्धूषु। सम्बुद्धि में (६) हृस्व होकर। हे ब्रह्मबन्धु। हे ब्रह्मबन्ध्वौ। हे ब्रह्मबन्ध्वः। इसी प्रकार। वधू। चमू। श्मश्रू। संहितोरू। वामोरू। कमण्डलू। गुग्गुलू। दर्दू। इत्यादि ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें॥ ९७॥

ऋकारान्त विषयः॥

ऋकारान्तनियत पुल्लिङ्ग पितृशब्द॥

ऋकारान्त शब्द दो (७) प्रकार के होते हैं। अर्थात् एक वे जिनको सर्व-

---

(१) (यण्। उवङ्) छन्दस्युभयथा॥
(२) (हृस्व) हृस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य॥
(३) (कर्षू) यह करीष जो अग्नि में पुल्लिङ्ग और नदी अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है॥
(४) (पूर्वरूप) अमि पूर्वः॥
(५) (नदी संज्ञा) यूस्त्र्याख्यौ नदी। तया नद्यन्त को मानकर आट् इत्यादि कार्य होते हैं॥
(६) (हृस्व) अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः॥
(७) दीर्घादेश प्रकरण के—अप् तृन् तृच् स्वसृ नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ क्षत्तृ होतृ पोतृ प्रशास्तृणाम्। अ० ६।४।११॥

नामस्थान में दीर्घ होता है और दूसरों को नहीं होता। वे दोनों प्रकार के शब्द लिङ्गभेद से तीनों लिङ्गों में आते हैं। पितृ आदि शब्दों को सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश नहीं होता परन्तु रूपान्तर में होता है। जैसे। पिता। पितृ–सु॥

५०२–ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च ॥९८॥ अ० ७। १। ९४॥

ऋकारान्त उशनस् पुरुदंशस् और अनेहस् शब्दों को संबुद्धि भिन्न सु विभक्ति के परे अनङ् आदेश हो। अनङ् होके। पितृ—अनङ्—सु। अकार ङकार की इत्संज्ञा और तकार अकार में मिल के। पितन्—सु। यहां नान्त (१) अङ्ग को दीर्घ और नकार का लोप होके। पिता। पितृ–औ॥ ९८॥

५०३–ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥९९॥ अ० ७। ३। ११०॥

ङि और सर्वनामस्थान परे हो तो ऋकारान्त अङ्ग को गुणादेश हो। ऋकार के स्थान में अर् गुण होके। पितरौ। पितरः। पितरम्। पितरौ। पितृ–शस्। यहां शकार की इत्संज्ञा, पूर्व(२) सवर्ण दीर्घ एकादेश और सकार को नकारादेश, होके। पितॄन्। पितृ—टा। टकार की इत्संज्ञा ऋ के स्थान में (३) र् आदेश होके। पित्रा। पितृभ्याम्। पितृभिः। पित्रे। पितृभ्याम्। पितृभ्यः। पितृ—ङसि। यहां ॥ ९९॥

५०४–ऋत उत् ॥ १०० ॥ अ० ६। १। ११०॥

जो ऋकारान्त से परे ङसि ङस् सम्बन्धी अकार हो तो पूर्व पर के स्थान में उकार एकादेश हो। फिर उकार (४) र्पर हुआ। जैसे। पितरम्॥ १००॥

५०५–रात्सस्य ॥ १०१ ॥ अ० ८। २। २४॥

रेफ से परे संयोगान्तसकार का ही लोप हो। सकार का लोप और रेफ को विसर्जनीय होके। पितुः। पितृभ्याम्। पितृभ्यः। पितुः। पित्रोः। पितृ–आम्। यहां नुट् (५) और दीर्घ होके॥ १०१॥

इस सूत्र में नप्तृ आदि शब्दों का ग्रहण अव्युत्पत्ति पक्ष में दीर्घादेश विधान के लिये और व्युत्पत्ति पक्ष में तो नियम के लिये है जो उणादि तृन् तृजन्त शब्दों को दीर्घादेश हो तो नप्त्रादिकों को ही हो। इससे पितृ भ्रातृ जामातृ इत्यादि शब्दों को सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश नहीं होता और कर्तृ स्तोतृ आदि शब्दों को होता है, जैसे–कर्ता कर्तारौ। स्तोता स्तोतारौ, इत्यादि॥

(१) (नान्त अङ्ग को दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ। (नलोपः) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य॥

(२) (पूर्वसवर्णदीर्घः) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः॥

(३) (र्) इकोयणचि। सन्धि० १७८॥

(४) (र्पर) उरण् रपरः। सन्धि० ८७॥

(५) (नुट्, दीर्घ) ह्रस्वनद्यापो नुट्। नामि॥

५०६—वा०—रषाभ्यां णत्वे ऋकारग्रहणम् ॥ १०२ ॥

र, ष से परे णत्व विधान में ऋकार ग्रहण करना चाहिये अर्थात् एक पद में ऋकार से परे भी नकार के स्थान में णकारादेश हो, जैसे । पितॄणाम् । पितृ—ङि । गुण (१) और रपर होके । पितरि । पित्रोः । पितृषु । सम्बोधन में । संबुद्धि (२) गुण होके । हे पितः । हे पितरौ । हे पितरः । इसी (३) प्रकार । भ्रातृ । जामातृ । इत्यादि संज्ञा शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें । परन्तु नृ शब्द को आम् विभक्ति के परे जो कुछ विशेष होता है सो लिखते हैं ॥ १०२ ॥

५०७—नृच ॥ १०३ ॥ अ० ६ । ४ । ६ ॥

नुट् सहित आम् विभक्ति के परे नृ शब्द के ऋकार को विकल्प करके दीर्घ हो, जैसे । नॄणाम् । नृणाम् । संबोधन में । हे नः । हे नरौ । हे नरः । दूसरे (४) प्रकार के ऋकारान्त शब्दों में । ऋकारान्तपुल्लिङ्ग होतृशब्द । होतृ—सु । पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञादि तथा अनङादेशादि कार्य्य होकर । होता । होतृ—औ । यहां गुण होके । होतर्—औ ॥ १०३ ॥

५०८—अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ॥ १०४ ॥ अ० ६ । ४ । ११ ॥

जो संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो अप् शब्द तृन्, तृच् प्रत्ययान्त और स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ, इन शब्दों को दीर्घादेश हो, जैसे । होतारौ । होतारः । होतारम् । होतारौ । शेष प्रयोग पितृ शब्द के समान समझना । इसी प्रकार कर्त्तृ, हर्त्तृ आदि तथा नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, पोतृ, प्रशास्तृ, शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहियें ॥ १०४ ॥

ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग कर्तृशब्द ॥

कर्तृ—सु । यहां सु विभक्ति का (५) लुक् होके । कर्त्तृ । कर्त्तृ—औ । औकार

(१) (गुण) ऋतोङि सर्वनामस्थानयोः ॥

(२) (संबुद्धिगुण) ह्रस्वस्यगुणः ॥

(३) पिता । पितरौ । पितरः । पितरम् । पितरौ । पितॄन् । पित्रा । पितृभ्याम् । पितृभिः । पित्रे । पितृभ्याम् । पितृभ्यः । पितुः । पितृभ्याम् । पितृभ्यः । पितुः । पित्रोः । पितॄणाम् । पितरि । पित्रोः । पितृषु । हे पिता । हे पितरौ । हे पितरः ॥

(४) दूसरे अर्थात् जिनको सर्वनामस्थान के परे दीर्घादेश होता है ॥

(५) (सु—लुक्) स्वमोर्नपुंसकात् ॥

के स्थान में शी (१) आदेश और पूर्व को नुम् होके। कर्तृणी। कर्तृ—जस्। यहां शि (२) आदेश नुम् और दीर्घ होके। कर्त्तॄणि। द्वितीया विभक्ति में भी। कर्त्तृ। कर्तृणी। कर्त्तॄणि। कर्त्तृ—टा। यहां से लेकर अजादि (३) विभक्तियों में नुम् होवेगा। कर्तृणा। कर्त्तृभ्याम्। कर्त्तृभिः। कर्त्तृणे। कर्त्तृभ्याम्। कर्त्तृभ्यः। कर्त्तृणः। कर्त्तृभ्याम्। कर्त्तृभ्यः। कर्त्तृणः। कर्त्तृणोः। कर्तॄणाम्। कर्त्तृ—ङि। यहां गुण (४) होके। कर्त्तरि। कर्त्तृणोः। कर्त्तृषु। संबोधन में। हे (५) कर्त्तः। हे कर्त्तृ। हे कर्त्तृणी। हे कर्त्तॄणि। इसी प्रकार और भी ऋकारान्त नपुंसकलिङ्ग शब्द के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु जो ऋकारान्तस्त्रीलिङ्ग में केवल स्वसृ, दुहितृ, ननान्दृ, यातृ, मातृ, तिसृ, चतसृ, ये सात शब्द हैं इनके रूप कुछ भिन्न होते हैं। नियत ऋकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुहितृ शब्द। दुहितृ—सु। दुहिता। दुहितरौ। दुहितरः। दुहितरम्। दुहितरौ। दुहितॄः। यहां पुल्लिङ्ग के न होने से शस् के सकार को नकार न हुआ। दुहित्रा। दुहितृभ्याम्। दुहितृभिः। आगे पितृशब्द के समान समझना चाहिये। तिसृ, चतसृ, शब्द में विशेष यह है कि ॥ १०४ ॥

५०९—त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥१०५॥ अ० ७।२।९९॥

जो स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान त्रि और चतुर् शब्द हों तो उनको तिसृ और चतसृ आदेश हों॥ १०५ ॥

५१०—अचिर ऋतः ॥ १०६ ॥ अ० ७ । २ । १०० ॥

जो अजादि विभक्ति परे हों तो तिसृ और चतसृ शब्द के ऋकार को रेफ आदेश हो। तिसृ—जस्। तिस्रः। शस् में भी ऐसा ही होता है॥ १०६ ॥

५११—न तिसृचतसृ ॥ ५०७ ॥ अ० ६ । ४ । ४ ॥

तिसृ और चतसृ शब्दों को नुट् सहित आम् विभक्ति परे हो तो दीर्घ न हो। तिसृणाम् चतसृणाम्॥ १०७ ॥

५१२—छन्दस्युभयथा ॥ १०८ ॥ अ० ६ । ४ । ५ ॥

(१) (औ—शी) नपुंसकाच्च। पूर्व—नुम्) नपुंसकस्य झलचः ॥
(२) (जस्—शि) जश्शसोः शिः। (पूर्व—दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥
(३) (अजादि विभक्ति—नुम्) इकोचि विभक्तौ ॥
(४) (गुण) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥
(५) यहां 'नलुमताङ्गस्य' सन्धि० १०१। इस परिभाषा के अनित्य पक्ष में 'ह्रस्वस्यगुणः' इससे गुण होजाता है। उक्त परिभाषा का अनित्य पक्ष 'इकोऽचिविभक्तौ' इसकी व्याख्या में महाभाष्यकार ने कहा है।

वैदिक प्रयोगों में नुट् सहित आम् विभक्ति के परे तिसृ चतसृ शब्दों को विकल्प करके दीर्घ होवे । तिसॄणाम् । तिसृणाम् । चतसॄणाम् । चतसृणाम् । इसी प्रकार इन छः शब्दों के अन्य प्रयोग ऋकारान्तवत् समझने चाहियें परन्तु स्वसृ शब्द को सर्वनामस्थान में होतृ शब्द के समान दीर्घ होता है । स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । स्वसारम् । स्वसारौ ॥

ऐकारान्त पुल्लिङ्ग रैशब्द ॥

रै–सु ॥ १०८ ॥

५१३–रायो हलि ॥ १०९ ॥ अ० ७ । २ । ८५ ॥

हलादि विभक्तियों के परे रै शब्द को आकारादेश हो, जैसे । रा–सु । उकार की इत्संज्ञा और लोप तथा सकार को रुत्व और विसर्जनीय होके । राः । रै–औ । अजादि विभक्तियों के परे सर्वत्र ऐकार के स्थान में (१) आय् आदेश होजाता है । रायौ । रायः । रायम् । रायौ । रायः । राया । रै–भ्याम् । इत्यादि में भी हलादि विभक्तियों के होने से आकारादेश होजाता है । राभ्याम् । राभिः । राये । राभ्याम् । राभ्यः । रायः । राभ्याम् । राभ्यः । रायः । रायोः । रायाम् । रायि । रायोः । रासु । यहां रै शब्द धन का वाचक है इसलिये संबोधन नहीं होता जो अन्य कोई ऐकारान्त शब्द आवे तो उसके भी प्रयोग इसी प्रकार समझने चाहियें ॥

ओकारान्त पुल्लिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग गोशब्द ॥

परन्तु इसके दोनों लिङ्गों में एक से ही प्रयोग होते हैं । गो–सु ॥ १०९ ॥

५१४–गोतो णित् ॥ ११० ॥ अ० ७ । १ । ९० ॥

जो गो शब्द से परे सर्वनामस्थान विभक्ति हों तो वे णित् के समान हो जावें । सर्वनामस्थान को णित्वत् होने से वृद्धि हो जाती है । यहां भी गोशब्द को वृद्धि (२) होके । गौः । गावौ । गावः । गो–अम् ॥ ११० ॥

५१५–औतोऽम्शसोः ॥ १११ ॥ अ० ६ । १ । ९३ ॥

जो अम् और शस् विभक्ति परे हों तो ओकारान्त शब्द के ओकार को आकारादेश हो, जैसे । गा–अम् । पूर्वरूप एकादेश होकर । गाम् । गावौ । गाः । टा–विभक्ति के परे अवादेश होके । गवा । गोभ्याम् । गोभिः । गवे । गोभ्याम् ।

(१) एचोऽयवायावः । इस सूत्र से ॥
(२) अचोञ्णिति ॥

गोभ्यः । गो–ङसि । यहां पूर्वरूप (१) एकादेश होके । गोः । गोभ्याम् । गोभ्यः । गोः । गवोः । गवाम् । गवि । गवोः । गोषु । जो किसी अर्थ में इस शब्द का संबोधन आवे तो कुछ विशेष न होगा ॥

औकारान्त स्त्रीलिङ्ग नौशब्द ॥

नौ–सु । नौः । नौ–औ । नावौ । नावः । नावम् । नावौ । नावः । नावा । नौभ्याम् । नौभिः । नावे । नौभ्याम् । नौभ्यः । नावः । नौभ्याम् । नौभ्यः । नावः । नावोः । नावाम् । नावि । नावोः । नौषु । इसी प्रकार औकारान्त पुल्लिङ्ग ग्लौ शब्द समझना । ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । इत्यादि । अब जो २ प्रसिद्ध हलन्त शब्द वेदादि ग्रन्थों में आते हैं उनकी प्रयोगव्यवस्था दिखाई जाती है ॥

चकारान्तस्त्रीलिङ्ग वाच् (२) शब्द ।

वाच्–सु । यहां चकार के स्थान में (३) ककार होके ॥ १११ ॥

५१६–वावसाने ॥ ११२ ॥ अ० ८ । ४ । ५५ ॥

जो अवसान में वर्त्तमान झल् हों तो उनको विकल्प करके चर् हो, जैसे । वाक् । वाग् (४) । वाचौ । वाचः । वाचम् । वाचौ । वाचः । वाचा । वाच्–भ्याम् । येहां भी चकार को ककारादेश हो के । वाक्–भ्याम् । इस अवस्था में (४) जश् आदेश होकर । वाग्भ्याम् । वाग्भिः । वाचे । वाग्भ्याम् । वाग्भ्यः । वाचः । वाग्भ्याम् । वाग्भ्यः । वाचः । वाचोः । वाचाम् । वाचि । वाचोः । वाक्–सु । यहां ककार से परे सु के सकार को ष् आदेश होके । वाक्षु । संकेत में कह चुके हैं कि 'वाच्' शब्द वाणी का वाची है इसलिये जड़ भाव होने से यह संबोधन में नहीं आता । इसी प्रकार । शुच्, त्वच्, श्रुच्, इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहियें । जो चकारान्त शब्दों में निम्नलिखित चकारान्त शब्द हैं । जैसे । प्राच् । प्रत्यच् । उदच् । अर्वाच् । दध्यच् । मध्वच् । क्रुंच् । इत्यादि क्विन् प्रत्ययान्त शब्दों को पदान्त में सर्वत्र कुत्व होजाता है । प्राच्–सु । यहां ॥ ११२ ॥

५१७–उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥ ११३ ॥ अ० ७।१।७०॥

(१) (पूर्वरूप) ङसिङसोश्च ॥

(२) यह वाणी का नाम है ॥

(३) (च्—क्) चोः कुः ॥

(४) यहां 'झलांजशोन्ते' इस सूत्र से जश् आदेश होगया है ॥

जो सर्वनामस्थान परे हो तो धातु रहित उगित् प्रातिपदिक और अंचु को नुम् का आगम हो। प्रान्च्-सु। इस अवस्था में (हल्ङ्या०) इससे लोप होकर ॥ ११३॥

५१८-संयोगान्तस्य लोपः ॥ ११४ ॥ अ० ८।२।२३॥

संयोगान्त पद के अन्त्य वर्ण का लोप हो। इससे चकार का लोप होके ॥ ११४॥

५१९-क्विन्प्रत्ययस्य कुः ॥ ११५ ॥ अ० ८ । २ । ६२॥

क्विन् प्रत्यय जिससे कहा हो उसको पदान्त में कवर्गादेश (१) हो इससे नकार को अनुनासिक 'ङ' आदेश होजाता है, जैसे । प्राङ् । प्रत्यङ् । इत्यादि। प्रान्च्-औ । यहां नकार (२) को अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण होके । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । प्राञ्चम् । प्राञ्चौ । प्र-अच्-शस् । इत्यादि सर्वनामस्थान भिन्न विभक्तियों के परे भसंज्ञा होकर ॥ ११५ ॥

५२०-अचः ॥ ११६ ॥ अ० ६ । ४ । १३८ ॥

भसंज्ञक अञ्चु धातु के अकार का लोप हो, जैसे। प्र-च्-शस्। यहां ॥ ११६॥

५२१-चौ ॥ ११७ ॥ अ० ६ । ३ । १३८ ॥

चु शब्दमात्र अञ्चु (३) धातु परे हो तो पूर्व को दीर्घ हो । इससे प्र शब्द को दीर्घ हो के । प्राचः । प्राचा । प्राच्-भ्याम् । यहां (४) चकार को क् और ककार को ग् होके । प्राग्भ्याम् । प्राग्भिः । प्राचे । प्राग्भ्याम् । प्राग्भ्यः । प्राचः । प्राग्भ्याम् । प्राग्भ्यः । प्राचः । प्राचोः । प्राचाम् । प्राचि । प्राचोः । प्राक्षु । इसी प्रकार। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । यहां 'चौ' इससे दीर्घादेश होता है । इत्यादि सब चकारान्त शब्दों के प्रयोग समझने चाहियें। परन्तु उक्त शब्दों में से 'उदच्' और 'क्रुञ्च्' (५) के रूप सर्वनामस्थान भिन्न अजादि विभक्तियों में कुछ विशेष होते हैं ॥ ११७ ॥

५२२-उद ईत् ॥ ११८ ॥ अ० ६ । ४ । १३९ ॥

---

(१) क्विनः कुरिति सिध्येत प्रत्ययग्रहणं कृतम् ॥ क्विन्प्रत्ययस्य सर्वत्र पदान्ते कुत्वमिष्यते । महाभाष्य ८ । २ । ६२ । इसी सूत्र पर है । यहां प्रत्यय ग्रहण का यही प्रयोजन है कि जिस २ धातु से क्विन् प्रत्यय का विधान किया हो उस २ को पदान्त में कवर्गादेश होजाय ॥

(२) (न—अनुस्वार) नश्चापदान्तस्य झलि । सन्धि० १६१ ॥ (अनुस्वार—परसवर्ण) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥

(३) (चु) इससे उस अञ्चु धातु का ग्रहण है कि जिसके अकार नकार का लोप होजाता है ॥

(४) (च्—क्) चोःकुः । सन्धि० १८८ । (क्—ग्) झलांजश्झशि । सं० २३२ ॥

(५) (क्रुंच्) यहां धात्ववयव अपदान्त नकार के अनुस्वार को परसवर्ण होजाता है ॥

उद् उपसर्ग से परे भसंज्ञक अंच् धातु के अकार को ईकार आदेश हो । उदीचः । उदीचा । उदीचे । उदीचः । उदीचः । उदीचोः । उदीचां । उदीचि । उदीचोः ।

उदक्षु । ऋत्विग् दधृक्० । इस सूत्र में निपातन होने से क्रुञ्च् शब्द की उपधा के नकार का लोप नहीं होता । क्रुङ् । सर्वनामस्थान में क्रुञ्च् शब्द प्राच् शब्द के तुल्य है । क्रुञ्चौ । क्रुञ्चः । क्रुञ्चम् । क्रुञ्चौ । क्रुञ्च्–शस् । यहां भी कुछ विशेष नहीं । क्रुञ्चः । क्रुञ्चा । क्रुञ्च्–भ्याम् । यहां च् को क् और अनुस्वार को परसवर्ण ङकार हो के ककार का लोप (१) होजाता है । क्रुङ्भ्याम् । क्रुङ्भिः । क्रुञ्चे । क्रुङ्भ्याम् । क्रुङ्भ्यः । क्रुञ्चः । क्रुङ्भ्याम् । क्रुङ्भ्यः । क्रुञ्चः । क्रुञ्चोः । क्रुञ्चाम् । क्रुञ्चि । क्रुञ्चोः । क्रुङ्क्षु ॥

छकारान्त स्त्रीलिङ्ग वा पुल्लिङ्ग प्राछ् (२) शब्द ॥

प्राछ्–सु । यहां ॥ ११८ ॥

५२३–व्रश्च भ्रस्ज सृज मृज यज राज भ्राज च्छ शां षः ॥ ११९ ॥ अ० ८ । २ । ३६ ॥

झल् परे वा पदान्त हो तो व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज, इन को तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों को षकारादेश हो, जैसे । प्राष्–सु । यहां (३) ष् के स्थान में ड् होके । प्राड्–सु । सु का लोप और ड् के स्थान में विकल्प से चर् होके । प्राट् । प्राड् । दो प्रयोग होते हैं । प्राछ्–औ । यहां दीर्घ से परे (४) छकार को तुगागम होकर तकार को चकार हो जाता है । प्राच्छौ । प्राच्छः । प्राच्छम् । प्राच्छौ । प्राच्छः । प्राच्छा । प्राछ्–भ्याम् । यहां पूर्ववत् छकार को (ष्) और (ष्) के स्थान में (ड्) होके प्राड्भ्याम् । प्राड्भिः । प्राच्छे । प्राड्भ्याम् । प्राड्भ्यः । प्राच्छः । प्राड्भ्याम् । प्राड्भ्यः । प्राच्छः । प्राच्छोः । प्राच्छाम् । प्राच्छि । प्राच्छोः । प्राड्—सु । यहां (५) डकार को टकार होके । प्राट्सु । डकार से परे सकार को धुट् (६) का आगम भी विकल्प करके होता है जैसे प्राट्त्सु । प्राट्सु । सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं है ॥

---

(१) (क्—लोप) संयोगान्तस्य लोपः ॥
(२) यह पूछने वाले वा वाली का नाम है ॥
(३) (ष्—ड्) झलांजशोऽन्ते । (ड् को विकल्प चर्) वावसाने ॥
(४) (तुक्) दीर्घाच्च ॥ सन्धि० २०९ । (त्—च्) स्तोः श्चुनाश्चुः ॥ सन्धि० ११२ ॥
(५) (ड्—ट्) खरि च ॥ सन्धि० २३४ ॥
(६) (धुट्) ड्ःसिधुट् ॥ सन्धि० २०० ॥

जकारान्तपुल्लिङ्ग ऋत्विज् (१) शब्द ॥

ऋत्विज्–सु । यह शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है इस कारण इसको पदान्त में (२) कवर्गादेश होजाता है । उस कवर्ग को विकल्प करके चर् और दूसरे पक्ष में जश् होके । ऋत्विक् । ऋत्विग् । ऋत्विजौ । ऋत्विजः । ऋत्विजम् । ऋत्विजौ । ऋत्विजः । ऋत्विजा । ऋत्विग्भ्याम् । ऋत्विग्भिः । ऋत्विजे । ऋत्विग्भ्याम् । ऋत्विग्भ्यः । ऋत्विजः । ऋत्विग्भ्याम् । ऋत्विग्भ्यः । ऋत्विजः । ऋत्विजोः । ऋत्विजाम् । ऋत्विजि । ऋत्विजोः । ऋत्विज्–सु । यहां कुत्व होने से जकार को (ग्) आदेश होकर (ग्) (३) को (क्) और सु के (स्) को (ष्) आदेश हो जाता है, जैसे । ऋत्विक्षु । सम्बोधन में यहां भी कुछ विशेष नहीं है । इसी प्रकार–उष्णिज् । भुरिज् । (४) उशिज् । वणिज् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहिये । परन्तु कोई २ जकारान्त शब्दों के प्रयोगों में कुछ विशेष भी कार्य्य होता है । जैसे । परिव्राज् । इस शब्द के पदान्त में सर्वत्र जकार को षकारादेश होता है । षकार के स्थान में (ट्, ड्) पूर्ववत् होके । परिव्राट् । परिव्राड् । परिव्राड्भ्याम् । परिव्राड्भिः । परिव्राजे । परिव्राड्भ्याम् । परिव्राड्भ्यः । इत्यादि पूर्ववत् जानो । परिव्राट्त्सु । परिव्राट्सु । यहां भी सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं । इसी प्रकार–विश्वभ्राज् । सम्राज् । विश्वराज् । विराज् । यवभृज् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी जानने चाहिये । परन्तु । युज् । (५) और अवयाज् इन दो शब्दों में कुछ विशेष है । युज्–सु ॥ ११९ ॥

५२४–युजेरसमासे ॥ १२० ॥ अ० ७ । १ । ७१ ॥

सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे युज् शब्द को नुम् का आगम हो, जैसे । युन्ज्–सु । यहां अन्य कार्य्य प्राङ् शब्द के तुल्य समझना चाहिये । युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । युञ्जम् । युञ्जौ । युजः । युजा । युग्भ्याम् । युग्भिः । युजे । युग्भ्याम् । युग्भ्यः । युजः । युग्भ्याम् । युग्भ्यः । युजः । युजोः । युजाम् । युजि । युजोः । युक्षु । इन उक्त शब्दों में जहां कहीं सम्बोधन की योग्यता हो वहां प्रथमा विभक्ति के तुल्य ही

---

(१) (ऋत्विज्) उसको कहते हैं जो ऋतु २ में यज्ञ करे वा करावे ॥
(२) (पदान्त—कुत्व) क्विन् प्रत्ययस्य कुः ॥
(३) (ग्—क्) खरि च । सन्धि० २३४ । (स्—ष) आदेश प्रत्यययोः ॥
(४) (भुरिज्) इत्यादि शब्दों को (चोः कुः) सन्धि० १८८ ॥
(५) (युज्) यह युक्त होनेवाले का नाम है ॥

सम्बोधन में भी प्रयोग समझने चाहिये ॥ अवयाज्–सु । (१) इसकी सब विभक्तियों में पदसंज्ञा होती है ॥ १२० ॥

५२५–वा०–श्वेतवाहादीनाम् डस् पदस्य ॥ १२१ ॥ अ० ३ । २ । ७१ ॥

श्वेतवाहादि प्रातिपदिकों को पदान्त में डस् आदेश हो । श्वेतवाहादिकों में अवयाज् शब्द भी है प्रथमा विभक्ति के एक वचन में इस के आज् मात्र को डस् होकर । अवयस् । यहां ॥ १२१ ॥

५२६–अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥ १२२ ॥ अ० ६ । ४ । १४ ॥

जो सम्बुद्धि भिन्न सु विभक्ति परे हो तो धातु रहित अत्वन्त और असन्त शब्द की उपधा को दीर्घादेश हो । अवयाः । अवयाजौ । अवयाजः । अवयाजम् । अवयाजौ । अवयाजः । अवयाजा । अवयाज् आदि शब्दों को हलादि विभक्तियों में डस् हो के । अवयस्–भ्याम् । यहां (ससजुषोरुः) इस सूत्र से पदान्त सकारको रु हो के । अवय–रु–भ्याम् । यहां रु के उकार की इत्संज्ञा, लोप, रेफ को (२) उकार और पूर्व पर को गुण एकादेश ओकार हो के । अवयोभ्याम् । अवयोभिः । अवयाजे । अवयोभ्याम् । अवयोभ्यः । अवयाजः । अवयोभ्याम् । अवयोभ्यः । अवयाजः । अवयाजोः । अवयाजाम् । अवयाजि । अवयाजोः । अवयस्सु । अवयःसु । संबोधन में ॥ १२२ ॥

५२७–अवयाः (३) श्वेतवाः पुरोडाश्च ॥ १२३ ॥ अ० ८ । २ । ६७ ॥

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, ये निपातन हैं । हे अवयाः । हे अवयाजौ । हे अवयाजः ॥ इति जकारान्तशब्दविषयः ॥

अथ टकारान्तस्त्रीलिङ्ग वा पुल्लिङ्ग सरट् शब्द ॥

सरट्–सु । यहां (हल्ङ्या०) इस सूत्र से लोप और विकल्प से चर हो के । सरट् । सरड् । सरटौ । सरटः । सरटम् । सरटौ । सरटः । सरटा । सरट्–भ्याम् । यहां जश् (४) होके । सरड्भ्याम् । सरड्भिः । सरटे । सरड्भ्याम् । सरड्भ्यः । सरटः । सरड्भ्याम् । सरड्भ्यः । सरटः । सरटोः । सरटाम् । सरटि । सरटोः ।

(१) यहां अवपूर्वक यज धातु से 'अवेयजः' इस सूत्र से क्विन् प्रत्यय होता है ॥

(२) (र्–उ) हशिच । सन्धि० २९३ ॥

(३) हे (अवयस्) यहां उक्त सूत्र से दीर्घ नहीं पाता है । इस कारण दीर्घ सिद्ध करने के लिये यह सूत्र है ॥

(४) (जश्) झलां जशोन्ते । सन्धि० १८६ ॥

सरट्त्सु । सरट्सु । संबोधन में कुछ विशेष नहीं । इसी प्रकार अन्य भी लघट् आदि टकारान्त शब्दों के रूप समझने चाहिये ॥

तकारान्तनियतपुंल्लिङ्ग मरुत् शब्द ॥

मरुत्–सु । पूर्ववत् । मरुत् । मरुद् । मरुतौ । मरुतः । मरुतम् । मरुतौ । मरुतः । मरुता । मरुद्भ्याम् । मरुद्भिः । मरुते । मरुद्भ्याम् । मरुद्भ्यः । मरुतः । मरुद्भ्याम् । मरुद्भ्यः । मरुतः । मरुतोः । मरुताम् । मरुति । मरुतोः । मरुत्सु । संबोधन में कुछ विशेष नहीं । इसी प्रकार–हरित् । रोहित् । संश्चत् । तृपत् । वेहत् । इत्यादि तकारान्तस्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग शब्दों के प्रयोग समान ही जानने चाहिये । अब उन तकारान्तों को दिखलाते हैं कि जिनमें कुछ विशेष कार्य होते हैं ॥

तकारान्तपुंल्लिङ्ग पठत् शब्द ॥

(१) पठत्–सु । यहां सर्वनामस्थान में (२) नुम् और संयोगान्तलोप होके । पठन् । पठन्तौ । पठन्तः । पठन्तम् । पठन्तौ । पठतः । आगे मरुत् शब्द के समान प्रयोग जानने चाहिये । इसी प्रकार–पचत् । कुर्वत् । गच्छत् । पृषत् । बृहत् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग भी समझने चाहिये । महत् शब्द में कुछ विशेष है, जैसे । महत्–सु । यहां पूर्ववत् नुम् का आगम हो के । महन्त्–सु । इस अवस्था में ॥ ३२३ ॥

५२८–सान्तमहतः संयोगस्य ॥ १२४ ॥ अ० ६ । ४ । १० ॥

जो संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो सकारान्तसंयोगी नकार की और महत् शब्द की उपधा को दीर्घ हो । यहां भी पूर्ववत् तकार का लोप और दीर्घ होके । महान् । महान्तौ । महान्तः । महान्तम् । महान्तौ । आगे के प्रयोग मरुत् शब्द के समान जानने चाहिये । मतुप् प्रत्ययान्त तकारान्त शब्दों को असन्त शब्दों के समान संबुद्धि भिन्न सु विभक्ति के परे (३) दीर्घ होता है । गोमान् । यवमान् । धनवान् । अश्ववान् । विद्यावान् । इत्यादि । आगे सब विभक्तियों में रूप पठत् शब्द के समान समझना चाहिये । गोमता । गोमद्भ्याम् । इत्यादि । संबोधन में । हे गोमन् । हे यवमन् । हे धनवन् । इत्यादि ।

---

(१) (पठत्) पढ़नेवाले को कहते हैं, पठत् आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में ङीबन्त होकर प्रयोगविषय में कुमारी शब्द के समान हो जाते हैं ॥

(२) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥

(३) (दीर्घ) अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥

दकारान्तस्त्रीलिङ्ग सम्पद् (१) शब्द ॥

सम्पद्–सु । यहां भी (हल्ङ्या०) इस सूत्र से लोप और विकल्प से चर् होकर
दो प्रयोग होते हैं । सम्पद् । सम्पत् । सम्पदौ । सम्पदः । इत्यादि । इसी प्रकार
शरद् । भसद् । दृषद् । विपद् । आपद् । प्रतिपद् । स्त्रीलिङ्ग और विदविद् । काष्ठ-
भिद् । नखच्छिद् । इत्यादि दकारान्त शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों में समान समझने
चाहिये, जैसे । शरत् । शरद् । शरदौ । शरदः । इत्यादि । और वेदवित् । वेदविद् ।
वेदविदौ । वेदविदः । इत्यादिवत् ॥

नकारान्तपुल्लिङ्ग राजन् शब्द ॥

राजन्–सु । यहां (२) दीर्घ और (३) नलोप होकर । राजा । राजानौ ।
राजानः । राजानम् । राजानौ । राजन्–शस् । यहां (४) अल्लोप होकर । राजन्–
अस् । नकार को (५) ञकारादेश होकर । राज्ञः । राज्ञा । राजन्–भ्याम् । यहां भी
नकार का लोप होके । राजभ्याम् । अब यहां नलोप के पश्चात् (सुपिच) इस
सूत्रसे दीर्घादेश क्यों न हो । सो यह नलोप के असिद्ध (६) होने से नहीं होता ।
राजभिः । राज्ञे । राजभ्याम् । राजभ्यः । राज्ञः । राजभ्याम् । राजभ्यः । राज्ञः ।
राज्ञोः । राज्ञाम् । राजन्–ङि । यहां (विभाषा ङिश्योः) इससे अकार का लोप
विकल्प से होकर दो प्रयोग बनजाते हैं । राज्ञि । राजनि । संबोधन में । हे
राजन् । हे राजानौ । हे राजानः । इसी प्रकार । वृषन् । तक्षन् । प्लीहन् । क्लेदन् ।
स्नेहन् । मूर्द्धन् । मज्जन् । विश्वप्सन् । स्थामन् । सुत्रामन् । धरिमन् । शरिमन् ।
जनिमन् । प्रथिमन् । म्रदिमन् । महिमन् । सुदामन् । सुधीवन् । घृतपावन् ।
भूरिदावन् । इत्यादि शब्दों के रूप भी समझने चाहिये । और जिन नकारान्त
शब्दों में कुछ विशेष कार्य होता है उनको यहां लिखते हैं ॥

पुल्लिङ्ग नकारान्त आत्मन् शब्द ॥

आत्मा । आत्मानौ । आत्मानः । आत्मानम् । आत्मानौ । इस शब्द में इतना

---

(१) (सम्पद्) यह धनादि ऐश्वर्य्य का द्योतक है ॥
(२) (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥
(३) (न—लोप) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥
(४) (अल्लोप) अल्लोपोऽनः ॥
(५) (न—ञ्) स्तोः श्चुनाश्चुः । सन्धि० २१२ ॥
(६) (नलोप असिद्ध) नलोपः सुप् स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति । सन्धि० १२२ ॥

विशेष है कि । शस् । टा । ङे । ङसि । ङस् । ओस् । आम् । ङि । ओस् । इन विभक्तियों में भसंज्ञा के होने से ॥ १२४ ॥

५२९–न संयोगाद्वमन्तात् ॥ १२५ ॥ अ० ६ । ४ । १३७ ॥

जो वकारांत और मकारांत संयोग से परे अन् हो तो तदन्त भसंज्ञक अकार का लोप न हो, जैसे । आत्मनः । आत्मना । आत्मने । आत्मनः । आत्मनः । आत्मनोः । आत्मनाम् । आत्मनि । आत्मनोः । इसी प्रकार । सुशर्मन् । सुधर्मन् । अश्मन् । शक्मन् । परिज्मन् । यज्वन् । सुपर्वन् । अथर्वन् । मातरिश्वन् । इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहिये। परन्तु नकारान्त पुल्लिङ्ग अर्य्यमन् और पूषन् शब्दों के रूपों में इतना विशेष है कि जहां कहीं समास होकर ये दोनों नपुंसकलिङ्ग होजावें वहां प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में ॥ १२५ ॥

५३०–इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥ १२६ ॥ अ० ६ । ४ । १२ ॥

इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् ये जिनके अंत में हों उन अङ्गों की उपधा को 'शि' विभक्ति के परे दीर्घ होजावे । यह सूत्र नियमार्थ है अर्थात् जो सर्वत्र सर्वनामस्थान में नकारान्त की उपधा को दीर्घादेश प्राप्त था सो न हो किन्तु 'शि' के परे ही हो, जैसे । बहुपूषाणि । बह्वर्यमाणि ॥ १२६ ॥

५३१–सौ च ॥ १२७ ॥ अ० ६ । ४ । १३ ॥

और पुल्लिङ्ग में भी सु विभक्ति के परे इन्, हन्, पूषन् और अर्य्यमन् इनकी उपधा को दीर्घ हो, जैसे । धनी । शत्रुहा । पूषा । अर्य्यमा । इनको अन्य विभक्तियों में नियम के होने से दीर्घ नहीं होता, जैसे । पूषणौ । अर्य्यमणौ । पूषणः । अर्य्यमणः । पूषणम् । अर्य्यमणम् । पूषणौ । अर्य्यमणौ । आगे इनके रूप राजन् शब्द के समान समझने चाहिये, वेद में षपूर्व नान्त की उपधा में कुछ विशेष है । जैसे ॥ १२७ ॥

५३२–वा षपूर्वस्य निगमे ॥ १२८ ॥ अ० ६ । ४ । ९ ॥

जो वेद में संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो षकार पूर्व वाले नान्त की उपधा के अच् को विकल्प कर के दीर्घ हो । पूषाणौ । सतक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् । सतक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत् । ऋभुक्षाणमिन्द्रम् । ऋभुक्षणमिन्द्रम् । इत्यादि ॥ श्वन् । युवन् और मघवन् शब्दों के प्रयोग सर्वनामस्थान में राजन् शब्द के समान होते हैं, परन्तु सर्वनामस्थान भिन्न अजादि विभक्तियों में कुछ विशेष

है । जैसे । श्वा । श्वानौ । श्वानः । श्वानम् । श्वानौ । श्वन्–शस् ॥ १२८ ॥

५३३–श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥१२९॥ अ० ६ । ४ । १३३ ॥

जो भसंज्ञक श्वन्, युवन और मघवन् अङ्ग हैं उनको संप्रसारण हो, इससे वकार को उकार हुआ । जैसे । श् उ अन्–शस् । यहां ॥ १२९ ॥

५३४–सम्प्रसारणाच्च ॥ १३० ॥ अ० ६ । १ । १०७ ॥

जो सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से परे अच् हो तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश हो । इस से उकार अकार को मिल के उकार हुआ, जैसे । शुनः । शुना । श्वभ्याम् । श्वभिः । शुने । श्वभ्याम् । श्वभ्यः । शुनः । श्वभ्याम् । श्वभ्यः । शुनः । शुनोः । शुनाम् । शुनि । शुनोः । श्वसु ॥ युवा । युवानौ । युवानः । युवानम् । युवानौ । यूनः (१) । यूना । युवभ्याम् । युवभिः । यूने । युवभ्याम् । युवभ्यः । यूनः । युवभ्याम् । युवभ्यः । यूनः । यूनोः । यूनाम् । यूनि । यूनोः । युवसु ॥ मघवा । मघवानौ । मघवानः । मघवानम् । मघवानौ । मघोनः । मघोना । मघवभ्याम् । मघवभिः । मघोने । मघवभ्याम् । मघवभ्यः । मघोनः । मघवभ्याम् । मघवभ्यः । मघोनः । मघोनोः । मघोनाम् । मघोनि । मघोनोः । मघवसु । संबोधन में । हे मघवन् । हे मघवानौ । हे मघवानः ॥ १३० ॥

५३५–मघवा बहुलम् ॥ १३१ ॥ अ० ६ । ४ । १२८ ॥

मघवन् इस अङ्ग को तृ आदेश बहुल करके हो, जैसे । मघवतृ–स । यहां ऋकार की इत्संज्ञा लोप नुम् (२) और उपधादीर्घ आदि कार्य्य होकर । मघवान् । मघवन्तौ । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तौ । मघवतः । (३) मघवता । मघवद्भ्याम् । यहां जश् होके । मघवद्भ्याम् । मघवद्भिः । इत्यादि ॥

नकारान्तनपुंसकलिङ्ग सामन् शब्द ॥

सामन्–सु । यहां सुलोप (४) और नलोप होकर । साम । सामन्–औ । औकार के स्थान में शी (५) आदेश और विकल्प करके अकार का लोप होकर । साम्नी ।

---

(१) (यूनः) यहां संप्रसारण होकर । (यु—उ—न्) इस अवस्था में सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है ॥

(२) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः । (दीर्घ) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ॥

(३) 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इस सूत्र में मघवन् शब्द के नकारान्त निर्देश से इसके तृभाव अर्थात् मघवतृशब्द को संप्रसारण नहीं होता । अथवा 'श्वयुव०' इस सूत्र में 'अल्लोपोऽनः' इस उत्तर सूत्र से 'अनः' इस पद का आकर्षण करके श्व, युव, मघव, इत्यादि नकारान्त शब्दों ही को संप्रसारण होता है ॥

(४) (सु—लोप) स्वमोर्नपुंसकात् । (न—लोप) न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥

(५) (शी—आदेश) नपुंसकाच्च । (नुम्—आगम) नपुंसकस्य झलचः । (अ—लोप विकल्प) विभाषाङिश्योः ॥

सामनी । सामन्–जस् । यहां (१) शि आदेश और नान्त की उपधा को दीर्घ होके । सामानि । फिर भी । साम । साम्नी । सामनी । सामानि । आगे राजन् शब्द के समान इसके प्रयोग जानने चाहिये । संबोधन में इतना विशेष है कि ॥ १३१ ॥

५३६–वा०–वा नपुंसकानाम् ॥ १३२ ॥ अ० ८ । २ । ८ ॥

संबुद्धि में नपुंसकलिङ्ग शब्दों के नकार का लोप विकल्प करके होवे । हे साम । हे सामन् । इसी प्रकार–सीमन् । नामन् । व्योमन् । रोमन् । लोमन् । पामन् । इत्यादि शब्दों के रूप भी जानने चाहिये । और जो-कर्मन् । चर्मन् । भस्मन् जन्मन् । शर्मन् । इत्यादि मकारान्त संयोग वाले नकारान्त नपुंसक शब्द हैं उनके प्रयोग सर्वनामस्थान में सामन् शब्द के समान और अन्य विभक्तियों में आत्मन् शब्द के समान समझने चाहिये, जैसे । कर्मणा । इत्यादि ॥

नकारान्तपुंल्लिङ्ग वृत्रहन् शब्द ॥

वृत्रहन्–सु । यहां (सौच) इस सूत्र से दीर्घ होके । वृत्रहा । वृत्रहन्–औ ॥१३२॥

५३७–एकाजुत्तरपदे णः ॥ १३३ ॥ अ० ८ । ४ । १२ ॥

जिस समास में एकाच् शब्द उत्तर पद हो उस में पूर्वपदस्थ रेफ षकार से परे प्रातिपदिकान्त नुम् और विभक्तिस्थ नकार को णकारादेश हो, जैसे । वृत्रहणौ । वृत्रहणः । वृत्रहणम् । वृत्रहणौ । वृत्रहन्–शस् । यहां हन् के (२) अकार का लोप होकर ॥ १३३ ॥

५३८–हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ॥ १३४ ॥ अ० ७ । ३ । ५४ ॥

ञित् णित् प्रत्यय वा नकार परे हो तो हन् धातु के हकार को घकारादेश हो । वृत्रघ्नः । (३) वृत्रघ्ना । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभिः । वृत्रघ्ने । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभ्यः । वृत्रघ्नः । वृत्रहभ्याम् । वृत्रहभ्यः । वृत्रघ्नः । वृत्रघ्नोः । वृत्रघ्नाम् । वृत्रघ्नि । वृत्रहणि । वृत्रघ्नोः । वृत्रहसु । हे वृत्रहन् । हे वृत्रहणौ । हे वृत्रहणः । इसी प्रकार ब्रह्मन् । भ्रूणहन् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये ॥

नकारान्तनपुंसकलिङ्ग अहन् शब्द ॥

अहन्–सु ॥ १३४ ॥

---

(१) (शि––आदेश) जश्शसोः शिः । (नांतोपधा दीर्घ) सर्वनामस्थान चासम्बुद्धौ ॥

(२) (अ—लोप) अल्लोपो नः ॥

(३) (वृत्रहन्) इस अवस्था में 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सन्धि० ६४ । इस परिभाषा से अल्लोपस्थानिवत् हो तो नकार के परे (ह्) न मिले यहां हकार का कुत्व विधान सामर्थ्य से अल्लोपस्थानिवत् नहीं होता ॥

५३९—अहन् ॥ १३५ ॥ अ० ८ । २ । ६८ ॥

पदान्त में अहन् शब्द को रु आदेश हो। विसर्जनीय होके। अहः। अहन्—औ। सामन् शब्द के समान। अह्नी। अहनी। अहानि। फिर भी। अहः। अह्नी। अहनी। अहानि। अह्ना। अहन्—भ्याम्। यहां भी नकार को रु उसके रेफ को उकार और अकार उकार को गुण एकादेश हो के। अहोभ्याम्। अहोभिः। अह्ने। अहोभ्याम्। अहोभ्यः। अह्नः। अहोभ्याम्। अहोभ्यः। अह्नः। अह्नोः। अह्नाम्। अह्नि। अहनि। अह्नोः। अहस्सु। अहःसु। यद्यपि णिनि तथा इनि प्रत्ययान्त अनेक नकारान्त शब्द में कुछ विशेष नहीं तथापि उनमें से एक के प्रयोग लिखते हैं॥

इन्नन्त पुल्लिङ्ग दण्डिन् शब्द ॥

दण्डिन्—सु। यहां (सौ च) इस सूत्र से दीर्घ होके। दण्डी। दण्डिनौ। दण्डिनः। दण्डिनम्। दण्डिनौ। दण्डिनः। दण्डिना। दण्डिभ्याम्। दण्डिभिः। दण्डिने। दण्डिभ्याम्। दण्डिभ्यः। दण्डिनः। दण्डिभ्याम्। दण्डिभ्यः। दण्डिनः। दण्डिनोः। दण्डिनाम्। दण्डिनि। दण्डिनोः। दण्डिषु। संबोधन में। हे दण्डिन्। हे दण्डिनौ। हे दण्डिनः। इसी प्रकार। धनिन्। कुमारघातिन्। शीर्षघातिन्। उष्णभोजिन्। साधुकारिन्। ब्रह्मवादिन्। ध्वांक्षराविन्। स्थण्डिलशायिन्। पण्डितमानिन्। सोमयाजिन्। इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने चाहिये। दण्डिन् आदि शब्द यदि किसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में भी आवें तो उनके प्रयोग प्रायः वारि शब्द के समान समझने चाहिये। परन्तु षष्ठी विभक्ति के बहुवचन में दण्डिन् आदि नकारान्त शब्दों को दीर्घ नहीं होगा॥

नकारान्त पञ्चन्, सप्तन् और अष्टन् इत्यादि बहुवचनान्त संख्यावाची शब्द तीनों लिङ्गों में समान ही होते हैं। अष्टन्—जस्॥ १३५॥

५४०—अष्टन आ विभक्तौ ॥ १३६ ॥ अ० ७ । २ । ८४ ॥

विभक्तिमात्र के परे अष्टन् शब्द को आकारादेश हो। यद्यपि सूत्र में विकल्प ग्रहण नहीं है तथापि (अष्टाभ्य औश्) इस सूत्र में आकारान्त अष्टन् शब्द के ग्रहण से सूचित होता है कि अष्टन् शब्द को आकारादेश विकल्प करके होता है। जैसे। अष्टा—जस्। अष्टन्—जस्। इस अवस्था में॥ १३६॥

५४१—अष्टाभ्य औश् ॥ १३७ ॥ अ० ७ । १ । २१ ॥

जिसको आकारादेश किया हो ऐसे अष्टन् शब्द से परे जस् और शस् विभक्ति को औकारादेश हो। वृद्धि एकादेश होकर। अष्टौ। अष्टौ। द्वितीय पक्ष में॥१३७॥

५४२–ष्णान्ता षट् ॥ १३८ ॥ अ० १ । १ । २४ ॥

षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्द षट्संज्ञक हों। षट्संज्ञा होकर ॥१३८॥

५४३–षड्भ्यो लुक् ॥ १३९ ॥ अ० ७ । १ । २२ ॥

षट्संज्ञक अर्थात् षकारान्त और नकारान्त संख्यावाची शब्दों से परे जस् और शस् विभक्ति का लुक् हो । अष्टतिष्ठन्ति । अष्टपश्य । अष्टभिः । अष्टाभिः । अष्टभ्यः । अष्टाभ्यः । अष्टभ्यः । अष्टाभ्यः । अष्टन्–आम् । इस अवस्था में ॥१३९॥

५४४–षट्चतुर्भ्यश्च ॥ १४० ॥ अ० ७ । १ । ५५ ॥

षट्संज्ञक और चतुर् शब्द से परे आम् विभक्ति को नुट् का आगम हो । नुट् होकर । अष्टन्–आम् । इस अवस्था में ॥ १४० ॥

५४५–नोपधायाः ॥ १४१ ॥ अ० ६ । ४ । ७ ॥

नुट्सहित आम् विभक्ति परे हो तो नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो, जैसे। अष्टान्–आम् । नलोप होकर । अष्टानाम् । अष्टसु । अष्टासु ॥ पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चभ्यः । पञ्चानाम् । पञ्चसु । इसी प्रकार–सप्तन् । नवन् । दशन् । इत्यादि षट्संज्ञक शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । तथा नकारांतों में प्रतिदिवन् शब्द में कुछ विशेष है । प्रतिदिवा । प्रतिदिवानौ । प्रतिदिवानः । प्रतिदिवानम् । प्रतिदिवानौ । प्रतिदिवन्–शस् । यहां (अल्लोपो नः) इससे भसंज्ञा में अकार का लोप होके ॥ १४१ ॥

५४६–हलि च ॥ १४२ ॥ अ० ८ । २ । ७७ ॥

हल् परे हो तो रेफान्त वकारांत धातु की उपधा के इक् को दीर्घ हो। इससे भसंज्ञा में सर्वत्र ही दीर्घ होके । प्रतिदीव्नः प्रतिदीव्ना । प्रतिदीव्ने । प्रतिदीव्नः । प्रतिदीव्नः । प्रतिदीव्नोः । प्रतिदीव्नाम् । प्रतिदीव्नः । (१) प्रतिदीवनि । प्रतिदीव्नोः । इन्नन्त शब्दों के प्रयोगों में–पथिन् । मथिन् और ऋभुक्षिन् । इन तीन शब्दों के प्रयोग कुछ विशेष होते हैं । पथिन्–सु ॥ १४२ ॥

५४७–पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥ १४३ ॥ अ० ७ । १ । ८५ ॥

सु विभक्ति के परे–पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन्, इन शब्दों को आकारादेश हो। यहां नकार के स्थान में आकारादेश होके । पथि–आ–सु । इस अवस्था में ॥१४३॥

(१) यहां 'विभाषा ङिश्योः' इस सूत्र से विकल्प करके अलोप होकर दो प्रयोग होजाते हैं ॥

५४८—इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥ १४४ ॥ अ० ७ । १ । ८६ ॥

सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे पथिन् आदि शब्दों के इकार को अकारादेश हो । पथ् अ आ—सु । इस अवस्था में ॥ १४४ ॥

५४९—थोन्थः ॥ १४५ ॥ अ० ७ । १ । ८७ ॥

पथिन् और मथिन् शब्द के थकार को सर्वनामस्थान विभक्तियों के परे न्थ आदेश हो इससे न्थ आदेश होकर । पन्थ अ आ—सु । यहां अकार और आकार को दीर्घ एकादेश होके । पन्थाः । पथिन्—औ । यहां इकार को अकार होकर । पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । पथिन्-शस् ॥ १४५ ॥

५५०—भस्य टेर्लोपः ॥ १४६ ॥ अ० ७ । १ । ८८ ॥

भसंज्ञक पथिन् आदि शब्द की टि अर्थात् इन्मात्र का लोप हो, जैसे । पथ्-शस् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । पथिभिः । पथे । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । पथः । पथोः । पथाम् । पथि । पथोः । पथिषु । इसी प्रकार मथिन् और ऋभुक्षिन् शब्द के रूप भी समझने चाहिये । इतीन्नन्ताः ॥

अथ पकारान्त अनियतलिङ्ग सुप् शब्द ॥

सुप्—सु । यहां (हल्ङ्याब्०) इस सूत्र से सकार का लोप होके । सुप् । सुब् । सुप्—औ । सुपौ । सुपः । सुपम् । सुपौ । सुपः । सुपा । भ्याम् आदि झलादि विभक्तियों में पकार को (१) बकार होजाता है । सुब्भ्याम् । सुब्भिः । सुपे । सुब्भ्याम् । सुब्भ्यः । सुपः । सुब्भ्याम् । सुब्भ्यः । सुपः । सुपोः । सुपाम् । सुपि । सुपोः । सुप्सु । इसी प्रकार—तिप् । मिप् । कप् । शप् । आदि शब्दों के प्रयोग भी समझना चाहिये । परन्तु अप् शब्द में कुछ विशेष है ॥

पकारान्त नियतस्त्रीलिङ्गबहुवचनान्त अप् शब्द ॥

अप् शब्द से सातों विभक्तियों के बहुवचन ही आते हैं । अप्—जस् । यहां (२) दीर्घ होके । आपः । अप्-शस् । यहां कुछ विशेष नहीं । अपः । अप्—भिस् । यहां ॥१४६॥

५५१—अपो भि ॥ १४७ ॥ अ० ७ । ४ । ४८ ॥

भकारादि प्रत्यय के परे अप् शब्द के अन्त को तकारादेश हो । तकार के स्थान में दकार होकर । अद्भिः । अद्भ्यः । अद्भ्यः । अपाम् । अप्सु ॥

---

(१) (प्—ब्) झलां जशोऽन्ते । सन्धि० १८६ ॥
(२) (दीर्घ) अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृ० ॥

भकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग ककुभ् (१) शब्द ॥

ककुभ्---सु । यहां सु के सकार का लोप होके भकार के स्थान में विकल्प करके झलों को चर् होते हैं, जैसे । ककुब् । ककुप् । ककुभौ । ककुभः । ककुभम् । ककुभौ । ककुभः । ककुभा । ककुब्भ्याम् । ककुब्भिः । ककुभे । ककुब्भ्याम् । ककुब्भ्यः । ककुभः । ककुब्भ्याम् । ककुब्भ्यः । ककुभः । ककुभोः । ककुभाम् । ककुभि । ककुभोः । ककुप्सु ॥ इसी प्रकार--त्रिष्टुभ् । अनुष्टुभ् । आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये ॥ १४७ ॥

रेफान्त नियतस्त्रीलिङ्ग गिर् शब्द ॥

गिर्---सु । यहां भी सकार का लोप होकर ॥

५५२--र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥ १४८ ॥ अ० ८ । २ । ७६ ॥

जो पदान्त में रेफ वकारांत धातु की उपधा इक् उसको दीर्घ हो । गीः । गिरौ । गिरः । गिरम् । गिरौ । गिरः । गिरा । गीर्भ्याम् । गीर्भिः । गिरे । गीर्भ्याम् । गीर्भ्यः । गिरः । गीर्भ्याम् । गीर्भ्यः । गिरः । गिरोः । गिराम् । गिरि । गिरोः । गिर्-सु । यहां खर् प्रत्याहार के परे रु के स्थान में (२) विसर्जनीय पाते हैं इसलिये यह उत्तर सूत्र नियमार्थ है ॥ १४८ ॥

५५३--रोः सुपि ॥ १४९ ॥ अ० ८ । ३ । १६ ॥

सुप् अर्थात् सप्तमी बहुवचन के परे रेफ के स्थान में विसर्जनीय हों तो रु के रेफ ही को हों । इससे (गिर्) इसके रेफ को विसर्जनीय न हुए । उपधा को दीर्घ और (३) सकार को मूर्द्धन्यादेश होके । गीर्षु ॥ इसी प्रकार--धुर् । पुर् । तुर् । भुर् । जूर् । तूर् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । परन्तु रेफान्त शब्दों में चतुर् शब्द के प्रयोग विशेष होते हैं । इस शब्द से बहुवचन विभक्ति ही आती हैं । और तीनों लिंगों में इसका प्रयोग किया जाता है । चतुर्-जस् ॥ १४९ ॥

५५४--चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥ १५० ॥ अ० ७ । १ । ९८ ॥

जो सर्वनामस्थान विभक्ति परे हों तो चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् का

---

(१) (ककुभ्) यह दिशा का नाम है । (स्--लोप) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् । (चर्--विकल्प) वावसाने ॥

(२) (विसर्जनीय) खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥

(३) (स्--ष्) आदेशप्रत्यययोः ॥

आगम और यह उदात्त भी हो। आम् आगम तु से परे होकर। चतु–आम् र्–जस्। यणादेश विसर्जनीय और इत्संज्ञादि कार्य्य होकर। चत्वारः। चतुर्–शस्। चतुरः। पुल्लिङ्ग में ऐसे प्रयोग होते हैं। नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् विभक्ति के स्थान में शि आदेश होजाता है। चत्वारि। चत्वारि। स्त्रीलिङ्ग में त्रि और चतुर् शब्द को तिसृ और चतसृ आदेश होजाते हैं। यह सब व्यवस्था ऋकारान्त विषय में कह चुके हैं। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः। चतुर्भ्यः। चतुर्–आम्। यहां आम् विभक्ति को नुट् (१) का आगम होकर ॥ १५० ॥

५५५–रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥ १५१ ॥ अ० ८।४।१ ॥

एकपद में रेफ षकार से परे नकार को णकारादेश हो। इससे णकार और उसको द्वित्व (२) होजाता है। चतुर्णाम्। चतुर्षु। उक्त त्रि और चतुर् शब्द किसी शब्द के साथ बहुव्रीहि समास में हों तो सब वचनों में होते हैं, जैसे। प्रियचत्वाः। प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। प्रियचत्वारम्। प्रियचत्वारौ। प्रियचतुरः। प्रियचतुरा। प्रियचतुर्भ्याम्। प्रियचतुर्भिः। प्रियचतुरे। प्रियचतुर्भ्याम्। प्रियचतुर्भ्यः। प्रियचतुरः। प्रियचतुर्भ्याम्। प्रियचतुर्भ्यः। प्रियचतुरः। प्रियचतुरोः। प्रियचतुराम्। प्रियचतुरि। प्रियचतुरोः। प्रियचतुर्षु। संबुद्धि के परे (अम् संबुद्धौ) इस सूत्र से अम् का आगम होकर। हे प्रियचत्वाः। हे प्रियचत्वारौ। हे प्रियचत्वारः। त्रिशब्द के प्रयोग इकारान्त में नहीं लिखे संख्यावाची के सम्बन्ध से यहां लिखते हैं॥ १५१ ॥

इकारान्त संख्यावाची नियत बहुवचनान्त त्रि शब्द ॥

त्रि–जस्। बहुवचन में (जसि च) इससे गुण होके (त्रयः) नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् विभक्ति को शि आदेश, नुम् का आगम और दीर्घ होके। त्रीणि। त्रीणि। त्रिभिः। त्रिभ्यः। त्रिभ्यः। त्रि–आम्। आम् विभक्ति के परे नुट् का आगम होके। त्रि–नाम्। यहां ॥

५५६–त्रेस्त्रयः ॥ १५२ ॥ अ० ७। १। ५३ ॥

नुट् सहित आम् विभक्ति परे हो तो त्रि शब्द को त्रय आदेश हो। त्रयाणाम्। त्रिषु ॥ १५२ ॥

वकारान्त नियतस्त्रीलिङ्ग (३) दिव् शब्द ॥

(१) (आम्–नुट्) षट्चतुर्भ्यश्च ॥
(२) (द्वित्व) अचो रहाभ्यां द्वे। सन्धि० २२० ॥
(३) यह शब्द प्रकाशमान पदार्थ का नाम हैं ॥

दिव्–सु । यहां ॥

५५७–दिव औत् ॥ १५३ ॥ अ० ७ । १ । ८४ ॥

सु विभक्ति के परे दिव् शब्द को औकारादेश हो । इससे वकार के स्थान में औ होकर । दि–औ–सु । यणादेश होके । द्यौः । दिवौ । दिवः । दिवम् । दिवौ । दिवः । दिवा । दिव्–भ्याम् ॥ १५३ ॥

५५८–दिव उत् ॥ १५४ ॥ अ० ६ । १ । १३० ॥

पदान्त में दिव् शब्द के वकार को उत् आदेश हो । वकार को उकार और पूर्व को यणादेश होकर । द्युभ्याम् । द्युभिः । दिवे । द्युभ्याम् । द्युभ्यः । दिवः । द्युभ्याम् । द्युभ्यः । दिवः । दिवोः । दिवाम् । दिवि । दिवोः । द्युषु ॥ १५४ ॥

शकारान्त स्त्रीलिङ्ग (१) दिश् शब्द ॥

दिश्–सु । पदान्त में (२) कुत्व होकर । दिक् । दिग् । दिशौ । दिशः । दिशम् । दिशौ । दिशः । दिशा । दिग्भ्याम् । दिग्भिः । दिशे । दिग्भ्याम् । दिग्भ्यः । दिशः । दिग्भ्याम् । दिग्भ्यः । दिशः । दिशोः । दिशाम् । दिशि । दिशोः । दिक्–सु । यहां भी प्रत्यय के सकार को मूर्द्धन्य षकार होकर । दिक्षु । इसी प्रकार । विश् । लिश् । घृतस्पृश् । दृश् । कीदृश् । ईदृश् । सदृश् । तादृश् । यादृश् । एतादृश् । त्यादृश् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । वेद में विशेष यह है कि ॥

५५९–दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि ॥ १५५ ॥ अ० ७ । १ । ८३ ॥

वेद में दृगन्त, स्ववस् और स्वतवस् शब्दों को सु विभक्ति के परे नुम् का आगम हो, जैसे । ईदृङ् । कीदृङ् । यादृङ् । तादृङ् । सदृङ् । इत्यादि । स्ववस् और स्वतवस् इन दोनों के प्रयोग सकारान्तों में देख लेना । परन्तु इन तालव्यान्त शब्दों में यदि कोई शब्द नपुंसकलिङ्ग में भी आवे तो उसके प्रयोग इस प्रकार होंगे ॥

शकारान्त नपुंसकलिङ्ग सदृश् शब्द ॥

सदृक् । सदृग् । सदृशी । सदृंशि । फिर भी । सदृक् । सदृग् । सदृशी । सदृंशि । सदृशा । इत्यादि पूर्ववत् ॥ १५५ ॥

---

(१) (दिश्) यह शब्द क्विन्प्रत्ययान्त है ॥
(२) (कुत्व) 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' इस सूत्र से ॥

सकारान्त नियतपुल्लिङ्ग चन्द्रमस् शब्द ॥

चन्द्रमस्–सु । यहां (१) दीर्घ होकर । चन्द्रमाः । चन्द्रमसौ । चन्द्रमसः । चन्द्रमसम् । चन्द्रमसौ । चन्द्रमसः । चन्द्रमसा । चन्द्रमस्–भ्याम् । यहां (२) सकारको रु और रु को उत् आदेश होकर । चन्द्रमोभ्याम् । चन्द्रमोभिः । चन्द्रमसे । चन्द्रमोभ्याम् । चन्द्रमोभ्यः । चन्द्रमसः । चन्द्रमोभ्याम् । चन्द्रमोभ्यः । चन्द्रमसः । चन्द्रमसोः । चन्द्रमसाम् । चन्द्रमसि । चन्द्रमसोः । चन्द्रमस्सु । चन्द्रमःसु । इसी प्रकार–जातवेदस् । विश्वयशस् । द्रविणोदस् । विश्ववेदस् । विश्वभोजस् । अङ्गिरस् । नोधस् । पुरोधस् । वयोधस् । वेधस् । नृचक्षस् । इत्यादि पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । पूर्व जितने शब्द लिखे हैं वे सब असुन् प्रत्ययान्त हैं । असुन् प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में विशेष यह है कि ॥

सकारान्त पुल्लिङ्ग उशनस् शब्द ॥

उशनस्–सु । यहां अन्त्य को (३) अनङ् आदेश अङ्मात्र की इत्संज्ञा और एकादेश होकर । उशनन्–सु । यहां (४) नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ और विभक्ति का लोप हो के । उशना । और संबुद्धि में हे उशनन् । हे (५) उशन् । हे उशनः । हे उशनसौ । हे उशनसः । अन्य सब प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के समान जानो । इसी के समान–अनेहस् । पुरुदंशस् । इन दोनों के भी प्रयोग जानने चाहिये । परन्तु संबुद्धि में जो उशनस् शब्द के तीन प्रयोग लिखे हैं । वैसे इन दोनों के नहीं होंगे क्योंकि उशनस् शब्द को संबुद्धि में भी विकल्प करके अनङादेश और नलोप कहा है । इन दोनों को नहीं । सकारान्त शब्द बहुत प्रकार के होते हैं । उनमें से असुन् प्रत्ययान्त पुल्लिङ्ग शब्दों को उक्त रीति से जानना चाहिये ॥

अथ सकारान्तपुल्लिङ्ग विद्वस् शब्द ॥

विद्वस्–सु । यहां (६) नुम् का आगम होके । विद्वन्–स्–सु । इस अवस्था में (७) दीर्घ, हल्ङ्या० और संयोगान्त लोप होकर । विद्वान् विद्वांसौ । विद्वांसः ।

---

(१) (दीर्घ) अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥

(२) (स्–रु) ससजुषोरुः । (रु–उत्) हशि च ॥

(३) (अनङ्) ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च ॥

(४) (नान्त दीर्घ) नोपधायाः ॥

(५) 'उशनसः संबुद्धावपि पक्षेऽनङिष्यते' इस वार्तिक से विकल्प होकर तीन प्रयोग बनजाते हैं ॥

(६) (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥

(७) (दीर्घ) सान्तमहतः संयोगस्य । (हल्–लोप) 'हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुति' इस सूत्र से । (संयोगान्त–लोप) संयोगान्तस्य लोपः । इससे विद्वस् शब्द के सकारका लोप होता है ॥

विद्वांसम् । विद्वांसौ । विद्वस्–शस् । यहां ॥

५६०–वसोः संप्रसारणम् ॥ १५६ ॥ अ० ६ । ४ । १३१ ॥

भसंज्ञक वसुप्रत्ययान्त शब्दों को संप्रसारण हो । वकार को (उ) संप्रसारण और पूर्वरूप होकर । विदुस्–शस् । इस अवस्था में, वसु के सकार को मूर्द्धन्य आदेश होजाता है । विदुषः । विदुषा । विद्वस्-भ्याम् ॥ १५६ ॥

५६१–वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहान्दः ॥ १५७ ॥ अ० ८ । २ । ७२ ॥

वसुप्रत्ययान्त, स्रंसु, ध्वंसु और अनडुह् इन शब्दों के पदान्त सकार हकार को दकारादेश हो । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । विदुषे । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भ्यः । विदुषः । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भ्यः । विदुषः । विदुषोः । विदुषाम् । विदुषि । विदुषोः । विद्वत्सु । संबोधन में । हे विद्वन् । हे विद्वांसौ । हे विद्वांसः ॥ अब । पर्णध्वस् । यह शब्द ध्वंसु धातु से बना है इसको भी पदान्त में उक्त सूत्र से दकारादेश होजाता है । जैसे । पर्णध्वत् । पर्णध्वद् । पर्णध्वसौ । पर्णध्वसः । पर्णध्वसम् । पर्णध्वसौ । पर्णध्वसः । पर्णध्वसा । पर्णध्वद्भ्याम् । पर्णध्वद्भिः । पर्णध्वसे । पर्णध्वद्भ्याम् । पर्णध्वद्भ्यः । पर्णध्वसः । पर्णध्वद्भ्याम् । पर्णध्वद्भ्यः । पर्णध्वसः । पर्णध्वसोः । पर्णध्वसाम् । पर्णध्वसि । पर्णध्वसोः । पर्णध्वत्सु । इसी प्रकार–उखास्रस् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । ऊषिवस् । यह क्वसु प्रत्ययान्त सकारान्त शब्द है । ऊषिवान् । ऊषिवांसौ । ऊषिवांसः । ऊषिवांसम् । ऊषिवांसौ । ऊषुषः । ऊषुषा । ऊषिवद्भ्याम् । ऊषिवद्भिः । ऊषुषे । ऊषिवद्भ्याम् । ऊषिवद्भ्यः । ऊषुषः । ऊषिवद्भ्याम् । ऊषिवद्भ्यः । ऊषुषः । ऊषुषोः । ऊषुषाम् । ऊषुषि । ऊषुषोः । ऊषिवत्सु ॥ हे ऊषिवन् । हे ऊषिवांसौ । हे ऊषिवांसः । इसके प्रयोगों में सब कार्य्य विद्वस् शब्द के समान होते हैं । इसी प्रकार–तस्थिवस् । पपिवस् । सेदिवस् । शुश्रुवस् । उपेयिवस् । इत्यादि क्वसुप्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये । एक प्रकार के सकारान्त शब्द ईयसुन् प्रत्ययान्त होते हैं, जैसे । श्रेयस् । अल्पीयस् । पपीवस् । कनीयस् । यवीयस् । इत्यादि । इन शब्दों के प्रयोग प्रथमा के एकवचन से लेकर पांच वचनों में विद्वस् शब्द के समान होते हैं । यवीयस्–सु । यवीयान् । यवीयांसौ । यवीयांसः । यवीयांसम् । यवीयांसौ । यवीयसः । यवीयसा । यवीयोभ्याम् । यवीयोभिः । यवीयसे । यवीयोभ्याम् । यवीयोभ्यः । यवीयसः । यवीयोभ्याम् । यवीयोभ्यः । यवीयसः । यवीयसोः । यवीयसाम् । यवीयसि । यवीयसोः । यवीयस्सु । यवीयःसु । हे यवीयान् ।

इत्यादि । इसी प्रकार ईयसुन् प्रत्ययान्त सब शब्दों के प्रयोग जानने उचित हैं । ईयसुन् और क्वसु प्रत्ययान्त शब्द जब स्त्रीलिङ्ग में आते हैं तब ईकारान्त हो जाते हैं, जैसे । विदुषी । इत्यादि । और असुन् प्रत्ययान्त अर्थात् । अप्सरस् । उषस् । सुमनस् । इत्यादि स्त्रीलिङ्ग शब्दों के प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के तुल्य होते हैं। असुन् प्रत्ययान्त दो स्वर वाले शब्द प्रायः नपुंसकलिङ्ग में आते हैं । इनमें इतना भेद है कि । पयस्–सु । सु लोप होकर। पयः। पयस्–औ। यहां औ के स्थान में (१) शी होकर । पयसी । पयस्–जस्। यहां भी जस् के स्थान में (२) शि और नुम् का आगम होकर । पयांसि । फिर भी। पयः । पयसी । पयांसि । अन्य प्रयोग चन्द्रमस् शब्द के समान समझने चाहिये। इसी प्रकार । मनस् । भूयस्। पांथस्। वचस् । अम्भस् । एनस् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग विचारने योग्य हैं । स्ववस् । स्वतवस् । इन दो सकारान्त शब्दों को वेद विषय में सु विभक्ति के परे नुम् (३) का आगम होजाता है जैसे स्ववान् स्वतवान् ॥ १५७ ॥

५६२–वा०–स्ववः स्वतवसोर्मास उषसश्च त इष्यते ॥१५८॥ अ० ७ । ४ । ४८ ॥

भकारादि प्रत्यय परे हों तो वैदिकप्रयोग विषय में स्ववस् । स्वतवस् । मास् । उषस् । इन शब्दों को तकारादेश हो । जैसे । स्ववद्भिः । स्ववद्भ्यः । स्वतवद्भिः । स्वतवद्भ्यः । माद्भिः । उषद्भिः । इत्यादि ॥ एक प्रकार के सकारान्त शब्द इस् उस् प्रत्ययान्त होते हैं, जैसे । वपुस् । यजुस् । अरुस् । धनुस् । आयुस् । ज्योतिस् । अर्चिस् । शोचिस् । बर्हिस् । हविस् । सर्पिस् । इत्यादि सकारान्त शब्दों में कोई विशेष सूत्र नहीं घटते । और इन शब्दों के अन्त्य औपदेशिक सकार (४) को पीछे मूर्द्धन्यादेश हो जाता है । ये शब्द केवल नपुंसकलिङ्ग में ही आते हैं परन्तु लिङ्गानुशासन की रीति से अर्चिस् और छदिस् इन शब्दों के प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होते हैं ॥ १५८ ॥

सकारान्त नपुंसकलिङ्ग यजुस् शब्द ॥

यजुस्–सु । यहां पयस् शब्द के समान सब कार्य होकर । यजुः । यजुषी ।

---

(१) (औ—शी) नपुंसकाच्च ॥
(२) (जस्—शि) जश्शसोः शिः । (नुम्) उगिदचां सर्वनामस्थाने० ॥
(३) (नुम्) दृक्स्ववस्स्वतवसां छन्दसि ॥
(४) (स्—मूर्द्धन्य ष्) आदेशप्रत्यययोः ॥

यजूंषि । फिर भी । यजुः । यजुषी । यजूंषि । यजुषः । यजुषा । यजुस्–भ्याम् । यहां (१) सकार को रु होके अन्य कार्य्यों की प्राप्ति न होने से रेफ ऊपर चढ़ जाता है । यजुर्भ्याम् । यजुर्भिः । यजुषे । यजुर्भ्याम् । यजुर्भ्यः । यजुषः । यजुर्भ्याम् । यजुर्भ्यः । यजुषः । यजुषोः । यजुषाम् । यजुषि । यजुषोः । यजुष्षु । यजुःषु । यथा इसन्त । ज्योतिः । ज्योतिषी । ज्योतींषि । फिर भी । ज्योतिः । ज्योतिषी । ज्योतींषि । ज्योतिषा । ज्योतिर्भ्याम् । ज्योतिर्भिः । ज्योतिषे । ज्योतिर्भ्याम् । ज्योतिर्भ्यः । ज्योतिषः । ज्योतिर्भ्याम् । ज्योतिर्भ्यः । ज्योतिषः । ज्योतिषोः । ज्योतिषाम् । ज्योतिषि । ज्योतिषोः । ज्योतिष्षु । ज्योतिःषु । स्त्रीलिङ्ग में इतना भेद है कि । छदिः । छदिषी । छदींषि । फिर भी । छदिः । छदिषी । छदिषः । आगे यजुस् और ज्योतिस् शब्द के समान जानो । इति सकारान्तः ॥

षकारान्त स्त्रीलिङ्ग प्रावृष् शब्द ॥

प्रावृष्–सु । यहां (२) षकार को डकार और विकल्प से चर् होकर । प्रावृट् । प्रावृड् । प्रावृषौ । प्रावृषः । प्रावृषम् । प्रावृषौ । प्रावृषः । प्रावृषा । प्रावृड्भ्याम् । प्रावृड्भिः । प्रावृषे । प्रावृड्भ्याम् । प्रावृड्भ्यः । प्रावृषः । प्रावृषोः । प्रावृषाम् । प्रावृषि । प्रावृषोः । प्रावृट्त्सु । प्रावृट्सु । इसी प्रकार । विपुष् । त्विष् । रुष् । इत्यादि शब्दों के प्रयोग जानने और ब्रह्मद्विष् आदि पुल्लिङ्ग शब्दों के प्रयोग भी प्रावृष् शब्द के समान समझने चाहिये । परन्तु आशिष् शब्द में कुछ विशेष है । आशिष्–सु । यहां धातु की उपधा के इक् को दीर्घ होकर । आशीः । आशिषौ । आशिषः । आशिषम् । आशिषौ । आशिषः । आशिषा । (३) आशीर्भ्याम् । आशीर्भिः । आशिषे । आशीर्भ्याम् । आशीर्भ्यः । आशिषः । आशीर्भ्याम् ।

संख्यावाची बहुवचनान्त षष् शब्द ॥

इससे बहुवचन विभक्ति ही आती हैं । षष्–जस् । षष्–शस् । यहां (४) जस् और शस् का लुक् होकर । षट् २ । षड्भिः । षड्भ्यः । षड्भ्यः । षष्–आम् । यहां (५) नुट् का आगम होकर । षष्–नाम् । षकार को ड् होके षड्नाम् ।

(१) (स्—रु) ससजुषोरुः ॥
(२) (ष—ड्) झलां जशोन्ते । (विकल्प–र्) वावसाने ॥
(३) यहां 'हलिच' इससे दीर्घ होता है ॥
(४) (जस् शस् का लुक्) षड्भ्यो लुक् ॥
(५) (नुट् आगम) षट् चतुर्भ्यश्च ॥

यहां (१) अनाम् इस प्रतिषेध से ष्टुत्वनिषेध न हुआ किन्तु टवर्ग डकार से परे तवर्ग नकार को णकार और डकार को परसवर्ण होकर । षण्णाम् । षट्त्सु । षट्सु । इति षान्ताः ।

अथ हकारान्त पुल्लिङ्ग वा स्त्रीलिङ्ग गोदुह् शब्द ॥

गोदुह्–सु ॥

५६३–दादेर्धातोर्घः ॥ १५९ ॥ अ० ८ । २ । ३२ ॥

झल् परे हो वा पदान्त में दकारादि धातु के हकार को घकारादेश हो । यहां पदान्त में घकार होकर ॥ १५९ ॥

५६४–एकाचोबशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ॥१६०॥ अ० ८ । २ । ३७॥

स, ध्व, परे हो वा पदान्त में एकाच् धातु का अवयव जो झषन्त बश् उसको भष् आदेश हो । यहां पदान्त में दकार को धकार होकर । गोधुघ्—सु (२) । घकार को जश् (ग्) और उसको विकल्प चर् होकर । गोधुक् । गोधुग् । गोदुहौ । गोदुहः । गोदुहम् । गोदुहौ । गोदुहः । गोदुहा । गोधुग्भ्याम् । गोधुग्भिः । गोदुहे । गोधुग्भ्याम् । गोधुग्भ्यः । गोदुहः । गोधुग्भ्याम् । गोधुग्भ्यः । गोदुहः । गोदुहोः । गोदुहाम् । गोदुहि । गोदुहोः । गोधुक्षु । सम्बोधन में कुछ विशेष नहीं होता । गुडलिह् । इस शब्द के प्रयोगों में इतना विशेष है कि हकार को घकारादेश नहीं होता । गुडलिट् । गुडलिड् । गुडलिड्भ्याम् । गुडलिट्त्सु । गुडलिट्सु । मित्रद्रुह् । उन्मुह् । घृतस्निह् । उत्स्नुह् । इन चार शब्दों में विशेष यह है कि ॥ १६० ॥

५६५–वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥ १६१ ॥ अ० ८ । २ । ३३ ॥

जो झल् परे वा पदान्त में हो तो द्रुह्, मुह्, स्नुह्, स्निह्, ये जिनके अंत में हों उनको विकल्प करके घकारादेश हो, जिस पक्ष में घकार होता है वहां गोदुह् शब्द के समान प्रयोग बनते हैं । और जहां हकार बना रहता है वहां गुडलिह् शब्द के समान प्रयोग समझने चाहिये ॥ १६१ ॥

नियत स्त्रीलिङ्ग उपानह् शब्द ॥

उपानह्—सु । यहां ॥

५६६–नहो धः ॥ १६२ ॥ अ० ८ । २ । ३४ ॥

---

(१) (अनाम्) यह प्रतिनिषेध 'नपदान्ताट्टोरनाम्' सन्धि० २१४ इस सूत्र के विषय से ॥
(२) (घ-जश्-ट्) झलां जशोन्ते । (विकल्प चर्) वावसाने ॥

जो झल् परे वा पदान्त में हो तो नह् धातु के हकार को धकारादेश हो। धकार को दकार और विकल्प चर् होकर। उपानत्। उपानद्। उपानहौ। उपानहः। उपानहम्। उपानहौ। उपानहः। उपानहा। उपानद्भ्याम्। उपानद्भिः। उपानहे। उपानद्भ्याम्। उपानद्भ्यः। उपानहः। उपानद्भ्याम्। उपानद्भ्यः। उपानहः। उपानहोः। उपानहाम्। उपानहि। उपानहोः। उपानत्सु। इसी प्रकार। परीणाह् आदि शब्दों के प्रयोग समझने चाहिये ॥ १६२ ॥

हकारान्तनियतपुंल्लिङ्ग अनडुह् शब्द ॥

अनडुह्–सु ॥

५६७–सावनडुहः ॥ १६३ ॥ अ० ७। १। ८२ ॥

जो सु विभक्ति परे हो तो अनडुह् शब्द को नुम् का आगम हो। इससे नुम् और संयोगान्त लोप होकर। अनडुन्। यहां (१) आम् का आगम सर्वनामस्थान विभक्तियों में अन्त्य अच् से परे होता है। अनडु–आन्। यणादेश होकर। अनड्वान्, अनड्वाहौ। अनड्वाहः। अनड्वाहम्। अनड्वाहौ। अनडुहः। अनडुहा। अनडुह्–भ्याम्। यहां हकार को (२) दकारादेश होकर। अनडुद्भ्याम्। अनडुद्भिः। अनडुहे। अनडुद्भ्याम्। अनडुद्भ्यः। अनडुहः। अनडुद्भ्याम्। अनडुद्भ्यः। अनडुहः। अनडुहोः। अनडुहाम्। अनडुहि। अनडुहोः। अनडुत्सु ॥ १६३ ॥

इति हकारान्ताः ॥

५६८–पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥ १६४ ॥ अ० ६। १। ६३ ॥

इस सूत्र के यहां लिखने का प्रयोजन यह है कि इसमें जितने सूत्र हैं वे अकारान्तादि क्रमानुसार जहां २ लिखे जाते वहां २ यह सूत्र कई वार जनाना पड़ता इसलिये यहां लिखा। इसमें पाद। दन्त। मास। हृदय। उदक। आसन। इतने शब्द अकारान्त। नासिका। निशा। ये दो आकारान्त। असृज्। यह जकारान्त। यूष्। दोष्। ये दो षकारान्त। यकृत्। शकृत्। ये दो तकारान्त हैं। सर्वनामस्थान को छोड़ के अन्य विभक्तियों में पाद आदि शब्दों के स्थान में निम्नलिखित आदेश विकल्प करके जानने चाहिये। जैसे—पाद शब्द को पद्, पद्–शस्। पदः। पदा।

(१) (आम्–आगम) चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥
(२) (हकार को द्) वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥

पद्भ्याम् । पद्भिः । पदे । पद्भ्याम् । पद्भ्यः । पदः । पद्भ्याम् । पद्भ्यः । पदः । पदोः । पदाम् । पदि । पदोः । पत्सु ॥ दन्त को दत्—दतः । दता । दद्भ्याम् । दद्भिः । दते । दद्भ्याम् । दद्भ्यः । दतः । दद्भ्याम् । दद्भ्यः । दतः । दतोः । दताम् । दति । दतोः । दत्सु ॥ नासिका शब्द को नस्—नसः । नसा । नोभ्याम् । नोभिः । नसे । नोभ्याम् । नोभ्यः । नसः । नोभ्याम् । नोभ्यः । नसः । नसोः । नसाम् । नसि । नसोः । नस्सु । नःसु ॥ मास् शब्द को मास् हलन्त आदेश—मासः । मासा । मास्-भ्याम् । यहां (भो भगो अगो (१) अपूर्वस्ययोशि) इस सूत्र से अवर्ण पूर्व रु को यकारादेश होकर (हलि सर्वेषाम्) इस सूत्र से यकार का लोप होगया, जैसे । माभ्याम् । माभिः । मासे । माभ्याम् । माभ्यः । मासः । माभ्याम् । माभ्यः । मासः । मासोः । मासाम् । मासि । मासोः । मात्सु । माःसु । और वेद में भकारादि विभक्तियों के परे इस हलन्त मास् शब्द के सकार (२) को दकारादेश हो जाता है, जैसे । माद्भ्याम् । माद्भिः । माद्भ्याम् । माद्भ्यः । इत्यादि । हृदय शब्द को हृद्—हृदः । हृदा । हृद्भ्याम् । हृद्भिः । हृदे । हृद्भ्याम् । हृद्भ्यः । हृदः । हृद्भ्याम । हृद्भ्यः । हृदः । हृदोः । हृदाम् । हृदि । हृदोः । हृत्सु ॥ निशा शब्द को निश्—निशः । निशा । निश्-भ्याम् । यहां (३) शकार को ष् और उसको डकारादेश होकर । निड्भ्याम् । निड्भिः । निशे । निड्भ्याम् । निड्भ्यः । निशः । निड्भ्याम् । निड्भ्यः । निशः । निशोः । निशाम् । निशि । निशोः । निटत्सु । निट्सु ॥ आसन शब्द को असन् आदेश—अस्नः । अस्ना । असभ्याम् । असभिः । अस्ने । असभ्याम् । असभ्यः । अस्नः । असभ्याम् । असभ्यः । अस्नः । अस्नोः । अस्नाम् । अस्नि । असनि । (४) अस्नोः । असस्सु ॥ यूष् शब्द को यूषन् । दोष् शब्द को दोषन् । यकृत् को यकन् । शकृत् को शकन् । उदक् को उदन् । आस्य शब्द को आसन् । यूषन् आदि सब शब्दों के प्रयोग असन् शब्द के समान जानो । पाद, दन्त, मास, इन तीन शब्दों के प्रयोग दूसरे पक्ष में अकारान्त पुल्लिङ्ग पुरुष शब्द के समान । हृदय, उदक, आसन, इन तीनों के अकारान्त नपुंसकलिङ्ग धन शब्द के समान । नासिका और निशा शब्द के प्रयोग कन्या शब्द के समान । असृज् शब्द के प्रयोग

---

(१) (भो भगो०) सन्धि० २४८ (हलि०) सन्धि० २५४ ॥

(२) (स्—द्) 'स्ववः स्वतवसोर्मास उषसश्च छन्दसि त इष्यते' यह वार्त्तिक प्रथम स्ववस् शब्द पर लिख-चुके हैं ॥

(३) (श्—ष्) व्रश्च, भ्रस्ज, सृज, मृज, यज, राज, भ्राज, च्छ, शां षः । (ष—ड्) झलां जशोन्ते ॥

(४) यहां 'विभाषाङिश्योः' इस सूत्र से विकल्प करके अकार का लोप होजाता है ॥

ऋृत्विज् शब्द के समान। यूष् शब्द के प्रयोग प्रावृष् शब्द के समान। दोष् शब्द के प्रयोग आशिष् शब्द के समान और यकृत्, शकृत् शब्दों के प्रयोग उदश्वित् शब्द के समान समझ लेना चाहिये॥ अब इसके आगे सर्वनामवाची शब्द लिखेंगे। सर्वादि शब्द तीनों लिङ्गों में आते हैं, प्रथम पुल्लिङ्ग में। सर्व—सु। सर्वः। सर्वौ। सर्व-जस्॥ १६४॥

५६६—जसः शी॥ १६५॥ अ० ७। १। १७॥

जो अकारान्त सर्वनाम से परे जस् होवे तो उसको शी आदेश होजावे। शकार की इत्संज्ञा और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर सर्वे। सर्वम्। सर्वौ। सर्वान्। सर्वेण। सर्वाभ्याम्। सर्वैः। सर्व-ङे॥ १६५॥

५७०—सर्वनाम्नः स्मै॥ १६६॥ अ० ७। १। १४॥

जो अदन्तसर्वनाम से परे ङे विभक्ति होवे तो उसको स्मै आदेश हो जावे, जैसे। सर्वस्मै। सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः। सर्व-ङसि॥ १६६॥

५७१--ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ॥ १६७॥ अ० ७। १। १५॥

जो अकारान्त सर्वनाम से परे ङसि और ङि विभक्ति हों तो इनको क्रम से स्मात् और स्मिन् आदेश हो। सर्वस्मात्। सर्व-ङस्। यहां (१) स्य आदेश होकर। सर्वस्य। सर्वयोः। सर्व-आम्॥ १६७॥

५७२—आमि सर्वनाम्नः सुट्॥ १६८॥ अ० ७। १। ५२॥

जो अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् विभक्ति हो तो उसको सुट् आगम हो। सर्व-साम्। यहां अङ्ग को (२) एकादेश और सुट् के सकार को मूर्द्धन्यादेश होकर। सर्वेषाम्। सर्व-ङि। उक्त सूत्र से ङि को स्मिन् आदेश होकर। सर्वस्मिन्। सर्वयोः। सर्वेषु। नपुंसकलिङ्ग में। सर्वम्। सर्वे। सर्वाणि। फिर भी। सर्वम्। सर्वे। सर्वाणि। आगे सब विभक्तियों में पुल्लिङ्ग के समान जानना। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर अकारान्त सर्वादि सब शब्द आकारान्त होकर प्रयोगविषय में कन्या शब्द के तुल्य होते हैं, जैसे। सर्वा। सर्वे। सर्वाः। सर्वाम्। सर्वे। सर्वाः। सर्वया। सर्वाभ्याम्। सर्वाभिः। सर्वा-ङे॥ १६८॥

५७३—सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च॥ १६९॥ अ० ७। ३। ११४॥

(१) (स्य) 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इससे यह आदेश हुआ है॥
(२) (अ—ए) बहुवचने झल्येत। (स्—ष्) आदेशप्रत्यययोः॥

जो सर्वादि आवन्त अङ्ग से परे ङित् विभक्ति हो तो उसको स्याट् का आगम हो और सर्वनाम को ह्रस्व भी होजावे । सर्वस्या—ए । पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर । सर्वस्यै । सर्वस्याः । सर्वाभ्याम् । सर्वाभ्यः । सर्वस्याः । सर्वयोः । सर्वासाम् । सर्वस्या—ङि । यहां आवन्त से परे ङि विभक्ति को (१) आम् आदेश होकर सवर्णदीर्घ एकादेश होजाता है । सर्वस्याम् । सर्वयोः । सर्वासु । इसी प्रकार तीनों लिङ्ग में विश्व आदि गणपठित शब्दों के भी प्रयोग समझने चाहिये ॥ उभ शब्द नियत द्विवचन में आता है । इसकी सर्वनामसंज्ञा का प्रयोजन अकच् प्रत्यय होना है, जैसे । उभकौ । उभौ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । उभय शब्द सर्व शब्द के समान है, जैसे । उभयः । उभयौ । उभये । इत्यादि । कतर । कतम । इतर । अन्य । अन्यतर । इन पांच शब्दों के प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में कुछ विशेष होते हैं ॥ १६९ ॥

५७४—अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ॥ १७० ॥ अ० ७।१।२५॥

जो डतर अर्थात् कतर आदि पांच नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान शब्दों से परे सु और अम् विभक्ति हों तो इनके स्थान में अद्ड् आदेश हो, जैसे । कतर्—सु । कतर्—अम् । कतरत् । कतरद् । इसी प्रकार । कतमत् । इतरत् । अन्यत् । अन्यतरत् । इतर शब्द का वेद में कुछ विशेष है ॥ १७० ॥

५७५—नेतराच्छन्दसि ॥ १७१ ॥ अ० ७ । १ । २६ ॥

वैदिक प्रयोगों में जो नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान इतर शब्द से परे सु और अम् विभक्ति होवे तो उसको अद्ड् आदेश न हो, जैसे । इतरम् २ ॥ १७१ ॥

५७६—वा०—एकतरात् सर्वत्र ॥ १७२ ॥

सर्वत्र अर्थात् वेद और लोक में जो नपुंसकलिङ्गस्थ एकतर शब्द से परे सु और अम् विभक्ति हों तो उनको अद्ड् न हो, जैसे । एकतरन्तिष्ठति । एकतरं पश्य । त्व शब्द अन्य का पर्यायवाची है । इसमें कुछ विशेष नहीं । नेम शब्द में विशेष यह है कि ॥ १७२ ॥

५७७—प्रथमचरमतयाल्पार्द्धकतिपयनेमाश्च ॥ १७३ ॥ अ० १ । १ । ३३ ॥

जो जस् विभक्ति के परे प्रथम । चरम । तयप् प्रत्ययान्त अल्प अर्द्ध । कतिपय । नेम । ये शब्द हों तो इनकी सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो । नेम शब्द

(१) (ङि विभक्ति को आम्) 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' यह सूत्र प्रथम लिख चुके हैं ।

का सर्वादि गण में पाठ होने से प्राप्तविभाषा है। प्रथमादिकों की सर्वनाम संज्ञा में अपूर्वविधान विकल्प है। इसलिये जिस पक्ष में सर्वनामसंज्ञा होती है वहां सर्व-शब्द के समान जस् विभक्ति के स्थान में शी आदेश हो जाता और जहां सर्वनाम संज्ञा नहीं होती वहां पुरुष शब्द के तुल्य प्रयोग जस् विभक्ति में भी होते हैं, जैसे। प्रथमे। प्रथमाः। चरमे। चरमाः। तयप् प्रत्ययान्त-द्वितये। द्वितयाः। त्रितये। त्रितयाः। अल्पे। अल्पाः। अर्द्धे। अर्द्धाः। कतिपये। कतिपयाः। नेमे। नेमाः। आगे प्रथमादि शब्दों के प्रयोग पुरुष शब्द के समान और नेम शब्द के सर्व शब्द के समान समझना चाहिये। सम और सिम शब्दों के कुछ विशेष प्रयोग नहीं किन्तु सर्व शब्द के समान ही हैं ॥ १७३ ॥

५७८—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् ॥ १७४ ॥ अ० १ । १ । ३४ ॥

जस् विभक्ति के परे संज्ञाभिन्न व्यवस्था में। पूर्व। पर। अवर। दक्षिण। उत्तर। अपर। अधर। ये शब्द हों तो इनकी सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। और व्यवस्था में तो नित्य ही होजावे, जैसे। पूर्वे। प्रथमादि शब्दों के समान इन के भी रूप होते हैं, जैसे। पूर्वे। पूर्वाः। परे। पराः। अवरे। अवराः। दक्षिणे। दक्षिणाः। उत्तरे। उत्तराः। अपरे। अपराः। अधरे। अधराः। और जहां संज्ञा और व्यवस्था अर्थ होगा वहां तो पूर्वादिकों को सर्वनामसंज्ञा ही न होगी और पुरुष शब्द के समान प्रयोग होंगे ॥ १७४ ॥

५७९—स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् ॥ १७५ ॥ अ० १ । १ । ३५ ॥

जस् विभक्ति परे हो तो ज्ञाति अर्थात् बन्धु और धन के पर्य्यायवाची स्व शब्द को छोड़ के अन्य अर्थों में इसकी सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। स्वे पुत्राः। स्वे पितरः। स्वाः पितरः। इसके अन्य सब प्रयोग सर्व शब्द के समान जानो। और जहां ज्ञाति और धन के वाची स्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती वहां पुरुष शब्द के समान प्रयोग हो जाते हैं ॥ १७५ ॥

५८०—अन्तरम्बहिर्योगोपसंव्यानयोः ॥ १७६ ॥ अ० १ । १ । ३६ ॥

बहिर्योग जो कुछ अलग हो और उपसंव्यान जो मिला हो। बहिर्योग और उपसंव्यान अर्थ में जस् विभक्ति परे हो तो अन्तर शब्द की सर्वनामसंज्ञा विकल्प करके हो। अन्तरे। अन्तरा वा गृहाः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः। सर्वनामवाची

पूर्वादि नव शब्दों में जो विशेष है सो लिखते हैं ॥ १७६ ॥

५८१-पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥१७७॥ अ० ७ । १ । १६ ॥

पूर्वादि नव शब्दों से परे जो ङसि और ङि विभक्ति हों तो उनके स्थान में स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प करके हों । जिस पक्ष में उक्त आदेश नहीं होते वहां पुरुष शब्द के समान रूप होजाते हैं, जैसे । पूर्वस्मात् । पूर्वात् । पूर्वस्मिन् । पूर्वे । परस्मात् । परात् । परस्मिन् । परे । अवरस्मात् । अवरात् । अवरस्मिन् । अवरे । दक्षिणस्मात् । दक्षिणात् । दक्षिणस्मिन् । दक्षिणे । उत्तरस्मात् । उत्तरात् । उत्तरस्मिन् । उत्तरे । अपरस्मात् । अपरात् । अपरस्मिन् । अपरे । अधरस्मात् । अधरात् । अधरस्मिन् । अधरे । स्वस्मात् । स्वात् । स्वस्मिन् । स्वे । अन्तरस्मात् । अन्तरात् । अन्तरस्मिन् । अन्तरे । अब इसके आगे सर्वाद्यन्तर्गत त्यदादि शब्दों के भी प्रयोग तीनों लिङ्ग में दिखलाते हैं । पुल्लिङ्ग त्यद् शब्द । त्यद्-सु ॥१७७॥

५८२-त्यदादीनामः ॥ १७८ ॥ अ० ७ । २ । १०२ ॥

जो सु आदि विभक्ति परे हों तो त्यदादि शब्दों के अन्त को अकारादेश हो । यहां दकार को अकार और दोनों अकारों को एकादेश होकर । त्य-सु । इस अवस्था में ॥ १७८ ॥

५८३-तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥१७९॥ अ० ७ । २ । १०६ ॥

सु विभक्ति परे हो तो त्यदादि शब्दों के आदि वा मध्य में जो तकार दकार हैं उनको सकारादेश हो, जैसे । स्यः । त्यौ । त्ये । त्यम् । त्यौ । त्यान् । त्येन । त्याभ्याम् । त्यैः । त्यस्मै । त्याभ्याम् । त्येभ्यः । त्यस्मात् । त्याभ्याम् । त्येभ्यः । त्यस्य । त्ययोः । त्येषाम् । त्यस्मिन् । त्ययोः । त्येषु ॥ नपुंसकलिङ्ग त्यद् शब्द । त्यद्--सु । यहां सु और अम् का लुक् (१) होने से अन्त्य तकार को सकारादेश नहीं होता । त्यत् । त्यद् । त्ये । त्यानि । फिर भी । त्यत् । त्यद् । त्ये । त्यानि । आगे सर्व शब्द के समान जानो । स्त्रीलिङ्ग त्यद् शब्द । त्यद्-सु । यहां विभक्ति विषय मानकर अकारादेश होके (२) अकारान्त से टाप् (३) होजाता है । त्या-सु । पीछे अन्त्य तकार को सकार होकर । स्या । त्ये । त्याः ।

(१) (सु-अम्-लुक्) स्वमोर्नपुंसकात् ॥
(२) (अकारादेश) त्यदादीनामः ॥
(३) (अकारान्त से टाप्) अजाद्यतष्टाप् ॥

त्याम् । त्ये । त्याः । त्यया । त्याभ्याम् । त्याभिः । त्यस्यै । (१) त्याभ्याम् । त्याभ्यः । त्यस्याः । त्याभ्याम् । त्याभ्यः । त्यस्याः । त्ययोः । त्यासाम् । त्यस्याम् । त्ययोः । त्यासु ॥ पुल्लिङ्ग तद् शब्द । सः । तौ । ते । तम् । तौ । तान् । तेन । ताभ्याम् । तैः । तस्मै । ताभ्याम् । तेभ्यः । तस्मात् । ताभ्याम् । तेभ्यः । तस्य । तयोः । तेषाम् । तस्मिन् । तयोः । तेषु ॥ नपुंसक लिङ्ग तद् शब्द । तत् । तद् । ते । तानि । फिर भी । तत् । तद् । ते । तानि । आगे पुल्लिङ्ग के समान ॥ स्त्रीलिङ्ग तद् शब्द । सा । ते । ताः । ताम् । ते । ताः । तया । ताभ्याम् । ताभिः । तस्यै । ताभ्याम् । ताभ्यः । तस्याः । ताभ्याम् । ताभ्यः । तस्याः । तयोः । तासाम् । तस्याम् । तयोः । तासु । यहां तीनों लिङ्ग में त्यद् शब्द के समान सूत्र लगते हैं तथा यद् शब्द में भी कुछ विशेष नहीं । पुल्लिङ्ग यद् शब्द । यः । यौ । ये । यम् । यौ । यान् । येन । याभ्याम् । यैः । यस्मै । याभ्याम् । येभ्यः । यस्मात् । याभ्याम् । येभ्यः । यस्य । ययोः । येषाम् । यस्मिन् । ययोः । येषु ॥ नपुंसक लिङ्ग यद् शब्द । यत् । यद् । ये । यानि । फिर भी । यत् । यद् । ये । यानि । अन्य प्रयोग पुल्लिङ्ग के समान जानने चाहिये ॥ स्त्रीलिङ्ग यद् शब्द । या । ये । याः । याम् । ये । याः । यया । याभ्याम् । याभिः । यस्यै । याभ्याम् । याभ्यः । यस्याः । याभ्याम् । याभ्यः । यस्याः । ययोः । यासाम् । यस्याम् । ययोः । यासु ॥ पुल्लिङ्ग एतत् शब्द । एतत्—सु । यहां एतत् शब्द के मध्य (२) तकार को सकारादेश होकर मूर्द्धन्य षकारादेश होजाता है । एषः । एतौ । एते ॥ १७६ ॥

५८४–द्वितीया टौस्स्वेनः ॥ १८० ॥ अ० २ । ४ । ३४ ॥

अन्वादेश विषय में द्वितीया टा और ओस् विभक्ति परे हों तो इदम् और एतत् शब्द को एन आदेश हो । अन्वादेश उसको कहते हैं कि जहां एक वाक्य में किसी शब्द को कहकर विषयान्तर प्रकाशित करने के लिये उसी शब्द को दूसरे वाक्य में कहें । जैसे—एतं बालं शिक्षामपीपठः । अथो एनं वेदमध्यापय । एतौ । एनान् । एतेन बालेन रात्रिरधीता । अथो एनेनाहरप्यधीतम् । एतयोर्बालयोः शोभनं शीलम् । अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा । यहां तीनों जगह उत्तर २ वाक्य में एनादेश हुआ है । परन्तु केवल एतत् शब्द के प्रयोगों में कुछ विशेष न होगा । एतम् । एतौ । एतान् । एतेन । एताभ्याम् । एतैः । एतस्मै ।

(१) (स्याट् का आगम) सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ॥
(२) (तकार को सकार) तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥

एताभ्याम् । एतेभ्यः । एतस्मात् । एताभ्याम् । एतेभ्यः । एतस्य । एतयोः । एतेषाम् । एतस्मिन् । एतयोः । एतेषु ॥ १८० ॥

नपुंसकलिङ्ग एतत् शब्द ॥

एतत् । एतद् । एते । एतानि । फिर भी । एतत् । एतद् । एते । एतानि । अन्य प्रयोग पूर्व के समान जानना ॥

स्त्रीलिङ्ग एतद् शब्द ॥

एषा । एते । एताः । एताम् । एते । एताः । एतया । एताभ्याम् । एताभिः । एतस्यै । एताभ्याम् । एताभ्यः । एतस्याः । एताभ्याम् । एताभ्यः । एतस्याः । एतयोः । एतासाम् । एतस्याम् । एतयोः । एतासु ॥

पुल्लिङ्ग इदम् शब्द ॥

इदम्–सु ॥

५८५–इदमो मः ॥ १८१ ॥ अ० ७ । २ । १०८ ॥

सु विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के मकार को मकार ही आदेश हो अर्थात् त्यदादिकों को जो अकारादेश कहा है सो न हो ॥ १८१ ॥

५८६–इदोऽय्पुंसि ॥ १८२ ॥ अ० ७ । २ । १११ ॥

पुल्लिङ्ग विषय में इदम् शब्द के इद् भाग को अय् आदेश हो। अय्–अम्–स्। हल्ङ्यादिलोप होकर । अयम् । इदम्–औ । यहां (१) अकारादेश होकर । इद–औ ॥ १८२ ॥

५८७–दश्च ॥ १८३ ॥ अ० ७ । २ । १०९ ॥

विभक्ति के परे इदम् शब्द के दकार को मकारादेश हो । इम–औ । यहां पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होकर । इमौ । इम–जस् । सर्व शब्द के समान इमे । इमम् । इमौ । इमान् । इदम्–टा । यहां भी (२) मकार को अकारादेश और एकादेश होकर ॥ १८३ ॥

५८८–अनाप्यकः ॥ १८४ ॥ अ० ७ । २ । ११२ ॥

आप् अर्थात् टा और ओस् विभक्ति परे हों तो ककारभिन्न इदम् शब्द के इद् भाग को अन आदेश हो । टा के स्थान में इन होकर । अनेन । ककारभिन्न कहने

(१) (अकारादेश) त्यदादीनामः ॥
(२) (मकार को अ) त्यदादीनामः । (एकादेश) अतोगुणे ॥

का प्रयोजन यह है कि । इमकेन । यहां अन आदेश न हो । अगले सूत्र में हल् ग्रहण के होने से इस सूत्र करके अन आदेश अजादि विभक्तियों में होता है सो तृतीयादि अजादि विभक्तियों में भी टा और ओस् के परे ही जानना चाहिये अन्यत्र नहीं । इद्–भ्याम् ॥ १८४ ॥

५८९–हलि लोपः ॥ १८५ ॥ अ० ७ । २ । ११३ ॥

तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हों तो इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो । अ–भ्याम् । अदन्त (१) अङ्ग को दीर्घ होकर । आभ्याम् । अ–भिस् । यहां भी अदन्त शब्दों के समान भिस् विभक्ति को ऐस् आदेश प्राप्त है इसलिये ॥ १८५ ॥

५९०–नेदमदसोरकोः ॥ १८६ ॥ अ० ७ । १ । ११ ॥

जो ककारभिन्न इदम् और अदस् शब्द से परे भिस् विभक्ति हो तो इसको ऐस् आदेश न हो । फिर (२) एकारादेश होकर । एभिः । ककारभिन्न इसलिये कहा है कि । इमकैः । अमुकैः । अस्मै । आभ्याम् । एभ्यः । अस्मात् । आभ्याम् । एभ्यः । अस्य । इदम्–ओस् । यहां भी पूर्वसूत्र से अन आदेश होकर । अनयोः । एषाम् । अस्मिन । अनयोः । एषु ॥ जब इदम् शब्द अन्वादेश में आता है तब कुछ प्रयोग विशेष होते हैं ॥ १८६ ॥

५९१–इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ ॥ १८७ ॥ अ० २ । ४ । ३२ ॥

अन्वादेश विषय में तृतीयादि विभक्ति परे हों तो इदम् शब्द के स्थान में अनुदात्त अश् आदेश हो । अन्वादेश के भी रूप जैसे पूर्व लिख चुके वैसे ही होंगे परन्तु स्वर में भेद होगा । जहां तृतीयादि हलादि विभक्तियों में इद्भाग का लोप होगा वहां । आभ्याम् । अस्मै । ऐसा स्वर होगा । और जहां अन्वादेश में अश् आदेश होगा वहां । आभ्याम् । अस्मै । ऐसा होगा (द्वितीयाटौस्स्वेनः) इस उक्त सूत्र से द्वितीया टा ओस् इन तीन विभक्तियों में जैसे एतत् शब्द को उत्तर वाक्य में एन आदेश और पूर्व वाक्य में एतत् शब्द का प्रयोग आता है वैसे यहां भी पूर्व वाक्य में इदम् शब्द का प्रयोग और उत्तर वाक्य में एन आदेश का प्रयोग किया जाता है ॥ १८७ ॥

नपुंसकलिङ्ग इदम् शब्द ॥

इसमें इतना विशेष है कि इदम् के मकार को अ और सु विभक्ति को अम्

(१) (अदन्त अङ्ग को दीर्घ) अतोदीर्घोयञि ॥
(२) (एकारादेश) बहुवचने झल्येत् ॥

होके । इदम् । इमे । इमानि । फिर भी । इदम् । इमे । इमानि । आगे पुल्लिङ्ग के सदृश प्रयोग होंगे ॥

स्त्रीलिङ्ग इदम् शब्द ॥

इदम्–सु । यहां अकारादेश का निषेध होकर ॥

५६२–यः सौ ॥ १८८ ॥ अ० ७ । २ । ११० ॥

सु विभक्ति परे हो तो इदम् शब्द के दकार को यकारादेश हो के । इयम् । आगे इसको अदन्त के होने से टाप् होकर कन्या शब्द के समान जानो, जैसे । इमे । इमाः । इमाम् । इमे । इमाः । इद–टा । (१) अन आदेश होके । अनया । यहां भी । भ्याम् आदि तृतीयादि हलादि विभक्तियों में (२) इद् भाग का लोप हो जाता है । आभ्याम् । आभिः । अस्यै । आभ्याम् । आभ्यः । अस्याः । आभ्याम् । आभ्यः । अस्याः । अनयोः । आसाम् । अस्याम् । अनयोः । आसु ॥ १८८ ॥

पुल्लिङ्ग अदस् शब्द ॥

अदस्–सु ॥

५६३–अदस औ सुलोपश्च ॥ १८९ ॥ अ० ७ । २ । १०७ ॥

जो सु विभक्ति परे हो तो अदस् शब्द के सकार को औ आदेश और सु विभक्ति का लोप होजावे । अदस्–औ । यहां (३) दकार को सकारादेश होकर । असौ । अदस्–औ । यहां से आगे औ आदि विभक्तियों में (४) अकारादेश होकर अद सर्वत्र रहजाता है । अद–औ ॥ १८९ ॥

५६४–अदसो सेर्दादुदो मः ॥ १९० ॥ अ० ८ । २ । ८० ॥

सकार भिन्न अदस् शब्द के दकार से परे अवर्ण को उवर्ण आदेश और उस के दकार को मकारादेश होजावे । अमु–औ । यहां पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होके । अमू । अद–जस् । सर्व शब्द के समान अदन्त सर्व नाम से परे जस् को शी और पूर्व पर के स्थान में गुण एकादेश होकर । अदे । यहां ॥ १९० ॥

५६५–एत ईद्बहुवचने ॥ १९१ ॥ अ० ८ । २ । ८१ ॥

अदस् शब्द के दकार से परे जो एकार उसको ईकारादेश और दकार को

(१) (इद् को—अन्) अनाप्यकः ॥
(२) (इद् भाग का लोप) हलि लोपः ॥
(३) (दकार को स्) तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥
(४) (अकारादेश) त्यदादीनाम् ॥

मकारादेश हो । अमी । अमु–अम् । अमुम् । अमू । अमून् । अमुना । अमूभ्याम् । अदस्–भिस् । (१) यहां भिस् को ऐस् का निषेध एकार को बहुवचन में ईकार और दकार को मकारादेश होकर । अमीभिः । अमुष्मै । अमूभ्याम् । अमीभ्यः । अमुष्मात् । अमूभ्याम् । अमीभ्यः । अमुष्य । अमुयोः । अमीषाम् । अमुष्मिन् । अमुयोः । अमीषु ॥ १६१ ॥

नपुंसकलिङ्ग अदस् शब्द ॥

अदस्–सु । यहां (२) सु और अम् का लुक् सकारको रुत्व और रु को विसर्जनीय होके । अदः । अमु–औ । अमू । अमूनि । फिर भी । अदः । अमू । अमूनि । आगे पुल्लिङ्ग के समान जानो ॥

स्त्रीलिङ्ग अदस् शब्द ॥

अदस्–सु । पूर्ववत् । असौ । अदा–औ । इस अवस्था में वृद्धि एकादेश दकार से परे औकार को दीर्घ ऊकार और दकार को मकारादेश होकर । अमू । अमूः । अमूम् । अमू । अमूः । अदा–टा । यहां आकार को एकार और उसको अय् आदेश होकर । अदया । इस अवस्था में दकार से परे अकार को उकार और दकार को मकारादेश होकर । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्याम् । अमूभ्यः । अमुया । अमूभ्याम् । अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमुष्याम् । अमूषाम् । अमुयोः । अमूषु ॥

सर्वनाम पुल्लिङ्ग एक शब्द ॥

एकः । एकौ । एके । एकम् । एकौ । एकान् । एकेन । एकाभ्याम् । एकैः । एकस्मै । एकाभ्याम् । एकेभ्यः । एकस्मात् । एकाभ्याम् । एकेभ्यः । एकस्य । एकयोः । एकेषाम् । एकस्मिन् । एकयोः । एकेषु ॥ नपुंसक लिङ्ग में । एकम् । एके । एकानि । फिर भी एकम् । एके । एकानि । आगे पुल्लिङ्ग के समान ॥

स्त्रीलिङ्ग एक शब्द ॥

सर्वा शब्द के समान, जैसे । एका । एके । एकाः । एकाम् । एके । एकाः । एकया । एकाभ्याम् । एकाभिः । एकस्यै । एकाभ्याम् । एकाभ्यः । एकस्याः । एकाभ्याम् । एकाभ्यः । एकस्याः । एकयोः । एकासाम् । एकस्याम् । एकयोः । एकासु ॥

---

(१) (भिस् को ऐस् का निषेध) नेदमदसोरकोः ॥
(२) (सु–अम् का लुक्) स्वमोर्नपुंसकात । (स्–रु) ससजुषोरुः ॥

पुल्लिङ्ग संख्यावाची द्वि शब्द ॥

इस शब्द के नियत द्विवचनांत ही प्रयोग किये जाते हैं। द्वि—औ। त्यदादिकों में होने से अकारादेश होकर वृद्धि एकादेश होजाता है। द्वौ। द्वौ। द्विभ्याम्। अकारादेश और दीर्घ होकर। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वाभ्याम्। द्वयोः। द्वयोः। नपुंसक और स्त्रीलिङ्ग में प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में। द्वे। द्वे। ऐसे प्रयोग होंगे। आगे पुल्लिङ्ग के तुल्य जानो॥

सर्वनामवाची युष्मद् और अस्मद् शब्द ॥

इन दोनों शब्दों के तीनों लिंग और सातों विभक्तियों में एक प्रकार के प्रयोग होते हैं इसलिये इनके प्रयोग साथ २ ही लिखते हैं। युष्मद्—सु। अस्मद्—सु॥

५९६—मपर्यन्तस्य ॥ १९२ ॥ अ० ७। २। ९१ ॥

यह अधिकार सूत्र है। यहां से आगे युष्मद् और अस्मद् शब्द को जो आदेश कहें वे मपर्यन्त को हों॥ १९२॥

५९७—त्वाहौ सौ ॥ १९३ ॥ अ० ७। २। ९४ ॥

जो सु विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से त्व और अह आदेश हों युष्म् अस्म् को आदेश होकर। त्व—अद्—सु। अह—अद्—सु॥१९३॥

५९८—शेषे लोपः ॥ १९४ ॥ अ० ७। २। ९० ॥

शेष अर्थात् आदेश होकर जो अद् भाग बचा है उसका लोप हो, जैसे। त्व-सु। अह—सु॥ १९४॥

५९९—ङे प्रथमयोरम् ॥ १९५ ॥ अ० ७। १। २८ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङे और प्रथमा द्वितीया विभक्ति हों तो इन के स्थान में अम् आदेश हो, जैसे। त्व—अम्। अह—अम्। पूर्वरूप एकादेश होकर। त्वम्। अहम्। युष्मद्—औ। अस्मद्—औ॥ १९५॥

६००—युवावौ द्विवचने ॥ १९६ ॥ अ० ७। २। ९२ ॥

द्विवचन विभक्तियों के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्य्यन्त के स्थान में क्रम से युव, आव, आदेश हों। युव—अद्—औ। आव—अद्—औ। अद्भाग का लोप होके। युव—औ। आव—औ॥ १९६॥

६०१–प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ॥१६७॥ अ० ७।२।८८॥

जो भाषा अर्थात् लौकिक प्रयोगविषय में प्रथमा विभक्ति का द्विवचन परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो, जैसे। युवाम्। आवाम्। भाषा के कहने से वेद में आकारादेश नहीं होता। युवाम् । आवाम् । ऐसे ही प्रयोग होते हैं। युष्मद्–जस्। अस्मद्–जस्॥ १६७॥

६०२–यूयवयौ जसि ॥ १६८ ॥ अ० ७। २। ६३ ॥

जो जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से यूय, वय, आदेश हों। शेष अद् भाग का लोप और जस् को (१) अम् आदेश होकर। यूयम्। वयम्। युष्मद्–अम्। अस्मद्–अम्॥ १६८॥

६०३–त्वमावेक वचने ॥ १६९ ॥ अ० ७। २। ६७ ॥

एकवचन विभक्तियों में युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त के स्थान में क्रम से त्व, म, आदेश हों। त्व–अद्–अम्। म–अद्–अम्॥ १६९॥

६०४–द्वितीयायां च ॥ २०० ॥ अ० ७। २। ८७ ॥

द्वितीया विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्दों को आकारादेश हो। अन्त्य दकार को अकार और दोनों को सवर्णादीर्घ एकादेश होकर। त्वाम्। माम्। युष्मद्–औ। अस्मद्–औ। यहां मपर्य्यन्त को युव, आव, दकार को आकार, औ के स्थान में अम् और पूर्व सवर्णादीर्घ एकादेश होकर। युवाम्। आवाम्। युष्मद्-शस्। अस्मद्–शस्। यहां भी दकार को आकार और पूर्व सवर्णादीर्घ एकादेश होके॥२००॥

६०५–शसो न ॥ २०१ ॥ अ० ७। २। २९ ॥

युष्मद् अस्मद् शब्द से परे जो शस् उसके सकार को नकारादेश हो, जैसे। युष्मान्। अस्मान्। युष्मद्-टा। अस्मद्-टा। यहां एकवचन में युष्मद्। अस्मद् के मपर्यन्त को त्व, म, आदेश हो के। त्व–अद्–टा। म–अद्–टा॥ २०१॥

६०६–योऽचि ॥ २०२ ॥ अ० ७। १। ८९ ॥

अनादेश अर्थात् जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह अजादि विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को यकारादेश हो। अन्त्य दकार को य् और अकार को पूर्वसवर्ण एकादेश होकर। त्वया। मया। द्विवचन में। युव–अद्- भ्याम्। आव–अद्–भ्याम्। यहां॥ २०२॥

---

(१) (जस् को अम् आदेश) ङे प्रथमयोरम्॥

६०८—युष्मदस्मदोरनादेशे ॥ २०३ ॥ अ० ७ । २ । ८६ ॥

जिसको कोई आदेश न हुआ हो वह हलादि विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द को आकारादेश हो । दकार को आकार और दीर्घ एकादेश होके युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्माभिः । अस्माभिः । युष्मद्—ङे ॥ २०३ ॥

६०९—तुभ्यमह्यौ ङयि ॥ २०४ ॥ अ० ७ । २ । ९५ ॥

ङे विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को तुभ्य और मह्य आदेश क्रम से हों विभक्ति को अम् (१) आदेश और अद्भाग का लोप होके ॥ तुभ्यम् । मह्यम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्मद्—भ्यस् । अस्मद्—भ्यस् ॥ २०४ ॥

६१०—भ्यसोऽभ्यम् ॥ २०५ ॥ अ० ७ । १ । ३० ॥

युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् विभक्ति को अभ्यम् आदेश हो । अद्भाग का लोप होकर । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् । युष्मद्—ङसि । अस्मद्—ङसि । यहां एक-वचन में मपर्य्यन्त को त्व, म आदेश और अद्भाग का लोप होकर ॥ २०५ ॥

६११—एकवचनस्य च ॥ २०६ ॥ अ० ७ । १ । ३२ ॥

जो युष्मद् अस्मद् से परे पञ्चमी विभक्ति का एकवचन हो तो उसको अत् आदेश हो, त्व—अत्, म—अत् (२) पररूप गुण एकादेश होकर । त्वत् । मत् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । युष्मद्—भ्यस् । अस्मद्—भ्यस् । यहां अद्भाग का लोप हो के ॥ २०६ ॥

६१२—पञ्चम्या अत् ॥ २०७ ॥ अ० ७ । १ । ३१ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्द से परे पञ्चमी विभक्ति का भ्यस् हो तो उसको अत् आदेश हो । पररूप एकादेश हो के । युष्मत् । अस्मत् । युष्मद्—ङस् । अस्मद्—ङस् ॥२०७॥

६१३—तवममौ ङसि ॥ २०८ ॥ अ० ७ । २ । ९६ ॥

ङस् विभक्ति के परे युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त को तव और मम आदेश हों । यहां भी अद्भाग का लोप होकर । तव—ङस् । मम—ङस् ॥ २०८ ॥

६१४—युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ॥२०९॥ अ० ७ । १ । २७॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्दों से परे ङस् विभक्ति हो तो उसको अश् आदेश होवे, अश् आदेश में शकार इसलिये है कि ङस्मात्र के स्थान में अकार होजावे । पर-रूप एकादेश होके तव, मम । युष्मद्—ओस्, अस्मद्—ओस्, यहां भी द्विवचन में

---

(१) (विभक्ति को अम्) ङेप्रथमयोरम् ॥
(२) (पररूपगुण) अतोगुणे ॥

मपर्य्यन्त को युव आव और (१) दकार को यकारादेश होकर । युवयोः । आवयोः । युष्मद्-आम् । अस्मद्-आम् । यहां सर्वनामसंज्ञा के होने से (२) सुट् और अद्भाग का लोप होकर ॥ २०९ ॥

६१५-साम आकम् ॥ २१० ॥ अ० ७ । १ । ३३ ॥

जो युष्मद् अस्मद् शब्द से परे सुट्सहित षष्ठी का बहुवचन आम् विभक्ति हो तो उसको आकम् आदेश हो । फिर एकादेश होकर । युष्माकम् । अस्माकम् । युष्मद्-ङि । अस्मद्-ङि । यहां भी एकवचन में मपर्य्यन्त को त्व, म और दकार को यकारादेश होके, त्वयि । मयि । युवयोः । आवयोः । युष्मद्-सु अस्मद्-सु यहां दकार को आकार (३) आदेश हो के युष्मासु । अस्मासु । अब इन दो शब्दों में विशेष इतना है कि ॥ २१० ॥

६१६-युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥ २११ ॥ अ० ८ । १ । २० ॥

षष्ठी चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान पद से परे जो युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में क्रम से वाम् और नौ आदेश हों और वे आगे कहे नियमानुसार अनुदात्त भी होजावें, यहां वाम् और नौ द्विवचन युष्मद् अस्मद् के स्थान में समझे जाते हैं, जैसे, षष्ठी द्विवचन युष्मद्-ओस्, अस्मद्-ओस्, ग्रामो वां स्वम्, जनपदो नौ स्वम्, यहां युवयोः । आवयोः । ऐसा प्राप्त था, चतुर्थीस्थ, ग्रामो वां दीयते, जनपदो नौ दीयते, यहां युवाभ्याम् । आवाभ्याम् प्राप्त हैं, द्वितीयास्थ, माणवको वां पश्यति । यहां युवाम्, आवाम् प्राप्त हैं, इस सूत्र में स्थ ग्रहण इसलिये है कि दृष्टो मया युष्मत्पुत्रः, यहां समास में षष्ठी का लुक् होने से आदेश और अनुदात्त भी नहीं हुआ ॥ २११ ॥

६१७-बहुवचनस्य वस्नसौ ॥ २१२ ॥ अ० ८ । १ । २१ ॥

जो षष्ठी चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान पद से परे बहुवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वस् और नस् आदेश हों । जैसे षष्ठीस्थ, विद्या वो धनम् । राज्यं नो धनम् । यहां युष्माकम्, अस्माकम् । ऐसा प्राप्त था, चतुर्थीस्थ, नमो वः पितरः, शन्नो भवतु, यहां युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्, पाता है, द्वितीयास्थ, बालो वः पश्यति, मानो वधीः । यहां युष्मान्, अस्मान् प्राप्त था ॥ ५१२ ॥

(१) (द को य) योऽचि ॥
(२) (सुट्) आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥
(३) (द को आ) युष्मदस्मदोरनादेशे ॥

६१८—तेमयावेकवचनस्य ॥ २१३ ॥ अ० ८ । १ । २२ ॥

जो षष्ठी चतुर्थी और द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान पद से परे अपदादि में एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में ते, मे आदेश हों जैसे । नि मे धेहि । नि ते दधे । तुभ्यम् । मह्यम् । ऐसा प्राप्त है । इत्यादि ॥ २१३ ॥

६१९—त्वामौ द्वितीयायाः ॥ २१४ ॥ अ० ८ । १ । २३ ॥

जो पद से परे एकवचन द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में त्वा मा ये अनुदात्त आदेश हों । जैसे । कस्त्वा युनक्ति । पुनन्तु मा देवजनाः । इत्यादि । यहां । त्वाम् । माम् । प्राप्त हैं ॥ २१४ ॥

६२०—नच वाहाहैव युक्ते ॥ २१५ ॥ अ० ८ । १ । २४ ॥

जो युष्मद् अस्मद् को च, वा, ह, अह, एव, इनका योग हो तो उनके स्थान में वाम्, नौ आदि आदेश न हों । जैसे । ग्रामो युवयोश्च स्वम् । ग्राम आवयोश्च स्वम् । इत्यादि ॥ २१५ ॥

६२१—पश्यार्थैश्चानालोचने ॥ २१६ ॥ अ० ८ । १ । २५ ॥

जो पश्यार्थ धातुओं के अनालोचन अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वां नौ आदि आदेश न हों । जैसे । ग्रामस्त्वाम् संप्रेक्ष्य संदृश्य समीक्ष्य गतः । ग्रामस्तव संप्रेक्ष्य गतः । ग्रामो मम संप्रेक्ष्य गतः ॥ इत्यादि ॥ २१६ ॥

६२२—सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥ २१७ ॥ अ० ८ । १ । २६ ॥

प्रथमान्त पद जिससे पूर्व हो ऐसे युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वां नौ आदि आदेश विकल्प करके हों । जैसे अथो ग्रामे कम्बलो मे स्वम् । अथो ग्रामे कम्बलो मम स्वम् । अथो जनपदे कम्बलस्ते स्वम् । अथो जनपदे कम्बलस्तव स्वम् । इत्यादि ॥ २१७ ॥

६२३—वा०—युष्मदस्मदोरन्यतरस्यामनन्वादेशे ॥ २१८ ॥

जहां अनन्वादेश अर्थात् किसी वाक्य के पीछे उसी का निर्देश करना न हो ऐसे अर्थ में वर्त्तमान जो युष्मद् अस्मद् पद हों तो उनके स्थान में वाम् नौ आदेश विकल्प करके हों । जैसे ग्रामे कम्बलो वां स्वम् । ग्रामे कम्बलो युवयोः स्वम् । ग्रामे कम्बलो नौ स्वम् । ग्रामे कम्बल आवयोः स्वम् ॥ २१८ ॥

६२४—वा०—अपर आह । सर्व एव वान्नावादयोऽनन्वादेशे विभाषा वक्तव्याः ॥ २१९ ॥

इस विषय में किन्हीं लोगों का ऐसा मत है कि अनन्वादेश में सब वां, नौ

आदि आदेश विकल्प करके हों। जैसे। कम्बलस्ते स्वम्। कम्बलस्तव स्वम्। कम्बलो मे स्वम्। कम्बलो मम स्वम्। इति युष्मद् अस्मद् प्रकरणम् ॥ २१६ ॥

भवत् शब्द सर्वादिगण में पढ़ा है इसकी सर्व नाम संज्ञा होने का प्रयोजन यह है कि (अकच्छेषात्वानि) अकच्। भवकान्। शेष। सच भवांश्च भवन्तौ। आत्व। भवादृशः ॥ २१६ ॥

पुल्लिङ्ग भवतु शब्द ॥

भवत्–सु। यहां सर्वनामस्थानसंज्ञा होने से (१) नुम् सु के परे दीर्घ हल् से परे सकार का लोप और संयोगान्तलोप होकर। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। भवन्तन्। भवन्तौ। भवतः। भवता। भवद्भ्याम्। भवद्भिः। भवते। भवद्भ्याम्। भवद्भ्यः। भवतः। भवद्भ्याम्। भवद्भ्यः। भवतः। भवतोः। भवताम्। भवति। भवतोः। भवत्सु। इसके सब कार्य्य तकारान्त पठत् शब्द के समान और नपुंसकलिङ्ग में उदश्वित् शब्द के समान समझो। स्त्रीलिङ्ग में ईकारान्त होके भवती। भवत्यौ। भवत्यः। इत्यादि स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त कुमारी शब्द के समान जानो। सर्वनाम पुल्लिङ्ग किम् शब्द। किम्–सु ॥

६२५–किमः कः ॥ २२० ॥ अ० ७। २। १०३ ॥

सब विभक्तियों में किम् शब्द को क आदेश हो। अन्य कार्य सर्व शब्द के समान। कः। कौ। के। कम्। कौ। कान्। केन। काभ्याम्। कैः। कस्मै। काभ्याम्। केभ्यः। कस्मात्। काभ्याम्। केभ्यः। कस्य। कयोः। केषाम्। कस्मिन्। कयोः। केषु। नपुंसकलिङ्ग में। किम्। के। कानि। फिर भी। किम्। के। कानि। आगे पुल्लिङ्ग के समान। स्त्रीलिङ्ग में। का। के। काः। काम्। के। काः। कया। काभ्याम्। काभिः कस्यै। काभ्याम्। काभ्यः। कस्याः। काभ्याम्। काभ्यः। कस्याः। कयोः। कासाम्। कस्याम्। कयोः। कासु ॥ शब्दों का रूपविषय पूरा हुआ। अब वे नियम लिखते हैं कि जो वेदों में पुरुष आदि सब शब्दमात्र में घटेंगे ॥ २२० ॥

६२६–सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥२२१॥ अ० ७। १। ३९ ॥

६२७–वा०–सुपां च सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् ॥२२२॥

सूत्र और वार्त्तिक का अर्थ इकट्ठाही किया जाता है। वैदिक प्रयोग विषय में सुप् अर्थात सु आदि इक्कीस प्रत्यय कि जिनको सात विभक्ति कहते हैं।

(१) (नुम्) उगिदचांसर्वनामस्थानेऽधातोः। (सुकेपरेदीर्घ) अत्वसन्तस्य चाधातोः। (हलसे सलोप) हल्ङ्या०। (संयोगान्त लोप) संयोगान्तस्य लोपः ॥

उनके स्थान में सुप् अर्थात् किसी के स्थान में कोई प्रत्यय का आदेश लुक्, पूर्वसवर्ण, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश होजाते हैं। सुप्। ऋजवः सुपन्थाः। यहां बहुवचन जस् के स्थान में एकवचन सु आदेश हुआ है। पन्थानः ऐसा प्राप्त था, युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणायाः। यहां सप्तमी एकवचन के स्थान में षष्ठी का एकवचन हो जाता है। दक्षिणायाम्। ऐसा पाता था। लुक्। परमे व्योमन् यहां सप्तमी के एकवचन का लुक् होगया है व्योम्नि ऐसा प्राप्त है, पूर्वसवर्ण। धीती। मती। यहां तृतीया के एकवचन को पूर्वसवर्ण आदेश हुआ है। धीत्या। मत्या। ऐसा प्राप्त था। सोमो गौरी अधिश्रितः, मामकी तनू इति। यहां सप्तमी के एकवचन को पूर्वसवर्ण हुआ है, सोमो गौर्याम्, मामक्याम् तन्वाम्, ऐसा प्राप्त था आत्। उभा यन्तारा। यहां प्रथमा वा द्वितिया के द्विवचन के स्थान में। उभौ यन्तारौ। ऐसा पाता था। शेष युष्मे वाजबन्धवः। यहां बहुवचन जस् के स्थान में। यूयं वाजबन्धवः। ऐसा प्राप्त था। या, उरुया यहां तृतीया के एकवचन टा के स्थान में उरुणा, ऐसा प्राप्त था। डा, नाभा पृथिव्याम्, यहां सप्तमी के एकवचन के स्थान में डा हो गया है, नाभौ पृथिव्याम्, ऐसा प्राप्त था, ड्या, अनुष्ट्या, यहां तृतीया के एक वचन के स्थान में ड्या हो गया है, अनुष्टुभा, ऐसा पाता था। याच्, साधुया, यहां प्रथमा के एकवचन को याच् हुआ है, साधु, ऐसा होना था, आल्, वसन्ता यजेत, यहां सप्तमी के एकवचन को आल् आदेश हो गया है। वसन्ते, ऐसा होना था ॥ २२१, २२२ ॥

६२८–वा०–इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् ॥ २२३ ॥

सुपों के स्थान में, इया, डियाच्, ईकार, ये तीन आदेश हों, इया दार्विया परिज्मन्, यहां तृतीया के एकवचन को इया हो गया है, दारुणा, ऐसा पाता था। डियाच्, सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु, सुक्षेत्रिया, सुगात्रिया, यहां भी सुमित्राः और सुक्षेत्रिणा, सुगात्रिणा, ऐसा प्राप्त था। ईकार, दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्, यहां सप्तमी के एकवचन को ईकार हो गया है, सरसि शयानम्, ऐसा होना था ॥ २२३ ॥

६२९–आङयाजयारां चोपसंख्यानम् ॥ २२३ ॥

आङ् अयाच् अयार् ये भी तीन सुपों के स्थान में आदेश हों, आङ् प्रबाहवा, यहां तृतीया के एकवचन को आङ् आदेश हुआ है, प्रबाहुना, ऐसा,

प्राप्त था । अयाच् स्वप्नया वाव सेचनम्, यहां भी तृतीया के स्थान में अयाच्, हुआ है । स्वप्नेन ऐसा प्राप्त था । अयार्, सनः सिन्धुमिव नावया, यहां भी तृतीया के एकवचन को अयार् हुआ है, नावा ऐसा प्राप्त है ॥ २२४ ॥

अथ लिङ्गानुशासनविषयक प्रत्ययों का संकेत करते हैं ॥

अष्टाध्यायी और उणादिस्थ प्रत्ययों का परिगणन कि जिनके तीनों लिङ्ग में प्रयोग होते हैं, तव्यत्, तव्य, अनीयर्, केलिमर्, यत्, क्यप्, ण्यत्, ण्वुल्, तृच्, ल्यु, णिनि, अच्, क, श, क, ष्वुन्, थकन्, ण्युट्, वुन्, अण्, क, टक्, अच्, ट, इन्, खश्, खच्, अण्, ड, णिनि, टक्, ख्युन्, खिष्णुच्, खुकञ्, क्विन्, कञ्, क्विप्, णिव, ज्युट्, विट्, कप्, णिवन्, विच्, मनिन्, वनिप्, वनिप्, क्विप्, णिनि, क्विप्, इन्ति, क्वनिप्, ड्वा, ङ्वनिप्, अतृन्, निष्ठा, कवाच्, क्वसु, शतृ, शानच्, शानन्, चानश्, शतृ, तृन्, इष्णुच्, क्स्नु, क्नु, घिनुण् वुञ्, युच्, उकञ्, षाकन्, इनि, आलुच्, रु, कारच्, घुरच्, कुरच्, क्मरच्, ऊक, र, उ, कि, क्विन्, नजिङ्, आरु, क्रु, क्लुकन्, क्रुकन्, वरच्, क्विप्, ष्ट्रन्, इत्र, क्त, ण्वुल्, अण्, खल्, यच्, इतने कृत् प्रत्ययान्त शब्द और तद्धित सब तीनों लिङ्गों में आते हैं, नियत पुल्लिङ्ग प्रत्यय, घञ्, अच्, अप्, अच्, प्रत्ययान्तों में भयादि शब्दों को छोड़कर, अथुच्, नङ्, नन्, कि, घ, ड, डर्, इक्, इकवक्, घञादि प्रत्ययान्त शब्द कर्त्ताभिन्न सब कारक और भाव में नियत पुल्लिङ्ग ही आते हैं, परन्तु नङ् प्रत्ययान्तों में, याञ्चा शब्द को छोड़ के, क्योंकि यह केवल स्त्रीलिङ्ग में ही आता है नियत नपुंसकलिङ्ग के प्रत्यय, क्त, ल्युट्, प्रत्यय कर्त्ताभिन्न कारक और भाव में ये सब नपुंसकलिङ्ग में ही आते हैं नियत स्त्रीलिङ्ग प्रत्यय, क्तिन्, क्यप्, श, अ, अङ्, युच्, इञ्, ण्वुच्, अनि, ये कर्त्ताभिन्न कारक और भाव में आते हैं, तथा टाप्, ङीप्, डाप्, ङीष्, ऊङ्, ङीन्, ति, इतने प्रत्ययान्त शब्द नियत स्त्रीलिङ्ग में आते हैं ॥ अब आगे उणादिप्रत्ययान्त शब्द और लिङ्गानुशासन तथा अर्द्धर्चादि की लिङ्गव्यवस्थादि लौकिक, वैदिक, प्रयोगों की व्यवस्था से जान लेना ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतव्याख्यासहितो नामिकः समाप्तः ॥

वसुकालांकचन्द्रेऽब्दे चैत्र मासि सिते दले । चतुर्दश्यां बुधेवारे नामिकः पूरितो मया ॥ १ ॥

अथ वेदाङ्गप्रकाशः ॥

तत्रत्यः

चतुर्थो: भागः ।

कारकीयः

पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां

❀ तृतीयो भागः ❀

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ।

पठनपाठनव्यवस्थायां षष्ठंपुस्तकम् ।

श्रीहरिश्चन्द्र त्रिवेदी प्रबन्धकर्त्ता के प्रबन्ध से वैदिक-यन्त्रालय
अजमेर में मुद्रित हुआ.

संवत् १९७१.

चतुर्थावृत्तौ २०००

मूल्य ≡)
डाकव्यय)॥
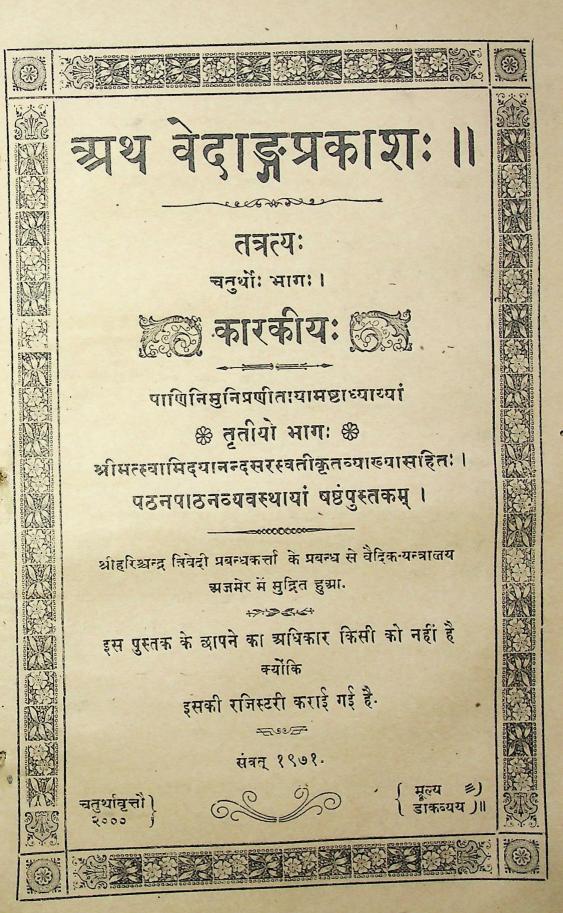
॥ भूमिका ॥

मैंने कारकीय ग्रन्थ इसलिये बनाया है कि जिससे पढ़ाने और पढ़ने वालों को सुगमता से कारक सन्धि बोध होके वेदादि शास्त्रों का वाक्यार्थ बोध सुगमता से होवे मनुष्य जितना अर्थ कारकों से जान सकता है उतना अन्य प्रकरणों से नहीं क्योंकि यह कारकसमूह क्रिया द्रव्य और गुणवाची शब्दों के संबन्ध से समस्त वाक्यों के अर्थों का प्रकाशक है। उच्यतेऽर्थस्य विज्ञानाय विज्ञापनाय वा यत्तद्वाक्यम्। जो अर्थ के जानने और जनाने के लिये कहा जाता है वह वाक्य कहाता है जो मनुष्य आठों कारकों की विद्या को यथावत् जानलेता है वह वाक्यार्थों में सुबोध होता है जिसलिये कारक संज्ञा के आधीन ही प्रथमा आदि विभक्तियों का विधान अष्टाध्यायी में है इसलिये इस ग्रंथ में कारक सूत्रों के साथ विभक्ति विधायक सूत्रों को भी लिख के उदाहरण प्रत्युदाहरण लिखे हैं यहां एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण को जान और जना के उसके सदृश असंख्यात उदाहरणों को अध्यापक लोग जानलें और विद्यार्थियों को भी जना देवें कि जिस से सद्यः संस्कृत बोल दूसरे के संस्कृत को समझ और वेदादि शास्त्रों के वाक्यार्थ जान के व्यवहार में भी बहुत उपकार होवे जैसे किसी से किसी ने पूछा कि (त्वं कस्मादागच्छसि) तू कहां से आता है वह उत्तर देवे कि (नगरात्) नगर से इस एकही पद से कारक का जानने हारा (अहमागच्छामि) इन दोनों पदों के कहे विना भी पूरा वाक्यार्थ जानलेता है कारकों के बोध ही से मनुष्य कारक विषयों का विद्वान् होसकता है इत्यादि प्रयोजनों के लिये कारकों का जानना जनाना सब को उचित है। इस ग्रन्थ में अ० संकेत से अष्टाध्यायी। १ से अध्याय। २ से पाद और ३ से सूत्र समझ लेना॥

इति भूमिका॥

ओ३म् ॥

अथ कारकीयः

अथोपक्रमः ॥

(प्र०) कारक और कारकीय किस को कहते हैं। (उ०) यत् करोति तत् कारकम्। जो करने हारा अर्थ है वह कारक कहाता और इस ग्रंथ में इसका व्याख्यान है इसलिये इस को कारकीय कहते हैं। (प्र०) कारक कितने प्रकार के होते हैं। (उ०) आठ–कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, शेष, अधिकरण और हेतु, इन में से कर्त्ता उस को कहते हैं कि जो पदार्थ, सकल साधनयुक्त होके स्वतंत्रता से सब क्रियाओं को करे। जैसे–देवदत्तः पठति, आकाशो वर्त्तते, इत्यादि। यहां विद्या पठन क्रिया का कर्त्ता देवदत्त* और वर्त्तमान क्रिया का आकाश है। कर्म उसको कहते हैं कि जो किया जाय। इस के तीन भेद हैं ईप्सिततम, अनीप्सितयुक्त और अकथित। ईप्सिततम कर्म उसको कहते हैं कि जिस को अत्यन्त अभीष्ट जान के करें। जैसे—सुखमिच्छति, भोजनं करोति, ओदनं पचति, ग्रामं गच्छति, इत्यादि। यहां सुख होने की इच्छा, भोजन का करना, चावल का पकाना, और ग्राम को जाना किसी विशेष प्रयोजन के लिये अत्यन्त अभीष्ट होने से ईप्सिततम कर्म कहाता है। अनीप्सितयुक्त कर्म उस को कहते हैं कि जिस की इच्छा तो न हो परन्तु संयोग होने से किया ही जावे, जैसे—देवदत्तो ग्रामं गच्छन् चोरान् पश्यति कण्टकानुल्लङ्घयति, इत्यादि। यहां चोरों का देखने और कांटों में चलने की इच्छा तो किसी को नहीं होती परन्तु संयोग से चोरों को देखना और कांटों का उल्लंघन करना अवश्य होता है। अकथित युक्त कर्म उस को कहते हैं कि जिस का किसी गौण† भाव से निमित्त करके ईप्सिततम के साथ योग हो। जैसे—गां दोग्धि पयः, माणवकं पन्थानं पृच्छति, इत्यादि ‡। यहां लड़के को पूछने रूप निमित्त के विना मार्ग का ज्ञान और

---

* स्वतन्त्रः कर्त्ता। इस से यहां कर्त्ता संज्ञा होती है और सब कारकों में एक वचन के उदाहरणों से पृथक् द्विवचन बहुवचन के प्रयोग भी जान लेना।

† ईप्सिततम मुख्यकर्म और अकथित गौण कहाता है और मुख्यकर्म के विना गौण किसी वाक्य में नहीं आता।

‡ यहां दूध का निमित्त गौ और मार्ग का निमित्त होने से बालक गौणकर्म तथा दूध और मार्ग मुख्य है।

गाय का दोहनरूप निमित्त के विना दूध की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु इस पृच्छति क्रिया के साथ लड़के और दोग्धि क्रिया के साथ साक्षात् गाय का संबन्ध नहीं है किन्तु पन्था और दूध का है। करण उस को कहते हैं कि जिस से कर्त्ता अपने कर्त्तव्य कर्म को कर सके इस के दो भेद हैं गौण और मुख्य, गौण करण उस को कहते हैं कि जो साधारणता से क्रिया की सिद्धि का निमित्त हो। जैसे-हस्ताभ्यां फूत्कारादिनाग्निः प्रज्वलति, इत्यादि। यहां अग्नि की जलन क्रिया का निमित्त हाथों की फूकनादि क्रिया हैं। मुख्य करण कारक उस को कहते हैं कि साक्षात् संबन्ध से कर्त्तव्य कर्म की सिद्धि में यथावत् उपयुक्त हो जिस के विना वह कर्म कभी न हो सके। जैसे-इन्धनैरग्निः प्रज्वलति, अग्निनौदनं पचति, इत्यादि। यहां अग्नि को जलाने में इन्धन और चावल के पकाने में अग्नि ही मुख्य साधक है। संप्रदान उस को कहते हैं जिस से किसी का अभीष्ट सिद्ध किया जाय। जैसे-विद्यार्थिने विद्यान्ददाति, अध्यापकाय धनं प्रयच्छति, अतिथयेऽन्नादिकं ददाति, इत्यादि। यहां विद्यादान कर्म से विद्यार्थी, धनदान क्रिया से आचार्य और अन्नादि पदार्थ के देने से अतिथि का अभीष्ट सिद्ध किया जाता है इसलिये ये संप्रदान हैं। अपादान उस को कहते हैं कि जहां प्राप्त का त्याग और अप्राप्त देश की प्राप्ति की जाय। जैसे-गृहादागच्छति गच्छति वा गुरुकुलादागच्छति गच्छति वा, ग्रामादागच्छति गच्छति वा *, इत्यादि। यहां पढ़ने के लिये प्राप्त घर को छोड़ कर अप्राप्त पाठशाला और पूर्णविद्या पढ़ के गुरुकुलनिवासरूपदेश को छोड़ कर जन्मभूमि को प्राप्त होना प्रयोजन है किन्तु छोड़ने रूप क्रिया के कर्म की अपादान संज्ञा है अर्थात् जिस का वियोग कर दूसरे को प्राप्त होना होता है। शेष कारक उस को कहते हैं कि जो अर्थ अपादानादि संज्ञाओं से गृहीत न हो। जैसे—यस्य प्रशस्तभाग्यशालिनो यज्ञदत्तस्य पुत्रः पठति। यहां पठनक्रिया के कर्त्ता पुत्र का सम्बन्धी यज्ञदत्त पिता है जिस का पुत्र पढ़े वह भाग्यशाली है। वेदस्य मन्त्रस्यार्थं जानाति। वेद के मंत्र के अर्थ को जानता है। यहां मंत्र का

* यहां ग्रामादागच्छति, ग्रामादागच्छतः, ग्रामादागच्छन्ति, इत्यादि सब वचन और तीनों पुरुष के प्रयोग होते हैं क्योंकि एक स्थान से एक और अनेक का भी आना सम्भव है। और कई स्थानों से एक पुरुष का आना नहीं बनता इसी कारण अपादानसंज्ञकशब्द में सब वचन नहीं होते। और जहां अनेक स्थानों से अनेकों का आना होगा वहां अपादान में भी सब वचन होंगे। ग्रामाभ्यामागच्छतो ग्रामेभ्य आगच्छन्ति। इत्यादि।

वेद और अर्थ का शेष मंत्र है। अयसः कुठारेण वृक्षं छिनत्ति। लोह के कुल्हाड़े से वृक्ष को काटता है यहां लोहा कुल्हाड़े का शेषार्थ है। आप्तस्याऽध्यापकस्य विद्यार्थिने ददाति। निष्कपट सत्यवादी पूर्णविद्यावान् पढ़ानेहारे पण्डित के विद्यार्थी को देता है। यहां विद्यार्थी का शेष पढ़ाने हारा है। राज्ञो ग्रामादागच्छति। राजा के गाम से आता है। यहां गाम का शेष कारक राजा है। राज्ञः पुरुषस्य पुत्रो दर्शनीयोऽस्ति। राजा के पुरुष का पुत्र देखने में सुन्दर है। गुरोः कुले निवसति। विद्यार्थी पढ़ने के लिये गुरु के कुल में निवास करता है। यहां अधिकरण कारक कुल शब्द का शेष गुरु है। राज्ञो मंत्री देवदत्तं ग्रामं गमयति, इत्यादि। राजा का मंत्री देवदत्त को ग्राम में भेजता है। यहां हेतु कारक मंत्री का शेष राजा है। इसीप्रकार शेष कारक को सब से बड़ा जानो क्योंकि यह सब के साथ व्यापक रहता है। इस के विना कोई कारक नहीं रहता चाहे शेष का प्रयोग हो वा न हो। अधिकरण उसको कहते हैं कि जो आधेय का आधार रूप अर्थ हो सो तीन प्रकार का होता है। तद्यथा-अधिकरणं नाम त्रिः प्रकारकं भवति। व्यापकमौपश्लेषिकं वैषयिकमिति॥ अ० ६। पा० १। सू० ७२। आ० ३। व्यापक, औपश्लेषिक, वैषयिक। व्यापक अधिकरण उस को कहते हैं कि जिसका योग सब व्यक्ति और अवयवों में रहे, जैसे-दिक्कालाकाशेषु पदार्थाः सन्ति, ईश्वरे सर्वं जगद्वर्त्तते *, इत्यादि। दिशा, काल और आकाश में सब पदार्थ रहते और सब जगत् ईश्वर में है। औपश्लेषिक उस को कहते हैं जहां आधार और आधेय का संयोग हो, जैसे-खट्वायां शेते, गृहे निवसति, इत्यादि। यहां खाट और सोने वाले और घर तथा घर में रहने वाले का स्पर्शमात्र संयोग है। वैषयिक उसको कहते हैं कि जिस में जो रहे, जैसे-धर्मे प्रतिष्ठते, विद्यायां यतते †, इत्यादि। मनुष्य की धर्म में वर्त्तने से प्रतिष्ठा और जो विद्या में यत्न करता है वह ज्ञानी होता है। और हेतु कारक उसको कहते हैं कि जो अर्थ क्रिया करने हारे का प्रेरक हो, जैसे-देवदत्तो विद्यामधीते, गुरुरेनं विद्यामध्यापयति, विचक्षणो धर्मं करोति, उपदेष्टैनं धर्मं कारयति, इत्यादि। यहां पढ़ने हारे विद्यार्थी के पढ़ने के लिये प्रेरक गुरु और धर्म

---

* जैसे-तिलेषु तैलम्, दधनि घृतम्, इत्यादि भी व्यापक अधिकरण में गिने जाते हैं क्योंकि तिलों के सब अवयवों में तेल और दही के सब अवयवों में घृत व्यापक है दिशा आदि के उदाहरण सामान्य और ये विशेष हैं।

† प्रतिष्ठा का विषय धर्म और विद्या प्रयत्न का विषय है।

के करने हारे चतुर पुरुष को धर्म कराने हारा उपदेशक है। और इस में इतना विशेष समझना चाहिये कि साक्षात् करने हारे की कर्तृ कारक संज्ञा और प्रेरणा करने हारे की हेतु संज्ञा है। (प्र०) वाक्य किसको कहते हैं। (उ०) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। सविशेषणमेकतिङ्वा। जो आख्यात अव्यय कारक और विशेषणयुक्त हो सो वाक्य कहाता है। साव्यय जैसे-देवदत्त उच्चैः पठति, इत्यादि। देवदत्त ऊंचे स्वर से पढ़ता है। सकारक-मनुष्यो धर्ममाचरेत्, इत्यादि। मनुष्य धर्माचरण करे। सविशेषण-बुद्धिमान्देवदत्त ऋजु पठति, इत्यादि। बुद्धिमान् देवदत्त कोमलता से पढ़ता है। अथवा जिसमें विशेषण युक्त एक तिङन्त पद हो वह वाक्य कहाता है इसी के पूर्वोक्त उदाहरण-देवदत्त उच्चैः पठति, इत्यादि जानो। (प्र०) वाक्य के कौन से प्रयोजन हैं। (उ०) अनेक अर्थ की प्रतीति और व्यवहार में प्रवृत्ति आदि हैं, क्योंकि। अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते॥ महाभाष्य॥ अ० १। पा० १। सू० ४४। आ० ७। अर्थके जनाने के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है। वक्तुं योग्यं पदसमुदायं वाक्यं। जो कहने को योग्य हो जिसमें अनेक पदों का योग हो वह वाक्य कहाता है। जब तक कोई किसी को वाक्य बोल के अर्थ का बोध नहीं कराता तब तक उसका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं होती और जब तक व्यवहार ठीक २ नहीं होता तब तक उसका कार्य्य सिद्ध होकर सुखप्राप्ति रूप प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता इसलिये वाक्य और वाक्यार्थ का बोध करना सब मनुष्यों को अवश्य उचित है (प्र०) वाक्यार्थ बोध में कितने कारण हैं। (उ०) चार। आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य। * आकांक्षा उस को कहते हैं कि वाक्य में जिन पदों का प्रयोग है उनके साथ जिन अप्रयुक्त पदों का अवश्य संबन्ध करना हो। जैसे-अनुतिष्ठत, यहां अनुतिष्ठत इस क्रिया पद के साथ यूयं और धर्म इन दो पदों और (यूयमधर्मम्) † इस वाक्य में संत्यजत इस क्रिया पद की आकांक्षा अवश्य है क्योंकि इनके विना वाक्य की पूर्त्ति कभी नहीं हो सकती तथा अनाकांक्षा उस को कहते हैं कि जिस वाक्य में सब योग्य पदों का

---

* इन के विना कोई भी वाक्य नहीं होता और न इनके जाने विना और ग्रंथ के वाक्यों के सत्य २ अभिप्राय का बोध किसी को हो सकता है।

† वाक्य का लक्षण तिङ् के विना नहीं किया इस कारण इसको शुद्ध वाक्य नहीं कह सकते किन्तु आकांक्षित वाक्य कहावेगा।

प्रयोग हो जैसे-यूयं धर्ममनुतिष्ठत, यूयमधर्मं संत्यजत, इत्यादि उदाहरण समझ लेना। योग्यता उसको कहते हैं कि जो पद जिसके साथ प्रयोग करने योग्य हो वा जिस से जो कार्य्य सिद्ध होता हो उन्हीं का प्रयोग करना। जैसे-चक्षुषा पश्यति, श्रोत्रेण शृणोति, जलेन सिंचति, अग्निना दहति, इत्यादि। मनुष्य आंखों से देखता, कान से सुनता, जल से सींचता और अग्नि से जलाता है। यहां वाक्यार्थ की योग्यता है और कर्णेन पश्यति, हस्तेन शृणोति, अग्निना सिञ्चति, जलेन दहति, इत्यादि में वाक्यार्थ की योग्यता नहीं है क्योंकि कान से देखने, हाथ से सुनने, आग से सींचने और जल से जलाने का कभी संभव नहीं होसकता। आसत्ति उस को कहते हैं कि जिस पद की जिस के साथ योग्यता हो उस को उसी के साथ बोलना जैसे हे देवदत्त त्वमिति कंचित्प्रति प्रातरुक्त्वा सायंकाले ब्रूयाद् ग्रामं गच्छेति। कोई किसी से प्रातःकाल (तू) ऐसा कह कर चुपचाप रहे पश्चात् सायंकाल में कहे कि ग्राम को जा। यहां चार पहर के विलम्ब होने से इस का वाक्यार्थ बोध किसी को नहीं होसकता क्योंकि पदों का अभिसंबन्ध निकट नहीं है। और जैसे-हे देवदत्त त्वं ग्रामं गच्छ, इत्यादि वाक्य अर्थबोधक हो सकते हैं क्योंकि यहां कर्त्ता कर्म्म और क्रिया का उच्चारण एक समय में समीपस्थ है। तात्पर्य उस को कहते हैं कि वक्ता जिस अभिप्राय के जानने के लिये वाक्य बोले उसी के अनुकूल दूसरे को समझना उचित है। जैसे किसी ने कहा कि महान्देह्यत्र दातव्यमेव दद्यादिति वेदितव्यम्। जैसे किसी ने किसी से कहा कि आप मुझ को कुछ दीजिये यहां ग्रहण करने के योग्य पदार्थों का मिलना वक्ता का प्रयोजन है। ऐसा न समझना कि अयं दुःखदायिवस्तुयाचक इत्यस्य तात्पर्यार्थः। जैसे पूर्व वाक्य में कोई ऐसा समझे यह मुझ से दुःखदायक पदार्थों को चाहता है ऐसा समझना उस के तात्पर्यार्थ से विरुद्ध है इसलिये सब को वाक्य बोध के कारण अवश्य जानने चाहियें॥

इत्युपक्रमः ॥

कारके ॥ १ ॥ अ० १ । ४ । २३ ॥

संज्ञाधिकार के बीच पढ़ने और आगे २ सूत्रों में इस की अनुवृत्ति होने से यह अधिकार सूत्र है इस से जहां २ स्वतंत्र आदि शब्दों की संज्ञा की जावेगी वहां २ सर्वत्र कारक शब्द का अधिकार समझा जावेगा क्रिया और द्रव्य का संयोग और क्रिया की सिद्धि करने वाले को कारक कहते हैं॥

स्वतंत्रः कर्त्ता ॥ २ ॥ अ० १ । ४ । ५४ ॥

(स्व) आप (तंत्रः) प्रधान (स्वतंत्र) जो आप ही क्रिया के करने में प्रधान हो उस की कर्तृकारक संज्ञा है ॥

तत्प्रयोजको हेतुश्च ॥ ३ ॥ अ० १ । ४ । ५५ ॥

जो वह स्वतंत्र प्रेरणा करने वाला हो तो उस की हेतु और कर्त्ता दोनों संज्ञा होती हैं ॥

*** प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ॥ ४ ॥ अ० २ । ३ । ४६ ॥**

जो जिस अर्थ के साथ समर्थ होता है उस को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं । इस के अर्थमात्र, लिङ्ग अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसकमात्र, परिमाण अर्थात् तोल मात्र और वचन-एक दो बहुत मात्र, इन अर्थों में प्रथमा विभक्ति होती है । इसी सूत्र के भाष्य में लिखा है कि तिङ्समानाधिकरणे प्रथमेत्येतल्लक्षणं करिष्यते । अस्ति भवति आदि तिङन्त क्रियाओं के साथ जिस का समानाधिकरण हो उस को (उक्त) कथित और अभिहित कहते हैं उसी में प्रथमा विभक्ति होती है । इस से भिन्न कारकों में द्वितीयादि होती हैं सो आगे कहेंगे । कर्त्ता और हेतु कारक के उदाहरण प्रातिपदिकार्थमात्र में । देवदत्तो ग्रामं गच्छति, यज्ञदत्तो देवदत्तं ग्रामं गमयति, देवदत्त ओदनं पचति, यज्ञदत्तो देवदत्तेनौदनं पाचयति, इत्यादि । यहां गच्छति, पचति क्रियाके करने में देवदत्त स्वतंत्र होने से कर्त्ता और यज्ञदत्त की प्रेरणा का कर्म है उस का इन्हीं क्रियाओं के साथ समानाधिकरण होने से उस में प्रथमा विभक्ति होती है । तथा अर्थ मात्र के कहने से उच्चैः, नीचैः, इत्यादि में भी प्रथमा विभक्ति हो जावे । लिङ्गमात्र में । कुमारी यहां जो प्रातिपदिकार्थ युवा अवस्था है उस से स्त्रीत्व पृथक् है इसलिये प्रातिपदिक संज्ञा नहीं

---

* यहां प्रातिपदिकार्थ उस को कहते हैं कि जो उस शब्द की सत्तामात्र हो और जो अर्थ के साथ शब्द का विशेष संबंध होता है इसीलिये लिङ्ग आदि का ग्रहण है, जैसे—पुमान् । इस शब्द में जो पुरुष व्यक्ति के साथ सामान्य सम्बन्ध है वही प्रातिपदिकार्थ है और पुरुषपन अर्थात् स्त्री से अलग होना है यह प्रातिपदिकार्थ नहीं है किन्तु लिङ्ग है ॥

प्राप्त थी । पुल्लिङ्ग । वृक्षः । वृक्ष एक * जाति है यहां जो जातित्वमात्रप्रातिपदिकार्थ है वह पुल्लिङ्ग व्यक्ति से पृथक् है । नपुंसक । कुलम् । यहां भी नपुंसकपन प्रातिपदिकार्थ जो जनसमुदाय है उस से पृथक् है । परिमाणमात्र में । द्रोणः । खारी । आढकम् । इन तोल के वाची शब्दों में प्रथमा होती है † । वचनमात्र में एकः । द्वौ । बहवः । यहां जो एक दो और बहुत संख्यात्व है वह प्रातिपदिकार्थ से पृथक् है । यहां मात्र ग्रहण इसलिये है कि इससे भिन्न अन्यत्र कर्म्मादि के विषय में प्रथमा न हो ॥ ४ ॥

कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म ॥ ५ ॥ अ० १ । ४ । ४९ ॥

जो बहुत कारकों से युक्त वाक्य के बीच में कर्त्ता को अत्यन्त इष्ट कारक है वह कर्म संज्ञक होता है इस का फल ॥ ५ ॥

अनभिहिते ॥ ६ ॥ अ० २ । ३ । १ ॥

यह अधिकार, विभक्तिविधान प्रकरण में है । अभिहित उस को कहते हैं कि जिस से लकारादिप्रत्ययान्त क्रियाओं का समानाधिकरण होवे । और जिसमें लकारादि प्रत्ययों का समानाधिकरण न हो । उसी को अनभिहित, अनुक्त और अकथित भी कहते हैं । इस के आगे जो २ विभक्तिविधानप्रकरण के सूत्र लिखे जावेंगे उन सब में यही अधिकार समझा जावेगा । और संज्ञाप्रकरण का अधिकार लिखचुके हैं ॥ ६ ॥

कर्मणि द्वितीया ॥ ७ ॥ अ० २ । ३ । २ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो । ग्रामं गच्छति । वेदं पठति । यज्ञं करोति । यहां ग्राम का जाना वेद का पढ़ना और यज्ञ का करना अत्यन्त इष्ट

---

* एक शब्द के उच्चारण से सामान्य अर्थात् असंख्य व्यक्तियों का बोधहोना जाति कहाती है सो वृक्ष शब्द के उच्चारण से व्यक्ति आकृति और जाति तीनों का बोध होता है लिङ्गार्थ इन तीनों से पृथक् है ।

† तोलन साधक द्रोण आदि शब्द, घृत आदि मेय अर्थात् परिमाण विषयों के संबन्ध में मान अर्थात् इयत्ताकरणार्थ होने से प्रातिपदिकार्थ से पृथक् हैं इसलिये इनका ग्रहण है ।

है * इसलिये ग्राम वेद और यज्ञ की कर्म्म संज्ञा हो के द्वितीया विभक्ति होजाती है। इसी प्रकार सर्वत्र जानना। अनभिहित का प्रयोजन यह है कि। पठ्यो वेदः। यहां वेद शब्द के अभिहित होने से द्वितीया न हुई ॥ ७ ॥

वा०† समया निकषा हा प्रति योगेषूपसंख्यानम् ॥ ८ ॥

समया निकषा हा प्रति इन चार अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। समया ग्रामम्। निकषा ग्रामम्। हा देवदत्तम्। देवदत्तं प्रति। यहां सर्वत्र देवदत्त और ग्राम शब्द में द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ ८ ॥

वा०—अपर आह। द्वितीयाऽभिधानेऽभितः परितः समया निकषाऽध्यधि धिग्योगेषूपसंख्यानम् ॥ ९ ॥

समया और निकषा शब्द पूर्ववार्त्तिक में आचुके हैं इन के उक्त उदाहरण जानने। अभितः परितः अध्यधि धिक् इन शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होवे। अभितो ग्रामम्। परितो ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। धिग्जालमम् ॥ ९ ॥

का०—अपर आह। उभसर्वतसोः कार्य्या धिगुपर्य्यादिषु त्रिषु ॥ द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥ १० ॥

उभयतस् सर्वतस् धिक् उपर्य्युपरि अध्यधि अधोधो इन के योग में भी द्वितीया विभक्ति होवे। जैसे—उभयतो ग्रामम्। सर्वतो ग्रामम्। धिग्जालमम्। उपर्य्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधोग्रामम्। और इन के योग से अन्यत्र जहां किसी सूत्र वार्त्तिक से द्वितीया विधान न हो वहां भी इसी कारिका के प्रमाण से होती है। जैसे—बुभुक्षितन्न प्रतिभाति किञ्चित्, इत्यादि। यहां प्रति के योग में द्वितीया हुई है ॥ १० ॥

---

* जो पदार्थ अत्यन्त इष्ट नहीं होता उस की सिद्धि के लिये शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं होती फिर उस की कर्म संज्ञा भी नहीं हो सकती।

† यहां अनभिहित कर्म नहीं है इसलिये यह द्वितीयाविभक्तिविधान प्रकरण बांधा है।

तृतीया च होश्छन्दसि ॥ ११ ॥ अ० २ । ३ । ३ ॥

वेद विषयक (हु) धातु के अनभिहित कर्मकारक में तृतीया और चकार से द्वितीया विभक्ति भी होती है। यवाग्वाऽग्निहोत्रं जुहोति । यवागूमग्निहोत्रं जुहोति । छन्द का ग्रहण इसलिये है कि । यवागूमग्निहोत्रं जुहोति । यहां लोक में तृतीया विभक्ति न हो ॥ ११ ॥

अन्तरान्तरेण युक्ते ॥ १२ ॥ अ० २ । ३ । ४ ॥

अन्तरा, अन्तरेण इन दो अव्ययोंके योग में द्वितीया विभक्ति हो * । अग्निमन्तरा कथं पचेत् । अग्निमन्तरेण कथं पचेत् ॥ १२ ॥

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ १३ ॥ अ० २ । ३ । ५ ॥

अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से द्वितीया विभक्ति होवे । मासमधीतोऽनुवाकः । क्रोशं कुटिला नदी । † यहां अत्यन्त संयोग ग्रहण इसलिये है कि । दिवसस्य द्विर्भुङ्क्ते । इत्यादि में द्वितीया न हो ॥ १३ ॥

अपवर्गे तृतीया ॥ १४ ॥ अ० २ । ३ । ६ ॥

जो शुभ कर्म की समाप्ति है उसको अपवर्ग कहते हैं इस अत्यन्त संयोग अर्थ में कालवाची और मार्गवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति हो । मासेनाधीतोऽनुवाकः । क्रोशेनाधीतोऽनुवाकः । यहां अपवर्ग ग्रहण इसलिये है कि । मासमधीतोऽनुवाको नचानेन गृहीतः । इत्यादि स्थल में तृतीया न हो ‡ ॥ १४ ॥

---

* यह द्वितीया विभक्ति का प्रकरण है और पूर्वसूत्र में तृतीयाविधान है सो द्वितीया का ही अपवाद है इसलिये यहां तृतीया की अनुवृत्ति नहीं आती द्वितीया की ही आती है । और यह सूत्र अपूर्व विधायक है अर्थात् अन्तरा अन्तरेण इन अव्ययों के योग में किसी विभक्ति का विधान किसी सूत्र से नहीं है ।

† यहां अत्यन्तसंयोग यह है कि महीने के बीच पढ़ने में कोई अनध्याय वा विक्षेप न हुआ यह उस काल और पठनक्रिया का अत्यन्त संयोग है । क्रोश भर टेढ़ी नदी यहां मार्ग और नदी का अत्यन्त संयोग है क्योंकि क्रोश भरमें टेढ़ाई व्याप्त है ॥

‡ अर्थात् जहां एक महीने में पढ़के समाप्त कर दिया हो और अच्छे प्रकार जान लिया हो वहीं हो ॥

सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये ॥ १५ ॥ अ० २ । ३ । ७ ॥

जो अत्यन्त संयोग अर्थ में दो कारकों के बीच काल और मार्गवाची शब्द हों तो उनसे सप्तमी और पञ्चमी विभक्ति हों। अद्य देवदत्तो भुक्त्वा द्व्यहाद् भोक्ता। द्व्यहे भोक्ता इहस्थोऽयमिष्वासः क्रोशाल्लक्ष्यं विध्यति क्रोशे लक्ष्यं विध्यति, इत्यादि ॥ १५ ॥

गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि ॥ १६ ॥

अ० २ । ३ । १२ ॥

जिन की चेष्टा क्रिया विदित होती हो ऐसे गत्यर्थक धातुओं के मार्ग रहित अनभिहित कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्ति हों। ग्रामं गच्छति । ग्रामाय गच्छति। ग्राममेति ग्रामायैति *। गत्यर्थक धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि । कटं करोति। यहां चतुर्थी न हो। कर्म ग्रहण इसलिये है कि। अश्वेन गच्छति। यहां करण में द्वितीया और चतुर्थी न हों। चेष्टा ग्रहण इसलिये है कि। मनसा गृहं गच्छति। यहां चेष्टा के न होने से चतुर्थी नहीं होती और अनध्वनि ग्रहण इसलिये है कि। अध्वानं गच्छति। यहां चतुर्थी न हो ॥ १६ ॥

वा०—अध्वन्यर्थग्रहणम् ॥ १७ ॥

अध्व के पर्य्यायवाची शब्दों का भी निषेध में ग्रहण होना चाहिये। जैसे—अध्वानं गच्छति। यहां चतुर्थी नहीं होती वैसे ही । पन्थानं गच्छति। इत्यादि में भी चतुर्थी न हो ॥ १७ ॥

वा०—आस्थितप्रतिषेधश्च ॥ १८ ॥

मार्गवाची मुख्य शब्दों का निषेध होना चाहिये। क्योंकि उत्पथेन पन्थानं गच्छति। पथे गच्छति। † यहां चतुर्थी का निषेध न हो जावे ॥ १८ ॥

---

* यहां अनभिहित कर्म्म में (कर्म्मणि द्वितीया) इससे द्वितीया ही पाती है उस का यह अपवाद है ॥

† यहां मार्गवाची मुख्य शब्द यों नहीं है कि गड़ बड़ मार्ग से शुद्ध मार्ग के लिये जाता है। शुद्ध मार्ग का चलना गौण है ॥

अब कर्म संज्ञा में जो विशेष सूत्र वार्तिक तथा कारिका बाक़ी हैं वे लिखते हैं। उन में कर्म संज्ञा होके प्रथम सूत्र से ही द्वितीया विभक्ति होती है ॥ १८ ॥

तथायुक्तं चानीप्सितम् ॥ १९ ॥ अ० १ । ४ । ५० ॥

जिस प्रकार ईप्सिततम कारक की कर्म संज्ञा होती है वैसे ही जिसका अकस्मात् योग हो जाय तो उस युक्त अनीप्सित की भी कर्म संज्ञा हो। ग्रामं गच्छन् वृकान् पश्यति तृणानि स्पृशति। ग्राम को जाता हुआ भेड़ियों को देखता और घास का स्पर्श करता जाता है। भेड़ियों का देखना तो उसको अनिष्ट है और घासका स्पर्श होना इष्ट अनिष्ट दोनों ही नहीं। इष्ट केवल ग्राम का जाना है सो उसकी कर्म संज्ञा पूर्वसूत्र से ही हो गई। यहां भेड़िया और घास की कर्म संज्ञा हो जाने से द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥ १९ ॥

अकथितं च ॥ २० ॥ अ० १ । ४ । ५१ ॥

अपादान आदि सब कारकों में जिस की कोई संज्ञा न की हो उसको अकथित कहते हैं। उस अकथित की भी कर्म संज्ञा हो जावे। जैसे-अजां नयति ग्रामम्। भारं वहति ग्रामम्। यहां अजा और भार शब्द की तो कर्म संज्ञा (कर्त्तुरी०) इस उक्त सूत्र से सिद्ध ही है। ग्राम शब्द में किसी कारक संज्ञा की प्राप्ति नहीं थी इस से उसकी इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो के द्वितीया होती है। जो इस सूत्र का व्याख्यान महाभाष्यकार ने किया है सो लिखते हैं ॥ २० ॥

का०—दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना ॥ २१ ॥

इस कारिका से सूत्र का प्रयोजन दिखलाया है। दुह। याच। रुध। प्रच्छ। भिक्ष। चिञ्। ब्रूञ् और शासु इन धातुओं के योग में उपयोग * का जो निमित्त हो उसकी

---

* उपयोग उसको कहते हैं कि जिस का क्रिया के साथ मुख्य संबन्ध हो। और उसका निमित्त वह है कि जिस के विना उसकी सिद्धि न हो। जैसे—पौरवं गां याचते। यहां गौ तो उपयोगी कर्म है वह ईप्सिततम होने से पूर्व सूत्र से कर्म संज्ञक हो जाता और इसी कर्म का याचन क्रिया के साथ मुख्य संबन्ध है। और पौरव जो दाता पुरुष है वही इस गौ का निमित्त है उस के विना गौ नहीं मिल सकती। इसलिये पौरव अकथित कर्म है उस की कर्म संज्ञा इस सूत्र से होती है ॥

अपूर्वविधि अर्थात् जिसका विधान पूर्व अपादान आदि कारकों में कुछ भी न किया हो तो इस सूत्र से कर्म संज्ञा हो। जैसे-गां दोग्धि पयः । याच-पौरवं गां याचते । रुध-गामवरुणद्धि व्रजम् । प्रच्छ-माणवकं पन्थानं पृच्छति । भिक्ष-पौरवं गां भिक्षते । चिञ्-वृक्षमवचिनोति फलानि । ब्रूञ्-पुत्रं धर्मं ब्रूते । शासु-सन्तानं धर्मं शास्ति (प्रश्न) जहां कर्म कारक में लकारादि प्रत्यय विधान हैं वे जहां दो कर्म हों वहां किस कर्म में होने चाहिये ॥ २१ ॥ (उत्तर)

का०-कथिते लादयश्चेत्स्युः षष्ठीं कुर्य्यात्तदा गुणे ।

अकारकं ह्यकथितात्कारकं चेत्तु नाकथा ॥ २२ ॥

विचार करते हैं कि जो कथित प्रधान कर्म में लकारादि प्रत्यय किये जावें तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिये । जैसे-दुह्यते गोः पयः । याच्यते पौरवस्य कम्बलः । क्योंकि जो अकथित है वह कारक नहीं किन्तु जो कथित है वही कारक है जिस २ में लकारादि प्रत्यय होते हैं उस २ कथित कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है और जो अकथित है कि जिस में किसी विभक्ति की प्राप्ति नहीं उस के शेष होने से वहां षष्ठी हो जाती है ॥ २२ ॥

का०-कारकं चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत् ॥ २३ ॥

और जिसको अकथित जानते हो उसको जो कारक जानो तो जिस २ कारक संज्ञा में उसकी प्रवृत्ति हो सकती हो वही विभक्ति उसमें करनी चाहिये । जो उस अकथित की अपादान संज्ञा हो सकती हो तो वहां पञ्चमी विभक्ति करनी चाहिये । जैसे-दुह्यते गोः पयः । याच्यते पौरवात्कम्बलः ॥ २३ ॥

पूर्वकारिका से जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का विधान किया सो किसी २ आचार्य्य का मत है । अब तीसरी कारिका से पणिनिजी का मत दिखलाते हैं ॥

का०-कथितेऽभिहिते त्वविधिस्त्वमतिर्गुणकर्मणि लादिविधिः स परे । ध्रुवचेष्टितयुक्तिषु चाप्यगुणे तदनल्पमतेर्वचनं स्मरत ॥ २४ ॥

जो कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं यह तुम्हारी बुद्धि से तुमने विधान किया है * । परन्तु पणिनिजी के मत से तो गौण अर्थात् अकथित कर्म में लका-

* यह संकेत उन लोगों की ओर है कि जिन का मत प्रथम कारिका से कथित कर्म में लकारादि प्रत्ययों का होना दिखलाया है ॥

रादि प्रत्यय होने चाहिये जैसे (गतिबुद्धि०) इस आगे के सूत्र में गौण कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं वैसे यहां भी हों। गौर्दुह्यते पयः। गौर्दोग्धव्या पयः। गौर्दुग्धा पयः। गौः सुदोहा पयः, इत्यादि। जहां अप्रधान गौ कर्म में लकारादि प्रत्यय होते हैं वहां अभिहित होने से प्रथमा और पयः के अनभिहित होने से द्वितीया विभक्ति होती है। तथा (ध्रुवयुक्ति) अकर्मक और (चेष्टितयुक्ति) गत्यर्थक धातुओं के (अगुणे) कथित कर्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये। जैसे अकर्मक–आसितव्यो देवदत्तो यज्ञदत्तेन। गत्यर्थक–अजा नेतव्या ग्रामम्। महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि कहते हैं कि हे वैयाकरण लोगो! अगाध बुद्धि वाले पाणिनि आचार्य्य का यह मत है तुम लोग जानो। अब जो मत अन्य बहुत आचार्य्यों का है सो चौथी कारिका से दिखाते हैं॥ २४॥

का०–प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्।

अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्त्तुश्च कर्मणः॥ २५॥

जो द्विकर्मक धातु हैं उनके प्रधान कथित कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये। जैसे–अजां नयति ग्रामम्। अजा नीयते ग्रामम्। अजा नीता ग्रामम्। यहां प्रधान कथित अजा कर्म्म है उस में लकारादि के होने से प्रथमा विभक्ति और ग्राम में अनभिहित होने से द्वितीया होती है। तथा दुहादि अर्थात् जो धातु प्रथम कारिका में गिनाये हैं उन के अकथित अर्थात् गौण कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये इस के उदाहरण दे चुके हैं और णयन्तावस्था में जिन धातुओं के जिस कर्त्ता की कर्म्म संज्ञा होती है। उन के उसी कर्म्म में लकारादि प्रत्यय होने चाहिये। जैसे–यज्ञदत्तो गच्छति ग्रामम्। यहां यज्ञदत्त गमधातु का प्रथम स्वतन्त्र कर्त्ता और ग्राम कर्म है। जब उस का णयन्तावस्था में प्रयोजक कर्त्ता देवदत्त होता है तब यज्ञदत्त की कर्म्म संज्ञा होजाती है। देवदत्तो यज्ञदत्तं ग्रामं गमयति। यहां अप्रधान यज्ञदत्त है उसी में लकार होने से। देवदत्तेन यज्ञदत्तो ग्रामङ्गम्यते। यहां गौण कर्म्म यज्ञदत्त में प्रथमा विभक्ति होती है और ग्राम में द्वितीया होजाती है। यह चौथी कारिका से जो लकारादि प्रत्यय विधान में व्यवस्था की है सो बहुत ऋषि लोगों का सिद्धान्त है। इससे यही व्यवस्था सब से बलवान् है॥ २५॥

जो प्रथम कारिका में कहे हैं उन से भिन्न द्विकर्मक धातु कितने हैं सो पांचवीं कारिका से दिखाते हैं॥

का०—नीवह्योर्हरतेश्चाऽपि गत्यर्थानां तथैव च ।
द्विकर्म्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः २६ ॥

नी वहि हरति और गयन्तावस्था में जिन का कर्त्ता कर्म्म होता है वे सब द्विकर्म्मकों में गिने जाते हैं ॥ २६ ॥ अकर्म्मक धातु सकर्म्मक कैसे होते हैं यह विषय छठी कारिका से दिखाते हैं ॥

का०—कालभावाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम् ॥ २७ ॥

काल-क्षण आदि । भाव*-होना । अध्वगन्तव्य-मार्ग में चलना ये तीनों सब अकर्म्म होजाते हैं, जैसे काल-मासमास्ते । मासं स्वपिति । अयुक्त एक मास बैठा रहता है और एक मास सोता है, यहां महीना कर्म्म हो गया । प्रयोजन यह है कि एक महीना बैठ के काटता है और एक महीना सोके काटता है तो बैठने और सोने का कर्म्म महीना हो गया । भाव-गोदोहमास्ते । गोदोहं स्वपिति । यहां गौ का जो दोहना भाव है वही उसके बैठने और सोने का कर्म्म है । अध्वगन्तव्य-क्रोशमास्ते क्रोशं स्वपिति । सवारी में बैठ के मार्ग में चलता हुआ मनुष्य कोश भर बैठा कोशभर सोया । अर्थात् जो दो कोश बैठने और सोने में मार्ग व्यतीत किया वही बैठने सोने का कर्म्म होगया है ॥ २७ ॥

वा०—देशश्चाकर्मणां कर्मसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम् ॥ २८ ॥

इस वार्त्तिक से अकर्मक धातुओं का देश भी कर्म संज्ञक होता है । जैसे—पञ्चालान् स्वपिति । कोई विमान आदि यान में बैठा हुआ पंजाब देश भर सोता ही चला गया उसके सोने का कर्म पंजाब देश होगया ॥ २८ ॥

का०—विपरीतन्तु यत्कर्म तत्कलम कवयो विदुः ॥ २९ ॥

ईप्सिततम कर्म से भिन्न जो कर्म है उस को विद्वान् लोग कलम कहते हैं । जिस के बीच में कर्म संज्ञा के सब काम नहीं किये जाते किन्तु केवल द्वितीया विभक्तिमात्र

---

* यहां भावं भवनं भूतिं भवति देवदत्तः । जैसे भावार्थवाची भाव आदि शब्द भवति क्रिया के कर्म्म होने से भू धातु सकर्म्मक हो जाता है वैसे सब अकर्म्मक धातुओं की व्यवस्था जाननी । देवदत्त एधनमेधते, इत्यादि । यहां । कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवति ॥ महाभाष्य ॥ अ० ३ । पा० १ । सू० ६६ । कहा है कि जो तव्यदादि प्रत्ययों से कथित भाव है वह द्रव्य के समान होता है ॥

ही की जाती है तथा जिस किसी में अन्य भी कर्मसंज्ञा के कार्य्य होते हों उस से जो दूसरा होता है वह विपरीत कर्म कहाता है उसी को कलम कहते हैं। जैसे-(भारं वहति ग्रामम्) यहां प्रधान जो भार कर्म है उस में तो कर्म के सब कार्य्य होते हैं और ग्राम शब्द में केवल द्वितीया विभक्ति होती है। इस से इस की कलम संज्ञा है। तथा (गां दोग्धि पयः) यहां प्रधान कर्म तो पय है परन्तु लकारादि प्रत्यय विधान कर्म संज्ञा के कार्य हैं। वे गो शब्द में किये जाते हैं। इस से यहां पय शब्द की कलम संज्ञा है। यहां विशेष कलम संज्ञा रखने के लिये कर्म शब्द के रेफ को लकारादेश (संज्ञा छन्दसो०) इस वार्तिक से संज्ञा मान के किया है ॥ २९ ॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणिकर्त्ता स णौ ॥ ३० ॥ अ० १ । ४ । ५२ ॥

गत्यर्थक, बुद्ध्यर्थक, प्रत्यवसानार्थक अर्थात् भोजनार्थक, शब्दकर्मक और अकर्मक, इन धातुओं का जो णिच् प्रत्यय के पहिले कर्त्ता है वह णिच् के हुए पश्चात् कर्मसंज्ञक हो। गत्यर्थक-गच्छति ग्रामं देवदत्तो गमयति ग्रामं देवदत्तम्। याति ग्रामं देवदत्तो यापयति ग्रामं देवदत्तं यज्ञदत्तः। यहां णिच् के पहिले का जो कर्त्ता देवदत्त है वह णिच् के पश्चात् कर्म संज्ञक हो के उस से द्वितीया हो जाती है। बुद्ध्यर्थक-जानाति विप्रः शास्त्रम्। ज्ञापयति विप्रं शास्त्रम्। बुद्ध्यते देवदत्तः शास्त्रम्। बोधयति देवदत्तं शास्त्रम्। प्रत्यवसानार्थक-अश्नाति फलानि माणवकः। आशयति फलानि माणवकम्। भुङ्क्त ओदनं बालकः। भोजयत्योदनं बालकम्। शब्दकर्मक-ब्रूते धर्मं ब्राह्मणो वाचयति धर्मं ब्राह्मणम्। उपदिशति धर्मं ब्राह्मणः। उपदेशयति धर्मं ब्राह्मणम्। अकर्मक-स्वपिति बालः स्वापयति धात्री बालम्। पुत्रः शेते माता पुत्रं शाययति। यहां सर्वत्र जो अणयन्तावस्था में कर्त्ता है वही णिच् में कर्म हो गया है। इस सूत्र में गत्यर्थादि धातुओं का ग्रहण इसलिये है कि। (पचत्योदनं देवदत्तः पाचयत्योदनं देवदत्तेन) यहां कर्म संज्ञा के न होने से कर्त्ता में तृतीया विभक्ति होती है और अणिकर्त्ता ग्रहण इसलिये है कि (देवदत्तो यज्ञदत्तं गमयति तमन्यो गमयति देवदत्तेन) यहां णिच् के परे गम धातु का कर्त्ता है सो दूसरे णिच् में कर्म्म संज्ञक नहीं होता अब आगे इस सूत्र के वार्तिक लिखते हैं ॥ ३० ॥

वा०-दृशेः सर्वत्र ॥ ३१ ॥

सर्वत्र अर्थात् दोनों पक्ष में दृश धातु का जो अणयन्तावस्था का कर्त्ता है वह णयन्ता-

वस्था में कर्म संज्ञक होवे। पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्। दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। यहां रूपतर्क शब्द की कर्म्म संज्ञा होती है ॥ ३१ ॥

वा०–आदिखादिनीवहीनां प्रतिषेधः ॥ ३२ ॥

आदि खादि इन दो धातुओं के प्रत्यवसानार्थ होने और नी वहि इन दो के गत्यर्थक होने से कर्म्म संज्ञा प्राप्त है इसलिये प्रतिषेध किया है। अद–अत्ति देवदत्तः। आदयति देवदत्तेन। यहां अरायन्त धातु के कर्त्ता देवदत्त की कर्म्म संज्ञा न होने से द्वितीया विभक्ति न हुई ॥ ३२ ॥

तथा बहुत आचार्य्यों का ऐसा मत है कि:—

अपर आह। वा०–सर्वमेव प्रत्यवसानकार्यमदेर्न भवतीति वक्तव्यं परस्मैपदमपि। इदमेकमिष्यते। क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्यगतिप्रत्यवसानार्थेभ्य इति ॥ ३३ ॥

प्रत्यवसानार्थ धातुओं को जितना कार्य होता है उस में से अद धातु को कुछ भी न हो। तथा निगरणार्थ मान के जो परस्मैपद * प्राप्त है वह भी न हो। अत्ति देवदत्तः। आदयते देवदत्तेन। यहां आत्मने पद होता है। प्रत्यवसानार्थ का एक कार्य अद धातु को होना चाहिये (इदमेषां जग्धम् †) खादति देवदत्तः। खादयति देवदत्तेन। यहां भी अणि के कर्त्ता देवदत्त शब्द की कर्म्म संज्ञा न हुई। नी–नयति भारं देवदत्तः। नाययति भारं देवदत्तेन। यहां नी धातु के कर्त्ता देवदत्त की कर्म्म संज्ञा न होने से उस में द्वितीया न हुई। वह–वहति भारं देवदत्तो वाहयति भारं देवदत्तेन। यहां सर्वत्र णिच् में कर्त्ता की कर्म्म संज्ञा नहीं होती परन्तु वह धातु में इतना विशेष है कि ॥ ३३ ॥

---

* परस्मैपद (निगरणचलनार्थेभ्यश्च) ॥ अ० १। ३। ८७ ॥ इस सूत्र में निगरणार्थ शब्द प्रत्यवसानार्थ का पर्य्यायवाची है और प्रत्यवसान तथा निगरण इन दोनों का शब्द भेद होने से (परस्मैपदमपि) यह कहा है नहीं तो प्रत्यवसान के कहने से हो ही जाता।

† (जग्धम्) जहां अद धातु के प्रत्यवसानार्थ होने से अधिकरण कारक में क्त प्रत्यय विधान है सो प्रत्यवसान से सब कार्य्यों के निषेध में इसका भी निषेध पाया था (एषाम्) यह कर्म्म में षष्ठी और (जग्धम्) अधिकरण में क्त प्रत्यय है (इदमेकमिष्यते) इस से निषेध का निषेध किया है।

वा०*—वहेरनियन्तृकर्त्तृकस्य ॥ ३४ ॥

यहां पूर्व वार्त्तिक से निषेध की अनुवृत्ति चली आती है । नियन्ता अर्थात् जहां सारथि वह धातु का कर्त्ता न हो वहीं कर्म संज्ञा का निषेध हो अन्यत्र नहीं । जैसे—वहन्ति बलीवर्दा यवान् । वाहयति बलीवर्दान् यवान् † । यहां कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो जाती है ॥ ३४ ॥

वा०‡—भक्षेरहिंसार्थस्य ॥ ३५ ॥

यहां भी पूर्व वार्त्तिक से (प्रतिषेधः) इस पद की अनुवृत्ति चली आती है जो हिंसार्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान भक्ष धातु उस का अणि में जो कर्त्ता उसकी णिच् में कर्म संज्ञा न हो । जैसे-भक्षयति पिण्डीं देवदत्तो भक्षयति पिण्डीं देवदत्तेन । इस वार्त्तिक में हिंसार्थ का निषेध इसलिये है कि भक्षयति बलीवर्दान् यवान् । खेत के छोटे २ जौ बैलों से चराये । यहां खेत वाले की हिंसा समझी जाती है । क्योंकि खेत ही से उसका जीवन है । इससे कर्म संज्ञा का निषेध नहीं हुआ ॥ ३५ ॥

वा०—अकर्मकग्रहणे कालकर्मणामुपसंख्यानम्× ॥ ३६ ॥

जो अकर्मक धातुओं का सूत्र में ग्रहण है वहां कालकर्म वाले धातुओं का भी ग्रहण

---

* पूर्व वार्त्तिक से सामान्य अर्थ में वह धातु के अणि कर्त्ता की कर्म संज्ञा का प्रतिषेध है । इस वार्त्तिक से उसी का नियम करते हैं कि वह निषेध, नियन्ता जहां कर्त्ता हो वहां न लगे ।

† यहां प्रेरक हांकने वाले की विवक्षा नहीं है इसलिये वाहन क्रिया के स्वतन्त्र कर्त्ता बैल हो गये ।

‡ यह वार्त्तिक सूत्र से ही संबन्ध रखता है । भक्ष धातु के प्रत्यवसानार्थ होने से सामान्य अर्थों में भक्ष धातु के अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा प्राप्त है । सो जहां हिंसा अर्थात् पीड़ा पहुंचाना अर्थ हो वहीं अणिकर्त्ता की कर्म संज्ञा हो और अहिंसा में निषेध हो जावे ।

× कालकर्म वाले धातु अकर्मकों के समान समझे जाते हैं इसलिये अकर्मकों के साथ इन का उपसंख्यान किया है ।

समझना चाहिये। जैसे-मासमास्ते देवदत्तो मासमासयति देवदत्तम् । यहां मास प्रथम कर्म है अणि के कर्त्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा होके द्वितीया विभक्ति हो गई है ॥ ३६ ॥

हृक्रोरन्यतरस्याम् ॥ ३७ ॥ अ० १ । ४ । ५३ ॥

हृ और कृ धातु का जो अणयन्तावस्था का कर्त्ता है वह णयन्तावस्था में विकल्प करके कर्म संज्ञक हो। जैसे-अभ्यवहारयति सैन्धवान्सैन्धवैर्वा । विकारयति सैन्धवान् सैन्धवैर्वा * ॥ ३७ ॥

वा०-हृक्रोर्वावचनेऽभिवादिदृशोरात्मनेपद उपसंख्यानम् ॥३८॥

जो अभि पूर्वक वद और दृश धातु का अणि में कर्त्ता है वह णयन्तावस्था में कर्म संज्ञक विकल्प करके हो आत्मने पद में । जैसे-अभिवदति गुरुं देवदत्तः । अभिवादयते गुरुं देवदत्तेन देवदत्तं वा। पश्यन्ति भृत्या राजानं दर्शयते भृत्यैराजा दर्शयते भृत्यान् राजा। यहां अभि पूर्वक वद धातु शब्दकर्मक और दृश धातु बुद्ध्यर्थक है वहां तो पूर्व सूत्र से कर्मसंज्ञा प्राप्त थी, अन्य अर्थ में नहीं । इस वार्त्तिक से सर्वत्र विकल्प करके हो जाती है इसी से यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा कहाती है ॥ ३८ ॥

(कारक ३ तीसरा)

साधकतमं करणम् ॥ ३९ ॥ अ० १ । ४ । ४२ ॥

जो क्रिया की सिद्धि करने में मुख्य साधक हो वह कारक करण संज्ञक हो, इसका फल ॥ ३९ ॥

कर्तृकरणयोस्तृतीया ॥ ४० ॥ अ० २ । ३ । १८ ॥

अनभिहित कर्त्ता और करण कारक में तृतीया विभक्ति हो, कर्त्ता। जैसे-देवदत्तेन कृतम्, देवदत्तेन क्रियते। देवदत्त ने किया यहां देवदत्त कर्त्ता और दात्रेण यवान् लुनाति

* धातुओं के अनेकार्थ होने से कई अर्थों में कर्मसंज्ञा प्राप्त है और कई में नहीं। जैसे-अभ्यव और आङ्पूर्वक हृ धातु प्रत्यवसानार्थक है वहां प्राप्त है अन्यत्र नहीं तथा विपूर्वक कृधातु शब्दकर्मक और कहीं अकर्मक है वहां प्राप्त अन्यत्र अप्राप्त इस प्रकार यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है ।

परशुना काष्ठं वृश्चति * । इत्यादि दरांति से जवों को काटता और कुल्हाड़े से लकड़ी को छीलता है यहां दरांति और कुल्हाड़ा करण हैं ॥ ४० ॥

वा०—तृतीयाविधाने प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम् † ॥ ४१ ॥

प्रकृति आदि शब्दों से भी तृतीया विभक्ति हो । प्रकृत्या दर्शनीयः । यह स्वभाव से देखने योग्य है । प्रायेण वैयाकरणः । यह कुछेक व्याकरण भी पढ़ा है इत्यादि । यहां अनभिहित कर्त्ता करण कारकों के न होने से तृतीया विभक्ति नहीं प्राप्त थी सो इस वार्त्तिक से विधान की है । प्रकृति आदि शब्द बहुत हैं सो अष्टाध्यायी महाभाष्य के पढ़ने से आवेंगे ॥ ४१ ॥

सहयुक्तेऽप्रधाने ॥ ४२ ॥ अ० २ । ३ । १९ ॥

सह शब्द युक्त अप्रधान कर्त्ता कारक में तृतीया विभक्ति होती है । जैसे—पुत्रेण सहागतः पिता । पुत्र सहित पिता आया इत्यादि । यहां पुत्र अप्रधान है उस में तृतीया विभक्ति हो गई प्रधान पिता में न हुई ॥ ४२ ॥

येनाङ्गविकारः ॥ ४३ ॥ अ० २ । ३ । २० ॥

जिस अङ्ग अवयव से शरीर का विकार प्रसिद्ध हो उस अवयव में तृतीया विभक्ति हो । जैसे—शिरसा खल्वाटः । अक्ष्णा काणः । यह शिर से खल्वाट और आंख से काणा है । इत्यादि ॥ ४३ ॥

इत्थंभूतलक्षणे ॥ ४४ ॥ अ० २ । ३ । २१ ॥

इत्थंभूत अर्थात् इस प्रकार का वह है इस अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से तृतीया विभक्ति होवे । जैसे—अपि भवान् मेखलया ब्रह्मचारिणमद्राक्षीत् । धर्मेण सुखम् । पापेन दुःखम् । इत्यादि । यहां मेखला शब्द से ब्रह्मचारी का स्वरूप, धर्म से सुख और पाप से दुःख जाना जाता है । इत्थंभूत से भिन्न में तृतीया विभक्ति न हो । जैसे—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । इत्यादि ॥ ४४ ॥

---

* यहां (लुनाति) खेत का लुनना और (वृश्चति) वृक्ष का काटना इन क्रियाओं के मुख्य साधन दात्र और कुल्हाड़ी हैं इन के विना उक्त क्रिया कदाचित् नहीं हो सकती ।

† यहां से लेके तृतीया विभक्ति विधायक प्रकरण में जो कुछ सूत्र वार्तिक हैं वे अपूर्व विधायक इसलिये समझे जाते हैं कि उन में तृतीया किसी से प्राप्त नहीं है ।

संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि * ॥ ४५ ॥ अ० २ । ३ । २२ ॥

संपूर्वक ज्ञा धातु के अनभिहित कर्म में तृतीया विभक्ति विकल्प कर के होवे । पक्ष में द्वितीया हो । मात्रा संजानीते बालः । मातरं संजानीते बालः ॥ ४५ ॥

हेतौ ॥ ४६ ॥ अ० २ । ३ । २३ ॥

हेतु वाची शब्द में तृतीया विभक्ति हो । विद्यया यशः † विद्या से कीर्त्ति होती और धनेन दानम् । धन से दान होता है । इत्यादि ॥ ४६ ॥

वा०—निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनम् ॥ ४७ ॥

निमित्तकारण और हेतु इन तीन शब्दों और इन के सम्बन्धी शब्दों से सब विभक्ति बहुल करके होती हैं । जैसे—किं निमित्तं वसति, पठति, गच्छति, आयाति, करोति, तिष्ठति, इत्यादि । केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय, कस्मान्निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन्निमित्ते च । कारण । जैसे—किङ्कारणम्, केन कारणेन, कस्मै कारणाय, कस्मात् कारणात्, कस्य कारणस्य, कस्मिन् कारणे च वसति । हेतु—को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ च वसतीत्यादि ‡ ॥ ४७ ॥

अकर्त्तर्य्यृणे पञ्चमी ॥ ४८ ॥ अ० २ । ३ । २४ ॥

ऋण अर्थ में कर्त्ता भिन्न हेतु वाची शब्दों से पञ्चमी विभक्ति हो । जैसे—(शताद्-बद्धः) इत्यादि । ऋणी को सौ रुपये ऋण होने के कारण ऋण वाले ने बांधा । यहां अकर्तरि ग्रहण इसलिये है कि—शतेन बन्धितः । यहां सौ रुपयों से बंधवाया । इस प्रयोजक कर्त्ता की विवक्षा होने से पञ्चमी विभक्ति न हुई ॥ ४८ ॥

---

* यहां अनभिहित कर्म में द्वितीया ही प्राप्त है तृतीया नहीं इस कारण यह अप्राप्त विभाषा है । और उसी द्वितीया का अपवाद यह तृतीया समझी जाती है पक्ष में द्वितीया भी होती है ।

† हेतु उस को कहते हैं कि जिस के साथ जिसका प्रयोग हो उसका निमित्त कारण समझा जावे यहां भी विद्या यश का निमित्त कारण है ।

‡ निमित्त कारण और हेतु शब्दों से सब वचन यथायोग्य सब कर्त्ता और क्रिया भी होती है परन्तु मुख्य प्रयोजन आप्त लोगों के प्रयोग विषय में साधुत्व करने के लिये यह वचन है ।

विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् ॥ ४९ ॥ अ० २ । ३ । २५ ॥

स्त्रीलिङ्ग को छोड़ के पुल्लिङ्ग वा नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान जो गुण वाची हेतु शब्द उससे विकल्प करके पञ्चमी विभक्ति हो । जैसे—मौर्ख्याद्बद्धः । मौर्ख्येन बद्धः । इत्यादि । यह मूर्ख जन अपनी मूर्खता से आप ही बंधा है । यहां स्त्री लिङ्ग का निषेध इसलिये किया है कि । प्रज्ञया पूजितः । इत्यादि । यहां पंचमी विभक्ति न हो ॥ ४९ ॥

षष्ठी हेतुप्रयोगे ॥ ५० ॥ अ० २ । ३ । २६ ॥

हेतु शब्द के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति हो, जैसे—विद्याया हेतोर्गुरुकुले वसति । इत्यादि । विद्या ग्रहण के हेतु से यह ब्रह्मचारी गुरुकुल में वसता है ॥ ५० ॥

सर्वनाम्नस्तृतीया च ॥ ५१ ॥ अ० २ । ३ । २७ ॥

सर्वनाम वाची विशेषण सहित हेतु शब्द के प्रयोग में तृतीया और षष्ठी विभक्ति हों । जैसे—केन हेतुना कस्य हेतोर्वा वसति । इत्यादि । यह जन किस हेतु से वसता है ॥ ५१ ॥ अब करण संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं सो लिखते हैं ॥

दिवः कर्म च ॥ ५२ ॥ अ० १ । ४ । ४३ ॥

* पूर्व सूत्र से नित्य करण संज्ञा प्राप्त थी उसका बाधक यह सूत्र है । जो दिवु धातु के प्रयोग में साधकतम अर्थात् क्रिया की सिद्धि में मुख्य हेतु कारक है वह कर्म्म संज्ञक और चकार से करण संज्ञक भी हो । जैसे—अक्षानक्षैर्वा दीव्यति इत्यादि । ‡ पासों से खेलता है ॥ ५२ ॥

परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम् ॥ ५३ ॥ अ० १ । ४ । ४४ ॥

---

* (पूर्वसूत्र) साधकतमं करणम् ।

† इत्यादि सूत्रों के उदाहरणों में केवल करण संज्ञा ही के तृतीया विभक्ति प्राप्त थी उसके ये सूत्र अपवाद हैं बहुव्यापक उत्सर्ग और अल्प व्यापक अपवाद संज्ञक, उत्सर्ग सूत्रों ही के विषय में अपवाद सूत्र प्रवृत्त होते और अपवाद सूत्रों के विषय में उत्सर्ग सूत्र प्रवृत्त नहीं होते किन्तु अपवाद विषयों को छोड़ के उत्सर्ग सूत्रों की प्रवृत्ति होती है ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये ।

यहां भी (साधक०) इस पूर्व सूत्र से नित्य करण संज्ञा पाती थी सो इस सूत्र से करण और पक्ष में संप्रदान संज्ञा की है। परिक्रयण अर्थात् जो सब प्रकार खरीदने अर्थ में साधकतम कारक है वह संप्रदान संज्ञक विकल्प करके हो और पक्ष में करण संज्ञक हो। जैसे-शताय शतेन वा परिक्रीणाति। इत्यादि। सौ रुपयों से खरीदता है ॥ ५३ ॥

(कारक ४ चौथा)

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ॥ ५४ ॥ अ० १।४।३२ ॥

अत्यन्त इष्ट पदार्थ समझ के जिसके लिये देने का अभिप्राय किया जाय वह कारक संप्रदान संज्ञक होवे। इसका फल ॥ ५४ ॥

चतुर्थी संप्रदाने ॥ ५५ ॥ अ० २।३।१३ ॥

संप्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे-शिष्याय विद्यां ददाति *। इत्यादि। आचार्य शिष्य को विद्या देता है ॥ ५५ ॥

वा०-†चतुर्थीविधाने तादर्थ्य उपसंख्यानम् ॥ ५६ ॥

तादर्थ्य अर्थात् जिस कार्य के लिये कारण वाची शब्द का प्रयोग किया हो उस कार्य्य वाची शब्द से चतुर्थी विभक्ति होवे। जैसे-यूपाय दारु। कुण्डलाय हिरण्यम्। इत्यादि। यह खंभा के लिये काष्ठ और कुंडल के लिये सोना है ॥ ५६ ॥

वा०-क्लृपि संपद्यमाने ॥ ५७ ॥

जो क्लृप धातु का उत्पन्न होने वाला कारक है उसमें चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे-मूत्राय कल्पते यवागू। विद्यायै कल्पते बुद्धिमान्। इत्यादि। मूत्र के उत्पन्न करने में यवागू और विद्या पढ़ने के लिये बुद्धिमान् समर्थ होता है ॥ ५७ ॥

वा०-उत्पातेन ज्ञाप्यमाने ॥ ५८ ॥

---

* यहां अत्यन्त इष्ट पदार्थ विद्या है इसीसे उसकी कर्म संज्ञा हो के द्वितीया हुई है। और विद्या जिस शिष्य के लिये देने का अभिप्राय है उसी की संप्रदान संज्ञा होकर चतुर्थी होती है।

† यहां से आगे चतुर्थी विधान प्रकरण में जितने सूत्र वार्त्तिक लिखेंगे उनमें संप्रदान संज्ञा के न होने से चतुर्थी प्राप्त नहीं क्योंकि यहां कर्म से किसीका अभिप्राय सिद्ध नहीं किया जाता इसीलिये यह सब प्रकरण है।

आकाश से बिजली के चमकने और ओले पत्थर आदि गिरने को उत्पात कहते हैं। उस उत्पात से जो बात जानी जावे वहां चतुर्थी विभक्ति होवे। जैसे-वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी। कृष्णा सर्वविनाशाय दुर्भिक्षाय सिता भवेत् ॥ १ ॥ पीली बिजली जो चमके तो वायु अधिक चले, इत्यादि ॥ ५८ ॥

वा०-हितयोगे च ॥ ५६ ॥

हित शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे-हितमरोचकिने पाचनम्। इत्यादि। जिस की रुचि भोजन पर न हो उसके लिये पाचन ओषध हितकारी है ॥ ५६ ॥

क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः ॥ ६० ॥ अ० २।३।१४ ॥

अनभिहित कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति पाती थी उसका अपवाद यह सूत्र है। जहां क्रिया के लिये क्रिया हो वहां अप्रयुज्यमान धातु के अनभिहित कर्म कारक में चतुर्थी विभक्ति हो जैसे-(वृकेभ्यो व्रजति) वृकान् हन्तुं व्रजति। इत्यादि। भेड़ियों को मारने जाता है यहां जो वृकों को मारना क्रिया है सो हन धातु अप्रयुज्यमान है। यहां कर्म ग्रहण इसलिये है कि-(वृकेभ्यो व्रजत्यश्वेन) अश्व शब्द में चतुर्थी न हो। और स्थानिग्रहण इसलिये है कि-वृकान् हन्तुं व्रजति। यहां प्रयुज्यमान के होने से चतुर्थी विभक्ति नहीं हुई ॥ ६० ॥

तुमर्थाच्च भाववचनात् ॥ ६१ ॥ अ० २।३।१५ ॥

जहां अप्रयुज्यमान क्रियार्थोपपद धातु के कर्म का वाची तुमर्थभाववचन प्रातिपदिक हो वहां उस से चतुर्थी विभक्ति हो। जैसे-इष्टये व्रजति *। इष्टिं कर्त्तुं व्रजति। इत्यादि। पौर्णमासी आदि में होम करने को जाता है। यहां तुमर्थ ग्रहण इसलिये है कि-पाकं करोति। यहां चतुर्थी न हो ॥ ६१ ॥

नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधाऽलं वषड्योगाच्च ॥ ६२ ॥

अ० २।३।१६ ॥

नमस्, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्, इन शब्दों के योग में चतुर्थी

* यहां इष्टि शब्द क्रियार्थोपपद करोति धातु का भाव वचन कर्म है और व्रजन क्रिया इष्टि संपादन के लिये है इसीसे इसको क्रियार्था क्रिया कहते हैं।

विभक्ति होवे । नमस्ते रुद्र मन्यवे । स्वस्ति शिष्याय । अग्नये स्वाहा । स्वधा पितृभ्यः । अलं मल्लो मल्लाय । वषडिन्द्राय । इत्यादि * ॥ ६२ ॥

वा०—अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥ ६३ ॥

अलं शब्द से सामर्थ्यवाचक का ग्रहण होना चाहिये । क्योंकि † । अलं कुरुते कन्याम् । यहां भूषण अर्थ में चतुर्थी विभक्ति न हो और प्रभुर्मल्लो मल्लाय । प्रभवति मल्लो मल्लाय । यहां अलं के पर्य्यायवाची प्रभु और प्रभवति शब्द के योग में भी चतुर्थी विभक्ति हो जावे ॥ ६३ ॥

मन्य‡कर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु ॥ ६४ ॥ अ० २ । ३ । १७ ॥

इस सूत्र में मन्य निर्देश दिवादि गण के मन धातु का किया है । जहां मन्य धातु के अप्राणि वाची अनभिहित कर्म में तिरस्कार अर्थ विदित होता हो तो वहां विकल्प कर के चतुर्थी विभक्ति हो पक्ष में द्वितीया । त्वां तृणं मन्ये । त्वां तृणाय मन्ये । इत्यादि–मैं तुझ को तृण की तुल्य मानता हूं यह तिरस्कार है । यहां दिवादि विकरण के ग्रहण से (त्वां तृणं मन्वे) यहां चतुर्थी नहीं होती । यहां मन्य कर्म ग्रहण इसलिये है कि (त्वां तृणं जानामि) यहां चतुर्थी न हो । अनादर ग्रहण इसलिये है कि (वाचं मन्ये सरस्वतीम्) यहां चतुर्थी न हो और अप्राणि ग्रहण इसलिये है कि (काकं मन्ये त्वाम्) इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो ॥ ६४ ॥

---

* प्राण के लिये (नमः) अन्न । अग्नि में (स्वाहा) संस्कृत हवि । पितरों अर्थात् पिता आदि ज्ञानियों से (स्वधा) अर्थात् अपने योग्य सुशिक्षा । मल्ल को जीतने में मल्ल ही समर्थ । इन्द्र बिजली की विद्या ग्रहण करने के लिये उत्तम क्रिया अच्छी होती है ।

† पूर्व सूत्र में जो अलं शब्द पढ़ा है उसीका शेष यह वार्तिक है । अलं शब्द के चार अर्थ हैं—भूषण, पर्य्याप्ति अर्थात् सामर्थ्य, समाप्ति और निषेध । इन सर्व अर्थों में इसके योग में चतुर्थी प्राप्त थी सो नियम हो गया कि पर्य्याप्ति अर्थ में हो तो और सामर्थ्यवाची शब्दों के योग में भी हो जावे ।

‡ यहां मन्य धातु से अनभिहित कर्म में केवल द्वितीया बिभक्ति ही पाती है उसीका बाधक यह सूत्र है और इसीलिये यह अप्राप्त विभाषा कहाती है ।

वा०—अनावादिष्विति वक्तव्यम् ॥ ६५ ॥

जो इस सूत्र में अप्राणी का ग्रहण किया है उसके स्थान में वार्तिकरूप अनावादिषु ऐसा न्यास करना चाहिये। क्योंकि कहीं २ प्राणी वाची मन्य धातु के कर्म्म में भी चतुर्थी होती है। जैसे—न त्वा श्वानं मन्ये। न त्वा शुने मन्ये। इत्यादि। मैं तुझे कुत्ते के समान भी नहीं मानता ॥ ६५ ॥ संप्रदान संज्ञा में कर्म ग्रहण इसलिये है कि (स्नातकाय कन्यां ददाति) इत्यादि। ब्रह्मचर्य्यव्रत से पूर्णविद्या पढ़े हुए सुशील पुरुष को कन्या देता है। यहां कन्या की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। यं और स इन दो शब्दों का ग्रहण इसलिये है कि—अप्राप्त की संप्रदान संज्ञा न हो जावे। तथा अभि और प्र ग्रहण इसलिये हैं कि सब काल में संप्रदान संज्ञा हो जावे। अर्थात् दिया था, देता है और देगा अन्यथा अभि प्र न हों तो वर्तमान काल ही में संप्रदान संज्ञा होती अन्यत्र नहीं ॥ ६५ ॥

वा०—कर्मणः करणसंज्ञा वक्तव्या संप्रदानस्य च कर्मसंज्ञा ॥ ६६ ॥

इस वार्तिक से कर्म्म की तो करण और संप्रदान की कर्म संज्ञा होती है। जैसे—पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः। इत्यादि। रुद्र अर्थात् मध्य विद्वान् को पशु देता है। यहां पशु तो कर्म है उस की करण संज्ञा हो के तृतीया विभक्ति हो गई। रुद्र नाम किसी मध्यम विद्वान् को पशु देता है ॥ ६६ ॥

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ ६७ ॥ अ० १ । ४ । ३३ ॥

जो रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होने वाला कारक है वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे—ब्रह्मचारिणे रोचते विद्या। इत्यादि। ब्रह्मचारी अर्थात् नियमपूर्वक विद्या पढ़ने वाला मनुष्य विद्या से प्रसन्न और तृप्त होता है यहां प्रीयमाण ग्रहण इसलिये है कि—विद्या शब्द की संप्रदान संज्ञा न हो ॥ ६७ ॥

श्लाघन्हुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ ६८ ॥ अ० १ । ४ । ३४ ॥

श्लाघ न्हुङ् स्था और शप, इन धातुओं के प्रयोग में जिस को जानने की इच्छा की

जावे वह कारक संप्रदान संज्ञक होवे । जैसे-पुत्राय श्लाघते । जाराय न्हुते । विद्यायै तिष्ठते । दुष्टाय शपते * । इत्यादि यह स्त्री पुत्र की प्रशंसा । व्यभिचारी को दूर करती । विद्या के लिये खड़ी और दुष्ट को शाप देती । यहां ज्ञीप्स्यमान ग्रहण इसलिये है कि जिस को जनावे उसी की संप्रदान संज्ञा होवे धर्म. की न हो जाय । जैसे-पिता पुत्राय धर्मं श्लाघते । इत्यादि ॥ ६८ ॥

धारेरुत्तमर्णः ॥ ६९ ॥ अ० १ । ४ । ३५ ॥

जो किसी को ऋण देवे वह उत्तमर्ण कहाता है । जो णयन्त धृ धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण कारक है वह संप्रदान संज्ञक हो । जैसे-(देवदत्ताय शतं सहस्रं वा धारयति) इत्यादि । देवदत्त के सौ वा हजार रुपैये ऋण यज्ञदत्त धराता है । यहां देवदत्त ऋण का देने वाला होने से उत्तमर्ण और यज्ञदत्त लेने वाला होने से अधमर्ण कहाता है । यहां शेष कारक के होने से षष्ठी विभक्ति पाती थी उस का अपवाद संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । उत्तमर्ण ग्रहण इसलिये है कि उस सौ वा हजार की संप्रदान संज्ञा न होजाय ॥ ६९ ॥

स्पृहेरीप्सितः ॥ ७० ॥ अ० १ । ४ । ३६ ॥

जो स्पृह धातु के प्रयोग में ईप्सित अर्थात् जिस पदार्थ के ग्रहण की इच्छा होती है वह संप्रदान संज्ञक हो । जैसे-(धनाय स्पृहयति) इत्यादि । भोगी मनुष्य धन मिलने की इच्छा करता है । यहां धन उस को इष्ट है इस से धन की संप्रदान संज्ञा हो के चतुर्थी विभक्ति हो गई । ईप्सित ग्रहण इसलिये है कि भोग के कर्त्ता की संप्रदान संज्ञा न हो जाय ॥ ७० ॥

† क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः ॥ ७१ ॥ अ० १ । ४ । ३७ ॥

क्रुध, द्रुह, ईर्ष्य, असूय, इन के तुल्यार्थ धातुओं के प्रयोग में जिस के प्रति कोप किया जाय वह कारक संप्रदान संज्ञक हो । जैसे क्रुध-दुष्टाय क्रुध्यति । द्रुह-शत्रवे द्रुह्यति । ईर्ष्य-सपत्न्याईर्ष्यति । असूय-विदुषेऽसूयति । राजा दुष्ट पर क्रोध, शत्रु से द्रोह । स्वपति

* यहां दुष्ट को पुकारना है वह उसी को जनाया जाता है इसलिये वह संप्रदान है ।

† यह सूत्र कर्मसंज्ञा का अपवाद है ।

की दूसरी स्त्री से अप्रीति और मूर्ख जन विद्वान् की निन्दा करता है। यहां जिस के प्रति कोप हो इस का ग्रहण इसलिये है कि-(भिक्षुको भिक्षुकमीर्ष्यति) इत्यादि में सम्प्रदान संज्ञा न हो ॥ ७१ ॥

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म ॥ ७२ ॥ अ० १ । ४ । ३८ ॥

पूर्व से सम्प्रदान संज्ञा प्राप्त थी उस का बाधक यह सूत्र है। उपसर्ग युक्त क्रुध और द्रुह धातु के प्रयोग में जिस के प्रति कोप हो वह कारक कर्म संज्ञक हो। जैसे-दुष्टमभिक्रुध्यत्यभिद्रुह्यति वा। इत्यादि। यहां उपसर्ग युक्त का ग्रहण इसलिये है कि-दुष्टाय क्रुध्यति द्रुह्यति वा। इत्यादि में कर्म संज्ञा न हो जाय ॥ ७२ ॥

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः ॥ ७३ ॥ अ० १ । ४ । ३९ ॥

राध और ईक्ष धातु के प्रयोग में जिस का विविध प्रकार का प्रश्न हो वह कारक संप्रदान संज्ञक हो। जैसे-(शिष्याय विद्यां राध्नोति-ईक्षते वा गुरुः) इत्यादि आचार्य विद्यार्थी के लिये विद्या को सिद्ध और प्रत्यक्ष कराता है यहां राध और ईक्ष धातु का ग्रहण इसलिये है कि इन के योग से अन्यत्र संप्रदान संज्ञा न हो। यस्य ग्रहण इसलिये है कि विप्रश्न की संप्रदान संज्ञा न हो जावे ॥ ७३ ॥

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता ॥ ७४ ॥ अ० १ । ४ । ४० ॥

जो प्रति और आङ् पूर्वक श्रु धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्त्ता कारक हो वह संप्रदान संज्ञक होवे। जैसे-पूर्व देवदत्तो विद्यां याचते। देवदत्ताय विद्यां प्रतिशृणोत्याशृणोति वा विद्वान्। इत्यादि। प्रथम देवदत्त विद्या को चाहता है उस को विद्वान् सुनाता है पूर्वस्य ग्रहण इसलिये है कि विद्वान् की संप्रदान संज्ञा न हो जावे यहां प्रति और आङ् का ग्रहण इसलिये है कि ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा और आरम्भ से अन्त तक पढ़ना और पढ़ाना चाहिये ॥ ७४ ॥

अनुप्रतिगृणश्च ॥ ७५ ॥ अ० १ । ४ । ४१ ॥

जो अनु और प्रति पूर्वक गृ धातु के प्रयोग में पूर्व का कर्त्ता कारक हो तो वह संप्रदान संज्ञक हो। जैसे-शान्ताय विद्यामनुगृणाति प्रतिगृणाति वा। इत्यादि। शान्तिमान् विद्यार्थी के लिये विद्या का उपदेश करता इस सूत्र में चकार पूर्व के कर्त्ता की अनुवृत्ति के लिये है। यह संप्रदान कारक पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

(कारक ५ पांचवां)

ध्रुवमपायेऽपादानम् ॥ ७६ ॥ अ० १ । ४ । २४ ॥

ध्रुव उस को कहते हैं कि जो पदार्थों के पृथक् होने में निश्चल रहे वह कारक अपादान संज्ञक हो। इस का फल ॥ ७६ ॥

अपादाने पञ्चमी ॥ ७७ ॥ अ० २ । ३ । २८ ॥

अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—ग्रामादागच्छति। वृक्षात्पर्णं पतति। इत्यादि। ग्राम से मनुष्य आता है। वृक्ष से पत्ते गिरते हैं। यहां ग्राम और वृक्ष निश्चल हैं उन में पञ्चमी हो जाती है। (प्रश्न) जहां वियोग के बीच में दोनों चलायमान हों वहां किस की अपादान संज्ञा समझनी चाहिये। जैसे—रथात्प्रवीतात्पतितः। धावतस्त्रस्ताद्वाऽश्वात्पतितः। भागते हुए रथ से गिरा। भागते वा डरते हुए घोड़े से गिरा। यहां रथ और घोड़े की अपादान संज्ञा नहीं होनी चाहिये क्योंकि वे तो चलायमान हैं और गिरा हुआ मनुष्य निश्चल होता है। (उत्तर) जिस रथ वा घोड़े के स्थल पीठ से गिरता है वह निश्चल है उसकी अपादान संज्ञा की है ॥ ७७ ॥

वा०—पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् ॥ ७८ ॥

जहां ल्यबन्त क्रिया का लोप हो वहां उस के कर्म में पंचमी विभक्ति हो। जैसे—*प्रासादात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य प्रेक्षते। यहां ल्यबन्त आरुह्य क्रिया का लोप हुआ है उस के प्रसाद कर्म में पंचमी विभक्ति होती है ॥ ७८ ॥

वा०—अधिकरणे च ॥ ७९ ॥

जो ल्यबन्त क्रिया का लोप हो तो उस के अधिकरण में पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे—आसनात्प्रेक्षते। आसन उपविश्य प्रेक्षते। शयनात्प्रेक्षते। इत्यादि। आसन और शय्या पर बैठके देखता है। यहां शयन और आसन उपविश्य क्रिया के अधिकरण हैं। उन में सप्तमी की प्राप्ति होने से उसी का यह अपवाद है ॥ ७९ ॥

वा०—प्रश्नाख्यानयोश्च † ॥ ८० ॥

---

* यहां अपादान संज्ञा के न होने से पञ्चमी किसी सूत्र से प्राप्त नहीं थी किन्तु कर्म में द्वितीया प्राप्त थी उस का यह अपवाद है।

† यहां से ले के आगे इस पंचमी विधान प्रकरण में जितने सूत्र वार्त्तिक लिखे हैं वे सब अपूर्व विधायक समझने चाहिये क्योंकि वहां किसीसे कोई विभक्ति का विधान नहीं किया है।

प्रश्न और आख्यान वाची शब्द से पञ्चमी विभक्ति हो। जैसे-कुतो भवान् पाटलिपुत्राद्वसति। यहां कुतः शब्द में प्रश्न वाची के होने से और पाटलिपुत्र शब्द में आख्यान के होने से पञ्चमी विभक्ति हुई है ॥ ८० ॥

वा०-यतश्चाध्वकालनिर्माणम् ॥ ८१ ॥

जहां से मार्ग और काल का परिमाण किया जाय वहां पञ्चमी विभक्ति हो। मार्गनिर्माण जैसे-गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि। गवीधुमान् नगर से सांकाश्य नगर चार योजन सोलह कोश दूर है। यहां गवीधुमान् से मार्ग का परिमाण होने से वहां पंचमी विभक्ति हो गई। काल निर्माण-कार्त्तिक्या आग्रहायणीमासे। यहां कार्त्तिकी शब्द में पञ्चमी विभक्ति हो गई ॥ ८१ ॥

वा०-तद्युक्तात्काले सप्तमी ॥ ८२ ॥

जो काल के निर्माण में पञ्चमी विभक्ति की है उस से उत्तर कालवाची शब्द से सप्तमी विभक्ति हो। जैसे-कार्त्तिक्या आग्रहायणीमासे। यहां मास शब्द में सप्तमी हुई है ॥ ८२ ॥

वा०-अध्वनः प्रथमा च ॥ ८३ ॥

मार्ग के निर्माण में जो पञ्चमी विभक्ति की है उस से उत्तर मार्ग वाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी दोनों विभक्ति हों। जैसे-गवीधुमतः सांकाश्यं चत्वारि योजनानि। गवीधुमतः सांकाश्यं चतुर्षु योजनेषु। यहां मार्ग वाची योजन शब्द से प्रथमा और सप्तमी विभक्ति हुई हैं ॥ ८३ ॥

अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ॥ ८४ ॥ अ० २। ३। २९ ॥

अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच् और आहि प्रत्ययान्त अव्यय, इन शब्दों के योग में पंचमी विभक्ति होवे। जैसे, अन्य-अन्यो देवदत्ताद्यज्ञदत्तः। आरात्-आराच्छूद्राद्रजकः। इतर-स्वस्मादितरं न गृह्णीयात्। ऋते-ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। दिग्वाचीशब्द-पूर्वो ग्रामात्कूपः। अञ्चूत्तरपद-प्राग्ग्रामात्तडागम्। आच्-दक्षिणा कूपाद्वृक्षः। आहि-दक्षिणाहि ग्रामान्नदी इत्यादि। यहां दिक् शब्द के ग्रहण से अञ्चूत्तरपद के उदाहरण भी सिद्ध हो जाते फिर अञ्चूत्तरपद ग्रहण इसलिये है कि आगे के सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त है उस को बाध कर पञ्चमी ही हो जावे ॥ ८४ ॥

षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन ॥ ८५ ॥ अ० २ । ३ । ३० ॥

अतसुच् प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थों में वर्त्तमान जो अव्यय शब्द है उस के योग में षष्ठी विभक्ति हो । जैसे-दक्षिणतो ग्रामस्य वाटिका । उपरि ग्रामस्य गोशाला। इत्यादि । यहां ग्राम शब्द से षष्ठी विभक्ति हुई है ॥ ८५ ॥

एनपा द्वितीया ॥ ८६ ॥ अ० २ । ३ । ३१ ॥

अतसर्थ प्रत्ययों में एनप् प्रत्यय के योग में पूर्व सूत्र से षष्ठी विभक्ति प्राप्त थी उस का अपवाद यह सूत्र है कि एनप् प्रत्ययान्त अव्यय के योग में द्वितीया हो । जैसे-दक्षिणेन ग्रामं मुंजाः । इत्यादि । ग्राम से दाहिनी ओर मूंज का वन है ॥ ८६ ॥

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥ ८७ ॥ अ० २ । ३ । ३२ ॥

पृथक्, विना, नाना, इन तीन अव्यय शब्दों के योग में विकल्प कर के तृतीया विभक्ति हो पक्ष में पंचमी । जैसे-पृथक् स्थानेन । पृथक् स्थानात् । विना घृतेन । विना घृतात् । नाना पदार्थेन । नाना पदार्थात् । यहां जो सिद्धान्तकौमुदी में द्वितीया विभक्ति की अनुवृत्ति कर के उदाहरण दिये हैं वे इसी सूत्र के महाभाष्य से विरुद्ध होने से अशुद्ध हैं ॥ ८७ ॥

करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्ववचनस्य ॥ ८८ ॥ अ० २ । ३ । ३३ ॥

करण कारक में वर्त्तमान जो अद्रव्य वाची स्तोक अल्प कृच्छ्र और कतिपय शब्द उन से तृतीया और पंचमी विभक्ति हों । जैसे-स्तोकेन तोकाद्वा मुक्तः । अल्पेनाल्पाद्वा मुक्तः । कृच्छ्रेण कृच्छ्राद्वा मुक्तः । कतिपयेन कतिपयाद्वा मुक्तः । इत्यादि थोड़े किंचित् कष्ट और कुछ दिनों में छूट गया यहां असत्व वचन का ग्रहण इसलिये है कि अल्पेन जलेन तृप्तः । थोड़े जल से तृप्त हुआ । इत्यादि में पंचमी विभक्ति न हो यहां करण ग्रहण इसलिये है कि-(अल्पं त्यजति) थोड़े को छोड़ता है इत्यादि में तृतीया पंचमी विभक्ति न हों ॥ ८८ ॥

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् ॥ ८९ ॥ अ० २ । ३ । ३४ ॥

दूर और समीपवाची और इन के पर्यायवाची शब्दों के योग में विकल्प कर

के षष्ठी और पक्ष में पंचमी हों जैसे (दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामस्य) दूरं विप्रकृष्टं वा ग्रामाद् वनम् । अन्तिकं समीपं वा ग्रामस्य ग्रामाद्वाऽऽरामाः । इत्यादि गाम के दूर जंगल और समीप बाग हैं ! यहां विकल्प की अनुवृत्ति इसलिये है कि पक्ष में पंचमी विभक्ति हो जावे ॥ ८९ ॥

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च ॥ ९० ॥ अ० २ । ३ । ३५ ॥

दूर और समीप वाची तथा इन के पर्याय शब्दों से द्वितीया विभक्ति हो चकार से विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में पंचमी भी हो । दूरं दूरस्य दूराद्वा ग्रामस्य । विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद्वा ग्रामस्य पर्वताः । अन्तिकमन्तिकस्यान्तिकाद्वा ग्रामस्य शिरीषाः । समीपं समीपस्य समीपाद्वा ग्रामस्य वाटिकाः । इत्यादि । अब अपादान संज्ञा में जो विशेष सूत्र हैं उन्हें लिखते हैं ॥ ९० ॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः ॥ ९१ ॥ अ० १ । ४ । २५ ॥

जो भयार्थ और रक्षार्थ धातुओं के प्रयोग में भय का हेतु कारक है उस की अपादान संज्ञा हो । जैसे-वृकेभ्यो बिभेति। वृकेभ्य उद्विजते। चोरेभ्यस्त्रायते । चोरेभ्यो रक्षति । * इत्यादि । भेड़ियों से डरता और चोरों से रक्षा करता है। यहां भय हेतु का ग्रहण इस लिये है कि । गृहे बिभेति । गृहे त्रायते इत्यादि में पंचमी विभक्ति न हो ॥ ९१ ॥

पराजेरसोढः ॥ ९२ ॥ अ १ । ४ । २६ ॥

परापूर्वक जि धातु के प्रयोग में असोढ अर्थात् जिसको न सह सके वह कारक अपादान संज्ञक हो । जैसे-अध्ययनात् पराजयते । बलवतो धर्म्मात्मनो निर्बलोऽधर्मी पराजयते । इत्यादि यहां असोढ ग्रहण इसलिये है कि (शत्रून् पराजयते) इत्यादि में अपादान संज्ञा हो कर पंचमी न हो ॥ ९२ ॥

वारणार्थानामीप्सितः ॥ ९३ ॥ अ० १ । ४ । २७ ॥

वारण उसको कहते हैं कि कुछ काम करते हुए को वहां से हटादेना । वारणार्थक धातुओं के प्रयोग में जो अत्यन्त इष्ट कारक है उसकी अपादान संज्ञा हो । जैसे-सस्ये-

* यहां वृक और चोर भय के हेतु हैं इस कारण उनकी अपादान संज्ञा हो कर पंचमी विभक्ति होती है ॥

भ्यो गां वारयंति निवर्त्तयति निषेधति वा इत्यादि, धान्य के खेतों से गौओं को हटाता है । इस कारण खेत अत्यन्त इष्ट हुए । यहां ईप्सित ग्रहण इसलिये है कि गोष्ठे गां वारयति । इत्यादि में अपादान संज्ञा न हो ॥ ६३ ॥

अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति ॥ ६४ ॥ अ० १ । ४ । २८ ॥

अन्तर्द्धि अर्थात् छिप जाने अर्थ में जिस से ऐसी इच्छा करे कि मुझको वह न देखै वह कारक अपादान संज्ञक हो । जैसे—उपाध्यायाद्बालोऽन्तर्द्धत्ते । इत्यादि पढ़ने हारे से लड़का छिपता है, यहां अन्तर्द्धि ग्रहण इसलिये है कि (दुष्टान्न दिदृक्षते) इत्यादि में अपादान संज्ञा न हो इच्छति ग्रहण इसलिये है कि देखने की इच्छा न हो और सामने से दिखाता हो तो भी अपादान संज्ञा न हो ॥ ६४ ॥

आख्यातोपयोगे ॥ ६५ ॥ अ० १ । ४ । २९ ॥

जो उपयोग अर्थात् नियमपूर्वक पढ़ने में पढ़ाने वाला कारक है उस की अपादान संज्ञा हो । उपाध्यायादधीते । इत्यादि वेतन लेने वाले से पढ़ता है । यहां उपयोग ग्रहण इसलिये है कि (नटस्य वचः शृणोति) इत्यादि में नियमपूर्वक विधान के न होने से अपादान कारक संज्ञा न हो ॥ ६५ ॥

जनिकर्तुः प्रकृतिः ॥ ६६ ॥ अ० १ । ४ । ३० ॥

जन धातु का जो कर्त्ता उसकी प्रकृति अर्थात् जो कारण है वह अपादान संज्ञक हो जैसे—अग्नेर्वै धूमो जायते * अव्यक्तात्कारणाद्व्यक्तं कार्यं जायते । अग्नि से धुंआ और सूक्ष्म अदृश्य नित्यस्वरूप कारण से स्थूल, दृश्य, अनित्य रूप कार्य उत्पन्न होता है। यहां प्रकृतिग्रहण इसलिये है कि (पुत्रो मे गौरो जायेत) इत्यादि में कारण की अपेक्षा न होने से अपादान संज्ञा नहीं होती ॥ ६६ ॥

भुवः प्रभवः ॥ ६७ अ० १ । ४ । ३१ ॥

प्रभव उस को कहते हैं कि जहां से कोई पदार्थ उत्पन्न हुआ हो । जो भू धातु के कर्त्ता का प्रभव कारक है वह अपादान संज्ञक हो । हिमवतो गङ्गा प्रभवति ।

* यहां जन धातु का कर्त्ता धूम है उसकी प्रकृति कारण अग्नि है इससे उस की अपादान संज्ञा होकर पंचमी होती है ।

हिमवान् पर्वत से गङ्गा उत्पन्न होती है इसलिये हिमवान् शब्द की अपादान संज्ञा हो के पंचमी विभक्ति हुई है ॥ ९७ ॥

अपादानकारकप्रकरण पूरा हुआ ॥

अब इस के आगे षष्ठी कारक लिखेंगे इस में संज्ञाप्रकरण नहीं है ॥

कारक ६ छठा ॥

षष्ठी शेषे ॥ ९८ ॥ अ० २ । ३ । ५० ॥

भा०-कर्म्मादीनामविवक्षा शेषः । जहां कर्म आदि कारक संज्ञा की विवक्षा न हो वह शेष कहलाता है उस में षष्ठी विभक्ति हो जैसे-राज्ञः पुरुषः । वृक्षस्य शाखाः । मृत्तिकाया घटः । इत्यादि ॥ ९८ ॥

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे ॥ ९९ ॥ अ० । २ । ३ । ५१ ॥

जो अविदर्थ अर्थात् अज्ञानार्थ ज्ञा धातु उस के करण कारक में षष्ठी विभक्ति होवे । जैसे-अग्निः सर्पिषो जानीते * मधुनो जानीते । अग्नि घी और शहद से प्रज्वलित होता है । यहां अविदर्थ ग्रहण इसलिये है कि । गौः स्वरेण वत्सं जानाति । इत्यादि में षष्ठी न हो ॥ ९९ ॥

अधीगर्थदयेशां कर्मणि ॥ १०० ॥ अ० २ । ३ । ५२ ॥

जो अधि पूर्वक स्मरण अर्थ वाला इक इस के अर्थ के अन्य धातु दय और ईश हैं इन के अनभिहित कर्म में षष्ठी विभक्ति हो । जैसे-अधीगर्थ । मातुरध्येति बालः । पितुः स्मरति बालः । दय । दुःखितस्य दयते । ईश । ग्रामस्येष्टे । यहां सर्वत्र द्वितीया प्राप्त थी उस की बाधक षष्ठी है और कर्म ग्रहण इसलिये है कि । मातृगुणैः स्मरति बालः । यहां करणवाची गुण शब्द के होने से षष्ठी विभक्ति नहीं हुई ॥ १०० ॥

कृञः प्रतियत्ने ॥ १०१ ॥ अ० २ । ३ । ५३ ॥

---

* यहां सर्पिः घी और मधु शहद ज्ञा धातु के प्रयोग में साधकतम होने से करण हैं वहां तृतीया विभक्ति प्राप्त थी उस का अपवाद यह षष्ठी का विधान किया है । परन्तु अर्थ तृतीया का ही बना रहता है । जैसे-घी और मधु से अग्नि बढ़ता है ।

जो प्रतियत्न अर्थ में वर्तमान कृञ् धातु हो तो उस के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे–एधोदकस्योपस्कुरुते † पाककर्ता इन्धन जल तथा अन्य सब भोजन की सामग्री समीप धर के पाक बनावे ॥ १०१ ॥

रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः ॥ १०२ ॥ अ० २।३।५४ ॥

यहां भाववचन शब्द से कर्तृस्थभावक रुजार्थ धातु समझे जाते हैं। जिन धातुओं के कर्त्ता में धातु का अर्थ रहता है ऐसे रुजार्थक धातुओं में से ज्वर धातु को छोड़ के उस के शेष कर्म्म ‡ में षष्ठी हो। जैसे–चोरस्य रुजति। चोरस्यामयति। इत्यादि यहां रुजार्थ ग्रहण इसलिये है कि। ग्रामं गच्छति। इत्यादि में षष्ठी न हो और भाववचन ग्रहण इसलिये है कि। नदी कूलानि रुजति। यहां कर्मस्थ भावक रुज धातु के कर्म्म में षष्ठी न हो और ज्वर धातु का निषेध इसलिये है कि। बालं ज्वरयति ज्वरः। यहां कर्म में षष्ठी न हो ॥ १०२ ॥

वा०–अज्वरिसंताप्योरिति वक्तव्यम् ॥ १०३ ॥

जहां ज्वर धातु के कर्म्म में षष्ठी का निषेध किया है वहां संपूर्वक तापि धातु का भी समझना चाहिये। जैसे–(चोरं सन्तापयति दुष्कर्म) यहां इस वार्त्तिक से षष्ठी का निषेध हो के द्वितीया हुई ॥ १०३ ॥

आशिषि नाथः ॥ १०४ ॥ अ० । २ । ३ । ५५ ॥

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान नाथ धातु हो तो उस के शेष कर्मकारक में षष्ठी विभक्ति होवे। जैसे–(सर्पिषो नाथते) (मधुनो नाथते) * यहां आशिष् शब्द से इच्छा ली जाती है। इसलिये कर्मवाची सर्पि शब्द में षष्ठी विभक्ति हुई। आशिषि ग्रहण इसलिये है कि (अन्नं नाथते) यहां षष्ठी न हो ॥ १०४ ॥

---

† यहां प्रतियत्न अर्थ में ही कृञ् धातु को सुट् का आगम कहा है। एधोदक शब्द कृञ् धातु का कर्म है उस में द्वितीया प्राप्त है सो न हो।

‡ शेष कर्म के कहने से प्रयोजन यह है कि जिस कर्म में द्वितीया की विवक्षा न हो।

* घी चाहता है मीठा चाहता है यहां घी और मीठा नाथ धातु के कर्म हैं यहां भी षष्ठी द्वितीया की बोधक है।

जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् ॥ १०५ ॥ अ० २ । ३ । ५६ ॥

जासि धातु चुरादि गण का नि और प्र ये उपसर्ग साथ वा पृथक् २ पूर्व हों ऐसा (हन) (नाट) (क्राथ) और (पिष) इन हिंसार्थक धातुओं के शेष कर्म में षष्ठी विभक्ति होवे । चोरस्योज्जासयति । यहां जासि धातु के चोर कर्म में षष्ठी । निप्रहण । चोरस्य निप्रहन्ति । चोरस्य निहन्ति । चोरस्य प्रहन्ति । नाट । असुरस्योन्नाटयति । क्राथ । दुष्टस्य क्राथयति । पिष । दस्योः पिनष्टि । इत्यादि यहां जासि आदि धातुओं का परिगणन इसलिये है कि (दुष्टं हिनस्ति) इत्यादि में षष्ठी न हो । और हिंसा ग्रहण इसलिये है कि । औषधं पिनष्टि । यहां हिंसा के न होने से षष्ठी न हुई ॥ १०५ ॥

व्यवहृपणोः समर्थयोः ॥ १०६ । अ० २ । ३ । ५७ ॥

समानार्थक जो वि अव पूर्वक हृ और पण धातु इन के शेष कर्म्म में षष्ठी विभक्ति हो । जैसे-शतस्य व्यवहरति । शतस्य पणायति । इत्यादि यहां समर्थ ग्रहण इसलिये है कि । विद्वांसम्पणायति । यहां पण धातु स्तुति अर्थ में है इस कारण से इस के कर्म में षष्ठी नहीं होती ॥ १०६ ॥

दिवस्तदर्थस्य ॥ १०७ ॥ अ० २ । ३ । ५८ ॥

व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म्म में षष्ठी विभक्ति हो । जैसे-शतस्य दीव्यति इत्यादि, सौ रुपये का व्यवहार करता है ॥ १०७ ॥

विभाषोपसर्गे ॥ १०८ ॥ अ० २ । ३ । ५९ ॥

उपसर्गपूर्वक व्यवहारार्थक दिवु धातु के शेष कर्म में विकल्पकरके षष्ठी विभक्ति हो । शतस्य प्रदीव्यति । शतं प्रदीव्यति । यहां षष्ठी के विकल्प से पक्ष में द्वितीया विभक्ति भी होती है ॥ १०८ ॥

द्वितीया ब्राह्मणे ॥ १०९ ॥ अ २ । ३ । ६० ॥

ब्राह्मण ग्रन्थों में व्यवहारार्थ दिवु धातु के कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति हो । गामस्य तदहः सभाया दीव्येयुः । यहां गौ शब्द कर्म्मवाची है उस में द्वितीया होती है ।

अनुपसर्ग दिवु धातु के कर्म्म कारक में नित्य षष्ठी विभक्ति प्राप्त है सो द्वितीया ही हो इसलिये यह सूत्र है ॥ १०९ ॥

प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासंप्रदाने॥११० । अ०२।३।६१ ॥

जो वह हविष् कर्म, देवता अर्थात् दिव्यगुण होने के लिये दिया जाता हो तो प्रपूर्वक दिवादिगण वाला इष धातु और ब्रू धातु इन के हविष् कर्म्म में ब्राह्मणग्रन्थ विषय में षष्ठी विभक्ति हो । जैसे-इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य । इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसोऽनुब्रूहि * । यहां हविष् कर्म है अन्य षष्ठ्यन्त पद उस के विशेषण हैं । यहां । छागं हविर्वपां मेदः प्रेष्य । ऐसा प्राप्त है सो इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति हो गई-यहां प्र पूर्वक इष और ब्रु धातु का ग्रहण इसलिये है कि । अग्नये छागं हविर्वपां मेदो जुहुधि । इत्यादि के कर्म में षष्ठी न हो । हविष्ग्रहण इसलिये है कि । अग्नये समिधः प्रेष्य । यहां समिध् कर्म में षष्ठी न हो । और देवतासंप्रदान ग्रहण इस लिये है कि । बालाय पुरोडाशं प्रेष्य । यहां देवता के न होने से षष्ठी न हुई ॥ ११० ॥

वा०-हविषोऽप्रस्थितस्येति वक्तव्यम् ॥ १११ ॥

सूत्र से जो हविष् कर्म में षष्ठी कही है सो प्रस्थित विशेषण हो तो न हो किन्तु द्वितीया ही हो (इन्द्राऽग्निभ्यां छागं हविर्वपां मेदः प्रस्थितं प्रेष्य) यहां प्रस्थित विशेषण के होने से षष्ठी न हुई ॥ १११ ॥

चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि ॥ ११२ ॥ अ० २ । ३ । ६२ ॥

पूर्वसूत्रों में ब्राह्मण शब्द से ऐतरेय आदि वेद व्याख्यानों का ग्रहण होता है और यहां छन्दः शब्द से वेदों का ग्रहण होता है इसलिये इस सूत्र में छन्द ग्रहण किया है । वेद विषय में चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी विभक्ति बहुल करके हो जैसे-दार्वाघाटस्ते बनस्पतीनाम् । यहां बनस्पतिभ्यः ऐसा प्राप्त था ॥ ११२ ॥

वा०-षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या ॥ ११३ ॥

षष्ठी के अर्थ में चतुर्थी विभक्ति कहना चाहिये । या खर्वेण पिबति । तस्यै खर्वो जायते । तस्याः खर्वो जायत इति प्राप्ते । इत्यादि । यहां तस्यै शब्द में षष्ठी के स्थान में चतुर्थी हुई है ॥ ११३ ॥

---

* अजा के अर्थ खाने पीने की वस्तु के योग से बिजुली और अग्नि को उपयुक्त कर और सुनकर उपदेश भी कर ।

यजेश्च करणे ॥ ११४ ॥ अ० २ । ३ । ६३ ॥

वेद विषयक यज धातु के करण कारक में बहुल करके षष्ठी विभक्ति हो। घृतस्य घृतेन वा यजते। यहां करण कारक में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी सो उस का अपवाद होने से घृत शब्द में तृतीया और षष्ठी दोनों होती हैं ॥ ११४ ॥

कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे ॥ ११५ ॥ अ० २ । ३ । ६४ ॥

कृत्वसुच् और इस के समानार्थ प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों के प्रयोग में जो कालवाची अधिकरण वाचक शब्द हो तो उस से अधिकरण कारक में षष्ठी विभक्ति हो यहां सप्तमी विभक्ति प्राप्त है उस का अपवाद यह सूत्र है। जैसे-दिवसस्य पंचकृत्वो भुङ्क्ते बालः। एक दिन में यह बालक पांच बार खाता है। दिवसस्य द्विरधीते। इत्यादि एक दिन भर में दो बार पढ़ता है, यहां कृत्वोऽर्थप्रयोग ग्रहण इस लिये है कि। दिनमधीते। अयसः पात्रे भुङ्क्ते। इत्यादि में षष्ठी न हो काल अधिकरण ग्रहण इसलिये है कि। काष्ठं द्विः करोति। इत्यादि में षष्ठी न हो ॥ ११५ ॥

कर्तृकर्मणोः कृति ॥ ११६ ॥ अ० ॥ २ । ३ । ६५ ॥

कृदन्त संबन्धी कर्त्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे-देवदत्तस्य प्रज्ञा। देवदत्तस्येज्या। पुरां भेत्ता। कूपस्य खनिता। कर्तृ कर्म ग्रहण इसलिये है कि (दात्रेण छेत्ता) इत्यादि में षष्ठी विभक्ति न हो। और कृत् ग्रहण इसलिये है कि। (कृतपूर्वी कटम्) इत्यादि तद्धित के प्रयोग में षष्ठी न हो ॥ ११६ ॥

उभयप्राप्तौ कर्मणि ॥ ११७ ॥ अ० २ । ३ । ६६ ॥

पूर्वसूत्र से कृत् युक्त कर्त्ता तथा कर्म में सर्वत्र षष्ठी प्राप्त है उस का नियम करने के लिये यह सूत्र है। जिस कृदन्त के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में एक साथ षष्ठी प्राप्त हो वहां कर्म में षष्ठी और कर्त्ता में तृतीया हो। जैसे-ओदनस्यपाको देवदत्तेन) यहाँ ओदन कर्म में षष्ठी और अनभिहित के होने से देवदत्त कर्त्ता में तृतीया हो गई ॥ ११७ ॥

वा०-अकाकारयोः स्त्रीप्रत्यययोः प्रयोगे प्रतिषेधो न*॥११८॥

* यह वार्तिक (उभयप्रा०) इसी सूत्र का अपवाद है क्योंकि कृद्योग में सामान्य कर के जो षष्ठी का विधान है उस को नियत विषय में दृढ़ करता है॥

जो (ण्वुल्) और (अ) ये स्त्री प्रत्यय जिन के अन्त में हों उन शब्दों के प्रयोग में कर्त्ता में भी षष्ठी विभक्ति अर्थात् दोनों में एक साथ हो जावे। जैसे-भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानाम्। चिकीर्षा विष्णुमित्रस्य कटस्य ॥ ११८ ॥

वा०—शेषे विभाषा + ॥ ११९ ॥

शेष कृदन्त स्त्री प्रत्यय के योग में कर्त्ता में विकल्प कर के षष्ठी विभक्ति हो। और कर्म में तो सूत्र ही से नित्य विधान है। जैसे- शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः। शोभाना खलु पाणिनिना सूत्रस्य कृतिः। इत्यादि ॥ ११९ ॥

क्तस्य च वर्त्तमाने ‡ ॥ १२० ॥ अ० २। ३। ६७ ॥

जो वर्त्तमान काल में क्त प्रत्ययान्त शब्द है उस के संवन्ध में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे-राज्ञां मतः। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां पूजितः। यह विद्वान् राजाओं का मान्य जाना और सत्कृत है यहां क्त ग्रहण इसलिये है कि। गुरुं भजमानः। यहां कर्म में षष्ठी न हो और वर्त्तमान ग्रहण इसलिये है कि (ग्रामं गतः) यहां भूतकाल के होने से षष्ठी न हो ॥ १२० ॥

वा०—क्तस्य च वर्त्तमाने नपुंसके भावउपसंख्यानम् * ॥ १२१ ॥

जो नपुंसक भाव में क्तप्रत्ययान्त है उस के कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे-छात्रस्य हसितम्। नटस्य भुक्तम्। मयूरस्य नृत्तम्। इत्यादि, विद्यार्थी का हसना। नटका भोजन। मोरका नाचना, देखो ॥ १२१ ॥

अधिकरणवाचिनश्च ॥ १२२ ॥ अ० २। ३। ६८ ॥

+ यह अप्राप्त विभाषा यों समझनी चाहिये कि शेष स्त्री प्रत्यय के योग में कर्तृवाची शब्द से किसी सूत्र कर के षष्ठी प्राप्त नहीं प्रत्युत (उभयप्रा०) इस से कर्म का नियम होने से कर्ता का निषेध तो है।

‡ क्त प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा होने से आगे (नलोका०) इस सूत्र कर के षष्ठी का निषेध प्राप्त है इसलिये यह सूत्र उस का पुरस्तात् अपवाद है।

* पूर्वसूत्र में वर्त्तमान के कहने से नपुंसक भाव में प्राप्ति नहीं इसलिये यह भी वार्तिक (नलोका०) इसी वक्ष्यमाण सूत्र का अपवाद समझना ठीक है।

अधिकरणवाची क्त प्रत्ययान्त के योग में कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति हो। जैसे-इदमेषामासितम्। इदमेषां यातम्। * ॥ १२२ ॥

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ॥ १२३ ॥ अ० २।३।६९ ॥

जो कृदन्त के योग में कर्म में षष्ठी प्राप्त है उसी विषय का यह सूत्र निषेध करता है इसलिये उसी का अपवाद है। (ल) (उ) (उक) (अव्यय) (निष्ठा) (खलर्थ) और तृन्। इन कृत् प्रत्ययान्त शब्दों के योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो (ल) अर्थात् जो लकार के स्थान में तिङ्। शतृ। शानच्। कानच्। क्वसु। कि। किन्। आदि आदेश होते हैं। जैसे-तिङ्। देवदत्त ओदनं पचति। देवदत्तेनौदनः पच्यते। ग्रामं गच्छति ग्रामो गम्यते। इत्यादि। (शतृ) ओदनं पचन्। शानच्। ओदनं पचमानः। कानच्। सूर्य्यमुभयतो ददृशानः (क्वसु) सोमं पपिवान्। कि। किन्। ददिर्गाः। इत्यादि। उ। कटं चिकीर्षुः। ग्रामं जिगमिषुः। विद्यां पिपठिषुः। इत्यादि। (उकञ्) सत्यं प्रतिपादुकः। अव्यय। ग्रामं गत्वा। ओदनं भुक्त्वा। निष्ठा। क्त और क्तवतु प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। देवदत्तेन कृतं पयः। कटं कृतवान्। खलर्थ। ईषद्भोज ओदनो भवता। ईषत्पानं पयो भवता। तृन् प्रत्याहार से शानन्। चानश्। शतृ। तृन्। इन चार प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है। शानन्। सोमं पवमानः। चानश्। पतङ्गाग्निघ्नानः। (शतृ) विद्यां धारयन्। लविता यवान्। पठिता वेदान्। इत्यादि ॥ १२३ ॥

वा०—उकप्रतिषेधे कमेर्भाषायामप्रतिषेधः ॥ १२४ ॥

वेद से अन्य आर्ष वेदानुकूल ग्रन्थों को भाषा कहते हैं जो उक प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध किया है वहां उक प्रत्ययान्त भाषा विषयक कम धातु के प्रयोग में निषेध न हो किन्तु षष्ठी विभक्ति हो जावे। जैसे-दास्याः कामुकः। वृषल्याः कामुकः। दासी और वृषली वेश्या से भोग की इच्छा वाला इत्यादि ॥ १२४ ॥

वा०—अव्ययप्रतिषेधे तोसुन्कसुनोरप्रतिषेधः † ॥ १२५ ॥

---

* (आसितम्) बैठने का स्थान और (यातम्) चलने का मार्ग है (एषां) यह कर्त्ता में षष्ठी है और यह सूत्र भी (नलोका०) इसी अगले सूत्र का अपवाद है॥

† ये दोनों वार्त्तिक इसी सूत्र के विषय में निषेध का निषेध करके षष्ठी के विधायक हैं इसलिये (नलोका०) इस के अपवाद हैं।

जो अव्यय के योग में षष्ठी का निषेध किया है। वहां तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी का निषेध न हो, जैसे-तोसुन्। पुरा सूर्य्यस्योदेतोराधेयः। कसुन्। पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्। इत्यादि ॥ १२५ ॥

वा०-द्विषः शतुर्वावचनम्* ॥ १२६ ॥

द्विष धातु से शतृ प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति विकल्प करके हो। जैसे-चोरस्य द्विषन्। चोरं द्विषन्। तृन् प्रत्याहार में शतृ प्रत्यय के होने से निषेध प्राप्त था। उसका विकल्प करने के लिये यह तीसरा वार्त्तिक है ॥ १२६ ॥

अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः ॥ १२७ ॥ अ० २।३।७०॥

अक और इन् प्रत्ययान्त शब्द के कर्म में षष्ठी विभक्ति न हो ॥ १२७ ॥

वा०-अकस्य भविष्यतीनआधमर्ण्ये च † ॥ १२८ ॥

अकन्त के योग में भविष्यत् काल और इन के योग में आधमर्ण्य तथा भविष्यत् काल अर्थ लगते हैं। जैसे-यवान् लावको व्रजति। यहां अक के योग में केवल भविष्यत् ही है और। ग्रामं गमी। यहां इन्नन्त के योग में भविष्यत्काल में और (शतं दायी) (सहस्रं दायी) यहां आधमर्ण्य है। इत्यादि। यहां भविष्यत् और आधमर्ण्य में निषेध इसलिये है कि। (यवानां लावकः) यहां षष्ठी का निषेध न हो किन्तु षष्ठी हो जावे ॥ १२८ ॥

कृत्यानां कर्त्तरि वा ॥ १२९ ॥ अ० २।३।७१ ॥

कृत्य प्रत्ययान्त के कर्त्ता में विकल्प करके षष्ठी और पक्ष में तृतीया होवे। जैसे-ब्राह्मणेन ब्राह्मणस्य वा पठितव्यम्। देवदत्तेन देवदत्तस्य वा आसितव्यम्। इत्यादि। यहां कर्त्तरि ग्रहण इसलिये है कि (वक्तव्यः श्लोकः) यहां कर्म में षष्ठी न हो। इस सूत्र में महाभाष्यकारने योग विभाग करके दो अर्थ किये हैं। एक

* इस वार्तिक में अप्राप्त विभाषा इसलिये है कि (नलोका०) इससे सर्वथा षष्ठी का निषेध हो चुका है उस को यह विकल्प से विधान किया है।

† यह भी वार्तिक (कर्तृकर्म०) इसी का अपवाद है। क्योंकि कर्म में षष्ठी इसी से प्राप्त है।

उभयप्राप्त कृत्य प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी न हो। जैसे-ग्राममाकृष्टव्या शाखा देवदत्तेन। इत्यादि। दूसरा कृत्य प्रत्यय के योग में कर्त्ता में षष्ठी विकल्प करके हो। इसके उदाहरण सूत्र की व्याख्या में लिख चुके हैं ॥ १२६ ॥

तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् ॥ १३० ॥ अ० २ । ३ । ७२ ॥

पूर्वसूत्र में विकल्प ग्रहण था फिर दूसरी बार करने का प्रयोजन यह है कि यहां कर्त्ता की अनुवृत्ति न आवे। तुल्य और इस के पर्य्यायवाची शब्दों के योग में कर्म में विकल्प करके तृतीया और पक्ष में षष्ठी विभक्ति हो। तुला और उपमा शब्द को छोड़ के जैसे-तुल्यः सदृशो वा देवदत्तेन देवदत्तस्य वा विष्णुमित्रः। इत्यादि। यहां तुला और उपमा शब्द का निषेध इसलिये है कि (तुलोपमा वा परमात्मनो नास्ति) यहां परमात्मा शब्द से तृतीया न हुई शेष के होने से षष्ठी हो गई ॥ १३० ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ॥ १३१ ॥ अ० २ । ३ । ७३ ॥

जो आशीर्वचन अर्थ में वर्त्तमान आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित हैं इन शब्दों के योग में विकल्प करके चतुर्थी और पक्ष में षष्ठी विभक्ति होवे। जैसे-आयुष्यं शिष्याय शिष्यस्य वा। मद्र। मद्रं बालाय बालस्य वा। भद्र। भद्रं पुत्राय पुत्रस्य वा। कुशल। कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । सुख। सुखं पण्डिताय पण्डितस्य वा। अर्थ। अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा। हित। हितं माणवकाय माणवकस्य वा। इत्यादि। यहां आशीर्वचन ग्रहण इसलिये है कि। आयुष्यमस्य ब्रह्मचर्य्यम् । इत्यादि में चतुर्थी विभक्ति न हो ॥ १३१ ॥

यह शेष कारक पूरा हुआ ॥

(कारक ७ सातवां)

आधारोऽधिकरणम् ॥ १३२ ॥ अ० १ । ४ । ४५ ॥

जिस में पदार्थ धरे जाते हैं वह आधार कहाता है। सो एक की अपेक्षा में दूसरा आधार बनता जाता है। परिपूर्ण परमेश्वर में पहुंच के समाप्ति हो जाती है जो आधार कारक है वह अधिकरण संज्ञक हो। इसका फल ॥ १३२ ॥

सप्तम्यधिकरणे च ॥ १३३ ॥ अ० २ । ३ । ३६ ॥

अधिकरण तीन प्रकार का होता है । इसको प्रमाण सहित पूर्व लिख चुके हैं । अधिकरण में और चकार से दूरवाची तथा समीपवाची शब्दों से भी सप्तमी विभक्ति होवे। जैसे–व्यापक । दध्नि घृतम् । तिलेषु तैलम् * । इत्यादि । औपश्लेषिक। कटे शेते। खट्वायां शेते। पीठ आस्ते†। इत्यादि । वैषयिक। खे शकुनयः। श्रोत्रे शब्दो विबध्यते ‡। इत्यादि। आकाश के विषय यहां ख शब्द में सप्तमी विभक्ति हुई है । अब आगे वार्त्तिक लिखेंगे ॥ १३३॥

वा०–सप्तमीविधाने क्तस्येन्विषयस्य कर्म्मण्युपसंख्यानम् ॥ १३४ ॥

क्त प्रत्ययान्त शब्द से जहां इन् प्रत्यय होता है वहां कर्म कारक में सप्तमी विभक्ति हो । जैसे–अस्रावधीती व्याकरणे § । परिगणिती याज्ञिके । इत्यादि ॥ १३४ ॥

वा०–साध्वसाधुप्रयोगे च ¶ ॥ १३५ ॥

साधु और असाधु शब्द के प्रयोग में भी सप्तमी विभक्ति हो । जैसे–साधुर्देवदत्तो मातरि । असाधव आर्येषु दस्यवः इत्यादि ॥ १३५ ॥

---

* दही और तिलों के सब अवयवों में घी और तेल व्याप्त रहता है इस कारण इस को व्यापक कहते हैं ।

† चटाई खटिया और आसन पर बैठने वाले का उससे अति निकट सम्बन्ध होता है इसलिये इस अधिकरण को औपश्लेषिक कहते हैं ।

‡ पक्षियों के उड़ने का विषय आकाश और कान का विषय शब्द है इस कारण यह वैषयिक अधिकरण कहाता है ।

§ यहां अधीत शब्द क्त प्रत्ययान्त इन् विषयक है उस के कर्म व्याकरण शब्द में सप्तमी होती है ।

¶ यहां से जो वार्त्तिक हैं वे किसी के अपवाद नहीं किन्तु अपूर्व विधायक हैं । क्योंकि वहां किसी सूत्र वा वार्त्तिक से सप्तमी प्राप्त नहीं है ।

वा०—कारकार्हाणां च कारकत्वे ॥ १३६ ॥

जहां कारक अपने कृत्य को ठीक २ प्राप्त हों वहां उनसे सप्तमी विभक्ति हो। जैसे— ऋद्धेषु भुञ्जानेषु दरिद्रा आसते। इत्यादि। संपन्न पुरुष अच्छे २ पदार्थ भोगते और दरिद्र बैठे देखते हैं ॥ १३६ ॥

वा०—अकारकार्हाणां चाकारकत्वे ॥ १३७ ॥

जहां अयोग्य कारक अपनी अयोग्यता को ठीक २ प्राप्त हों वहां सप्तमी विभक्ति हो। मूर्खेष्वासीनेषु ऋद्धा भुञ्जते। वृषलेष्वासीनेषु ब्राह्मणास्तरन्ति। इत्यादि यहां मूर्ख और वृषल अपनी अयोग्यता को प्राप्त होते हैं उन्ही में सप्तमी हुई ॥ १३७ ॥

वा०—तद्विपर्य्यासे च ॥ १३८ ॥

और जहां इन कर्मों के बदल ने में अर्थात् अच्छों को बुरों की योग्यता और बुरों को अच्छों की योग्यता हो वहां पूर्व प्रयुक्त शब्दों में सप्तमी हो। जैसे-ऋद्धेष्वासीनेषु मूर्खा भुञ्जते। ब्राह्मणेष्वासीनेषु वृषलास्तरन्ति। इत्यादि ॥ १३८ ॥

वा०—निमित्तात्कर्मसंयोगे ॥ १३९ ॥

कर्म संयोग में जिस निमित्त के लिये वह कर्म किया जाता है उन निमित्तवाची शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥ (चर्मणि०) चर्म के लिये गैंडे को मारता है (दन्त०) दांतों के लिये हाथी को मारता है (केशेषु०) केशों के लिये चमरी अर्थात् जङ्गली सुरा गौ को मारता है और (सीम्नि पुष्कलको०) कस्तूरी की चाहना करके कस्तूरिया मृग को मारता है इस कारण चर्म आदि शब्दों से सप्तमी विभक्ति हो जाती है * ॥ १३९ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् ॥ १४० ॥ अ० २ । ३ । ३७ ॥

जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय उस में सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—

---

* गैंडे आदि को मारे विना चाम आदि की प्राप्ति नहीं हो सकती फिर ढाल आदि वस्तु कैसे बनें इस कारण चाम आदि उन के मारने में निमित्त हैं।

(गोषु दुह्यमानासु गतो दुग्धास्वागतः *) यहां भावेन ग्रहण इसलिये है कि (यो जटिलः स भुङ्क्ते) इत्यादि में सप्तमी न हो ॥ १४० ॥

षष्ठी चानादरे ॥ १४१ ॥ अ० २ । ३ । ३८ ॥

अनादर अर्थ में जिस क्रिया से क्रिया का लक्षण किया जाय वहां षष्ठी विभक्ति और चकार से सप्तमी भी हो । जैसे-आहूयमानस्याहूयमाने वा गतः आहूयमान अर्थात् बुलाते हुए का तिरस्कार करके चला गया यहां आहूयमान शब्द में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हुई हैं ॥ १४१ ॥

स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च† ॥ १४२ ॥ अ० २ । ३ । ३९ ॥

स्वामिन् ईश्वर अधिपति दायाद साक्षिन् प्रतिभू और प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । जैसे-स्वामिन् । गवां स्वामी गोषु स्वामी । ईश्वर । पृथिव्या ईश्वरः । पृथिव्यामीश्वरः । अधिपति । ग्रामस्याधिपतिः । ग्रामेऽधिपतिः । दायाद । क्षेत्रस्य क्षेत्रे वा दायदः । साक्षिन् । देवदत्तस्य देवदत्ते वा साक्षी । प्रतिभूः । धनस्य धने वा प्रतिभूः । प्रसूत । गवां प्रसूतः । गोषु प्रसूतः । इस सूत्र में स्वामिन् आदि शब्दों के योग में शेष कारक के होने से सर्वत्र षष्ठी प्राप्त थी सो सप्तमी भी हो जावे इसलिये यह सूत्र है ॥ १४२ ॥

आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् ॥ १४३ ॥ अ० २ । ३ । ४० ॥

जो आसेवा अर्थ में वर्त्तमान आयुक्त और कुशल शब्द हैं उनके योग में षष्ठी और सप्तमी विभक्ति हों । जैसे-आयुक्तः पठनस्य पठने वा । कुशलो लेखनस्य लेखने वा । यहां आसेवा ग्रहण इसलिये है कि । आयुक्तो वृषभः शकटे इत्यादि में षष्ठी न हो अधिकरण में सप्तमी तो प्राप्त ही थी षष्ठी होने के लिये यह सूत्र है ॥ १४३ ॥

---

* यहां दोहनरूप क्रिया से गमन क्रिया का लक्षण किया जाता है इस से दोहन क्रिया में सप्तमी हुई ।

† यह चकार षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का आकर्षण होने के लिये है ।

यतश्च निर्द्धारणम् ॥ १४४ ॥ अ० २ । ३ । ४१ ॥

जो समुदायवाची जाति आदि शब्दों से एक का पृथक् करना है उसको निर्द्धारण कहते हैं जिससे निर्द्धारण अर्थात् किसी को पृथक् किया जावे उस से षष्ठी सप्तमी विभक्ति हों। जैसे—ब्राह्मणानां ब्राह्मणेषु वा देवदत्तः श्रेष्ठतमः। इससे यहां ब्राह्मण शब्द में षष्ठी सप्तमी हो गई ॥ १४४ ॥

पञ्चमी विभक्ते ॥ १४५ ॥ अ० २ । ३ । ४२ ॥

पूर्व सूत्र से निर्द्धारण अर्थ में षष्ठी सप्तमी विभक्ति प्राप्त है। उसका अपवाद यह सूत्र है। निर्द्धारण में जिसका विभाग किया जाय उसमें पंचमी विभक्ति हो। जैसे-पाटलिपुत्रेभ्यः सांकाश्या आढ्यतराः। इत्यादि जो पूर्वसूत्र से निर्द्धारण होता है वह समुदाय से एक ही का पृथक् भाव समझना और इस सूत्र से एक ही से दूसरे का विभाग होता है ॥ १४५ ॥

साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः ॥ १४६ ॥ अ० २।३।४३ ॥

जो पूजा अर्थात् सत्कारपूर्वक सेवा करने अर्थ में वर्त्तमान साधु और निपुण शब्द हों तो इन के प्रयोग में सप्तमी विभक्ति होवे परन्तु प्रति के योग में इस अर्थ में भी न हो। जैसे-मातरि साधुः। पितरि साधुः। मातरि निपुणः। पितरि निपुणः। इत्यादि। यहां अर्चा ग्रहण इसलिये है कि। साधुर्देवदत्तस्य पुत्रः। इत्यादि में न हो जाय। प्रति का निषेध इसलिये है कि। साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति। यहां प्रति के योग में सप्तमी न हो ॥ १४६ ॥

वा०—अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ॥ १४७ ॥

जो प्रति के योग में सप्तमी का निषेध किया है सो प्रति आदि अन्य शब्दों के योग में भी समझा जावे। जैसे-साधुर्देवदत्तो मातरं परि। मातरमनु। इत्यादि के योग में भी सप्तमी विभक्ति न हो ॥ १४७ ॥

प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च ॥ १४८ ॥ अ० २। ३। ४४ ॥

जो अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति प्राप्त है उस का अपवाद यह सूत्र है। प्रसित और उत्सुक शब्दों के योग में तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों। जैसे-केशैः केशेषु वा

प्रसितः । मात्रा मातरि वा प्रसितः । सत्येन सत्ये वा प्रसितः । प्रसित कहते हैं जो उस में अतिप्रसक्त हो । गानेन गाने वोत्सुकः । उत्सुक कहते हैं जो किसी को मिलने की इच्छा कर रहा हो ॥ १४८ ॥

नक्षत्रे च लुपि ॥ १४९ ॥ अ० २ । ३ । ४५ ॥

यहां उस नक्षत्रवाची शब्द का ग्रहण है कि जहां काल अर्थ में प्रत्यय का लुप् हो जाता है । लुबन्त नक्षत्र से तृतीया और सप्तमी विभक्ति हों । जैसे-पुष्येण पुष्ये वा कार्यमारभेत । इत्यादि पुष्य नक्षत्र जिस दिन हो उस दिन कार्य्य का आरम्भ करे ॥ १४९ ॥ अब जो अधिकरण संज्ञा के विशेष वार्त्तिक सूत्र हैं सो लिखते हैं ॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म ॥ १५० ॥ अ० १ । ४ । ४६ ॥

अधिकरण संज्ञा का अपवाद यह सूत्र है जो अधिपूर्वक शीङ् स्था और आस धातु का आधार कारक है वह कर्म संज्ञक हो । कर्म्मकारक में द्वितीया कह चुके हैं । जैसे-खट्वामधिशेते । भूमिमधिशेते । खाट और भूमि में सोते हैं जैसे-सभामधितिष्ठति । सभामध्यास्ते । सभा में बैठा है यहां अधि उपसर्ग का ग्रहण इसलिये है कि । खट्वायां शेते । सभायामास्ते । इत्यादि में न हो ॥ १५० ॥

अभिनिविशश्च ॥ १५१ ॥ अ० १ । ४ । ४७ ॥

यहां मण्डूकप्लुत गति मान के (परिक्रयणे०) इस सूत्र से विकल्प की अनुवृत्ति आती है जो अभि और नि पूर्वक विश धातु का आधार कारक है वह विकल्प करके कर्म संज्ञक हो पक्ष में अधिकरण संज्ञा हो जावे यह कर्मप्रवचनीय गति और उपसर्ग संज्ञा का अपवाद है । नह्यपवादविषयमुत्सर्गोऽभिनिविशते । नह्यपवादविषय उत्सर्गोऽभिनिविशते । यहां अपवाद विषय शब्द से कर्म संज्ञा पक्ष में द्वितीया और अधिकरण संज्ञा पक्ष में सप्तमी विभक्ति हो जाती है । तथा सन्मार्गमभिनिविशते । सन्मार्गेऽभिनिविशते । इत्यादि ॥ १५१ ॥

उपान्वध्याङ्वसः ॥ १५२ ॥ अ० १ । ४ । ४८ ॥

यह सूत्र भी अधिकरण संज्ञा का अपवाद है । जो उप, अनु, अधि और आङ्, उपसर्ग पूर्वक वस धातु का आधार कारक है वह कर्म संज्ञक हो । (पर्वतमुपव-

सत्यनुवसत्यधिवसत्यावसति वा) (ग्राममुपवसत्यनुवसत्यधिवसत्यावसति वा) इत्यादि पर्वत और ग्राम के समीप वा उन के बीच में वास करता है ॥ १५२ ॥

यह अधिकरण कारक का प्रकरण और ये सातों कारक पूरे हुए। अब इस के आगे कर्मप्रवचनीय का प्रकरण लिखेंगे, क्योंकि यह भी कारक से ही सम्बन्ध रखता है ॥

कर्मप्रवचनीयाः ॥ १५३ ॥ अ० १ । ४ । ८३ ॥

यहां से आगे कर्मप्रवचनीय का अधिकार है । संज्ञा करने का प्रयोजन यही है कि थोड़े अक्षरों के कहने से बहुत अर्थ समझा जावे। जैसे-हाथी पर्वत सूर्य्य चन्द्र पृथिवी आदि के कहने से बड़े २ अर्थ समझे जाते हैं। (प्रश्न) कर्मप्रवचनीय इतनी बड़ी संज्ञा क्यों की। (उत्तर) भा० अन्वर्था संज्ञा यथा विज्ञायते कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः। जिस से यौगिक संज्ञा समझी जावे। जो शब्द क्रिया को कह चुका हो उस को कर्मप्रवचनीय कहते हैं ॥ १५३ ॥

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ॥ १५४ ॥ अ० २ । ३ । ८ ॥

जहां २ कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति कहैं वहां २ इसी सूत्र से होवे। जैसे-शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्। इत्यादि। यहां संहिता शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ १५४ ॥

अनुर्लक्षणे ॥ १५५ ॥ अ० १ । ४ । ८४ ॥

इस सूत्र में लक्षण शब्द हेतु का वाची है। उस हेतु अर्थ में तृतीया विभक्ति प्राप्त थी उसका अपवाद होने के लिये इस सूत्र का आरम्भ है। नहीं तो (लक्षणेत्थं०) इस आगे के सूत्र से कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी। जो लक्षण अर्थ में वर्त्तमान अनु शब्द हो तो वह कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। जैसे-शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् । इत्यादि। यहां संहिता शब्द में द्वितीया हुई है ॥ १५५ ॥

तृतीयार्थे ॥ १५६ ॥ अ० १ । ४ । ८५ ॥

जो तृतीया विभक्ति के अर्थ में वर्त्तमान अनु शब्द है उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो जैसे-नदीमनुगच्छन्ति तृणानि। नदी के जल के साथ तृण चलते हैं, इत्यादि यहां भी नदी शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई ॥ १५६ ॥

हीने ॥ १५७ ॥ अ० १ । ४ । ८६ ॥

इस सूत्र में हीन शब्द छोटे का वाची है। सो एक की अपेक्षा में एक छोटा और बड़ा होता ही है जो हीन अर्थ में वर्त्तमान अनु हो तो उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। जैसे—अनु यास्कं नैरुक्ताः। अनु गोतमं नैयायिकाः। अनु शाकटायनं वैयाकरणाः। यहां यास्क आदि शब्दों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उन शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है ॥ १५७ ॥

उपोऽधिके च ॥ १५८ ॥ अ० १ । ४ । ८७ ॥

जो अधिक और चकार से हीन अर्थ में भी वर्त्तमान उप शब्द हो तो उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो, इस का फल ॥ १५८ ॥

यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी ॥ १५९ ॥ अ० २ । ३ । ९ ॥

द्वितीया विभक्ति का अपवाद यह सूत्र है। जिससे अधिक और जिस का ईश्वर वचन अर्थात् बहुतों के बीच में अधिक सामर्थ्य कहना हो वहां कर्मप्रवचनीय शब्दों के योग में सप्तमी विभक्ति हो। जैसे—प्रजायामुपराजः *। अधिक ग्रहण इसलिये है कि—उपशाकटायनं वैयाकरणाः †। यहां न हो। इत्यादि ॥ १५९ ॥

अपपरी वर्जने ॥ १६० ॥ अ० १ । ४ । ८८ ॥

वर्जन कहते हैं निषेध को जो वर्जन अर्थ में वर्त्तमान अप और परिशब्द हैं वे कर्मप्रवचनीय संज्ञक हों ॥ १६० ॥

आङ् मर्य्यादावचने ॥ १६१ ॥ अ० १ । ४ । ८९ ॥

मर्य्यादा उस को कहते हैं कि यहांतक यह वस्तु है उस का कहना मर्य्यादा वचन कहाता है, जो मर्य्यादा वचन अर्थ में वर्त्तमान आङ् शब्द है उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो—इन दोनों का फल ॥ १६१ ॥

---

* यहां प्रजा के बीच राजा का अधिक सामर्थ्य है इसलिये उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होकर उस के योग में प्रजा शब्द से सप्तमी विभक्ति हुई है।

† शाकटायन से अन्य वैयाकरण न्यून हैं। यहां अधिक अर्थ के न होने से द्वितीया ही होती है।

पञ्चम्यपाङ्परिभिः ॥ १६२ ॥ अ० २ । ३ । १० ॥

कर्मप्रवचनीय संज्ञक अप, आङ् और परि शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे अप–ग्रामाद्वृष्टो मेघः। परि–ग्रामाद्वा । ग्राम को छोड़ के मेघ वर्षा अर्थात् ग्रामपर नहीं वर्षा । मर्य्यादावचन में आङ्–आसमुद्रादार्य्यावर्त्तः । समुद्रपर्य्यन्त आर्य्यावर्त्त की अवधि है। यहां वर्जन ग्रहण इसलिये है कि–पण्डितमप वदति। मर्य्यादा ग्रहण इसलिये है कि–आगच्छन्ति वैयाकरणाः। यहां मर्य्यादा अर्थ के न होने से कर्मप्रवचनीय संज्ञा न हुई। तथा वचन ग्रहण इसलिये है कि अभिविधि अर्थ में भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होवे (आकुमारमाकुमारेभ्यो यशः पाणिनेः) यहां अभिविधि अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो के दो प्रयोग बनते हैं कारण यह है कि कर्मप्रवचनीय संज्ञक आकार का पञ्चमी विभक्ति के साथ विकल्प करके अव्ययीभाव * समास होता है जिस पक्ष में समास होजाता है वहां पञ्चमी विभक्ति के स्थान में † अम् आदेश होता है और जहां अव्ययीभाव समास नहीं होता वहां पञ्चमी विभक्ति बनी रहती है ॥ १६२ ॥

लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः ॥ १६३ ॥ अ० १ । ४ । ९० ॥

जिससे अर्थ जाना जाय वह लक्षण उस को इस प्रकार का कहना इत्थंभूताख्यान भाग–अंश वीप्सा–व्याप्ति इन अर्थों के जनाने वाले जो प्रति, परि और अनु शब्द हैं वे कर्मप्रवचनीय संज्ञक हों। जैसे लक्षण–वृक्षं प्रति वृक्षं परि वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्। वृक्ष के सामने ऊपर और पश्चात् बिजुली चमकती है । इत्थंभूताख्यान–परमात्मानं धर्मं च प्रति । परमात्मानं परि। परमात्मानमनु साधुरयं मनुष्यो वर्त्तते। सत्यप्रेम भक्ति से युक्त हो के यह मनुष्य परमात्मा और धर्म का उपासक है। भाग–यदत्र मां प्रति स्यात्। मां परि स्यात्। मामनु स्यात्। यहां जो कुछ मेरा भाग हो वह मुझको भी मिले, इत्यादि। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के दो प्रयोजन हैं एक तो द्वितीया का होना दूसरा षत्व का निषेध। जैसे वीप्सा–वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति। परि सिञ्चति। अनु सिञ्चति। (प्रश्न) परि शब्द के योग में पञ्चमी विभक्ति प्राप्त है सो क्यों नहीं होती। (उत्तर) जहां पञ्चमी का

* (अव्ययीभाव समास–विकल्प) आङ्मर्य्यादाऽभिविध्योः ॥ अ० २ । १ । १३ ॥

† (पञ्चमी के स्थान में–अम्) नाऽव्ययीभावादतोम्त्वपञ्चम्याः ॥ अ० २ । ४ । ८३ ॥

विधान है वहां जो वर्जन अर्थ वाले अप और परि एकत्र पढ़े हैं उन्हीं का ग्रहण होता है अन्य का नहीं ॥ १६३ ॥

अभिरभागे ॥ १६४ ॥ अ० १ । ४ । ९१ ॥

जो भाग को छोड़ के पूर्वसूत्र में कहे हुए अन्य लक्षण आदि तीन अर्थों में वर्त्तमान अभि शब्द हो तो वह कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो । लक्षण-वृक्षमभि विद्योतते । इत्थंभूताख्यान-साधुर्बालो मातरमभि । वीप्सा-वृक्षं वृक्षमभिसिञ्चति । इत्यादि । यहां अभाग ग्रहण इसलिये है कि-यदत्रास्माकमभिष्यात् । इत्यादि । यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के न होने से षत्व हो जाता है ॥ १६४ ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः ॥ १६५ ॥ अ० १ । ४ । ९२ ॥

प्रतिनिधि कहते हैं किसी की अनुपस्थिति में दूसरे तुल्य स्वभाव गुण कर्म वा आकृति वाले का स्थापन करना और प्रतिदान अर्थात् एक वस्तु के बदले में दूसरी वस्तु देना है जो इन दो अर्थों में वर्त्तमान प्रति शब्द हो तो उस की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो, इसका फल ॥ १६५ ॥

प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् ॥ १६६ ॥ अ० २ । ३ । ११ ॥

जिस से प्रतिनिधि और प्रतिदान हों वहां कर्मप्रवचनीय के योग में पंचमी विभक्ति हो । जैसे-अभिमन्युरर्जुनात्प्रति । अभिमन्यु को अर्जुन के स्थान में रक्खा यही प्रतिनिधि कहाता है । प्रतिदान-तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् । तिलों के बदले उड़द देता है । यह प्रतिदान कहाता है । यहां इन दोनों अर्थ का ग्रहण इसलिये है कि-शास्त्राणि प्रत्येति । इत्यादि में प्रति शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा न हो ॥ १६६ ॥

अधिपरी अनर्थकौ ॥ १६७ ॥ अ० १ । ४ । ९३ ॥

धातु का जो अर्थ है उस से पृथक् अर्थ के कहने वाले न हों ऐसे जो अधि और परि शब्द हैं उन की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो (कुतोऽध्यागमयते) (कुतः पर्यागमयते) यहां पञ्चमी विभक्ति तो अपादान संज्ञा के होने से सिद्ध ही है । फिर कर्मप्रवचनीय संज्ञा करने का प्रयोजन यह है कि गति और उपसर्ग संज्ञा न हों यहां अनर्थक ग्रहण इसलिये है कि-संज्ञामधिकुरुते । इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा न हो के द्वितीया विभक्ति हो ॥ १६७ ॥

सुः पूजायाम् ॥ १६८ ॥ अ० १ । ४ । ९४ ॥

जो पूजा अर्थात् सत्कार अर्थ में वर्त्तमान सु शब्द है उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो। जैसे-सुस्तुतम् । सुस्मृतम् । अच्छी स्तुति और स्मरण आप ने किया यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्गकार्य्य षत्व नहीं हुआ । पूजा ग्रहण इसलिये है कि-सुषिक्तं किं त्वया । क्या तूने अच्छा सींचा, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती ॥ १६८ ॥

अतिरतिक्रमणे च ॥ १६९ ॥ अ० १ । ४ । ९५ ॥

जो अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन (च) और पूजा अर्थ में वर्त्तमान अति शब्द हो तो वह कर्म्मप्रवचनीय संज्ञक होवे । जैसे अतिक्रमण-अतिसिक्तमेव भवता। ठीक २ नहीं सींचा किन्तु कीच कर दी । पूजा-अतिसिक्तो गुरुस्त्वया । तू ने गुरु की अति सेवा की । यह पूजा कहाती है । इसका फल यह है कि षत्व का निषेध हो जाता है यहां इन दो अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि-सुष्टुतं मया । कोई अभिमान करता है कि मैंने बड़ी अच्छी स्तुति की, इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा के न होने से षत्व का निषेध न हुआ ॥ १६९ ॥

अपिःपदार्थसंभावनान्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु ॥ १७० ॥ अ० १ । ४ । ९६ ॥

जो पदार्थ, संभावना, अन्ववसर्ग, गर्हा और समुच्चय इन पांच अर्थों में वर्त्तमान पद उसके योग में अपि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो । जैसे-सर्पिषोऽपि स्यात् । कुछ घृत भी होना चाहिये । (सम्भावना-सम्भवहोना-अपिसिंचेद्वृक्षशतम् । सम्भव है कि यह मनुष्य सौ वृक्ष तक सींच सके। अन्ववसर्ग आज्ञा करना-अपिसिंच। तू सींच। गर्हा निन्दाकरना-धिक् ते जन्म यत्पाषाणमपिस्तौषि । तेरे मनुष्यजन्म को धिक्कार है, जो तू पत्थरों की भी स्तुति करता है। समुच्चय क्रियाओं का इकट्ठा होना-अपिसेवस्व । अपिस्तुहि । सेवन भी कर स्तुति भी कर। इन सब अर्थों में अपि शब्द की उपसर्ग संज्ञा न होने के लिये कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है कि जिससे उक्त प्रयोगों में मूर्द्धन्य षकार न हो जावे यहां पदार्थादि अर्थों का ग्रहण इसलिये है कि (अपिकृत्य) इत्यादि में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होके ल्यप् का निषेध न हो ॥ १७० ॥

अधिरीश्वरे ॥ १७१ ॥ अ० १ । ४ । ९७ ॥

इस सूत्र में ईश्वर शब्द से समर्थ मनुष्य का ग्रहण समझना चाहिये जो ईश्वर अर्थ में वर्त्तमान अधि शब्द है उसकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो (अधिग्रामे क्षत्रियः) यह क्षत्रिय ग्राम में समर्थ अर्थात् उसका अधिष्ठाता है। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के होने से * सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यहां ईश्वर ग्रहण इसलिये है कि-खट्वामधिशेते। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा के नहीं होने से द्वितीया विभक्ति हुई है ॥ १७१ ॥

विभाषा कृञि ॥ १७२ ॥ अ० १ । ४ । ९८ ॥

जो कृञ् धातु के प्रयोग में युक्त अधि शब्द हो तो वह विकल्प करके कर्मप्रवचनीय संज्ञक हो। (अधिकृत्वा) (अधिकृत्य) यहां जिस पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है वहां † समास के न होने से क्त्वा के स्थान में ल्यप् नहीं होता। और जिस पक्ष में कर्मप्रवचनीय संज्ञा नहीं होती उसमें समास हो के क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होजाता है इसके अन्य भी बहुत प्रयोजन हैं ॥ १७२ ॥

इति श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीव्याख्याकृतोऽष्टाध्याय्यां कारकीयोऽयं ग्रन्थः समाप्तः ॥

वसुरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे नभस्यस्यासिते दले।
अष्टम्यां बुधवारेऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिं गतः शुभः ॥ १ ॥

संवत् १९३८ भाद्र वदी बुधवार के दिन यह कारकीय ग्रन्थ श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने पूरा किया ॥ १ ॥

---

* (सप्तमी विभक्ति) यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी। यह सूत्र पूर्व लिख आये हैं।

† जहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है वहां गति संज्ञा नहीं होने पाती उसके न होने से (गतिश्च) इससे समास भी नहीं होता समास के न होने से (समासेऽनञ् पूर्वेक्त्वो ल्यप्) इससे ल्यप् भी नहीं होता।

विज्ञापन ॥

पहिले कमीशन में पुस्तकें मिलती थीं अब नक़द रुपया मिलेगा ।
डाकमहसूल सबका मूल्य से अलग देना होगा ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
ऋग्वेदभाष्य (९ भाग)	२०)
यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण	१०)
ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	१)
,, केवल संस्कृत	॥।)
वेदाङ्गप्रकाश १४ भाग	४।≡)॥।
अष्टाध्यायी मूल	≡)॥
पंचमहायज्ञविधि	-)॥
,, बढ़िया	=)
निरुक्त	॥=)
शतपथ (१ काण्ड)	।)
संस्कृतवाक्यप्रबोध	=)
व्यवहारभानु	=)
भ्रमोच्छेदन	)॥।
अनुभ्रमोच्छेदन	)॥।
सत्यधर्मविचार(मेलाचांदापुर)नागरी	-)
,, ,, (उर्दू)	-)
आर्य्योद्देश्यरत्नमाला (नागरी)	)।
,, (मरहठी)	-)
,, (अंग्रेज़ी)	)॥।
गोकरुणानिधि	-)
स्वामीनारायणमतखण्डन	-)॥
हवनमंत्र	)।
आर्याभिविनय बड़े अक्षरों का	।=)
आर्याभिविनय गुटका	=)

विक्रयार्थ पुस्तकें	मूल्य
सत्यार्थप्रकाश नागरी	१)
सत्यार्थप्रकाश (बंगला)	१)
संस्कारविधि	॥)
विवाहपद्धति	।)
शास्त्रार्थ फ़ीरोज़ाबाद	-)॥।
आ० स० के नियमोपनियम	)।
वेदविरुद्धमतखण्डन	=)
वेदान्तिध्वान्तनिवारण (नागरी)	)॥।
,, (अंग्रेज़ी)	-)
भ्रान्तिनिवारण	-)
शास्त्रार्थकाशी	)॥।
स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश (नागरी)	)॥
तथा (अंग्रेज़ी)	)।
मूलवेद साधारण	५)
,, सुनहरी	८)
अनुक्रमणिका	१॥)
शतपथब्राह्मण पूरा	४)
ईशादिदशोपनिषद् मूल	॥=)
छान्दोग्योपनिषद् संस्कृत तथा हिन्दी भाष्य	३)
यजुर्वेदभाषाभाष्य	२)
बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य	३)
नित्यकर्मविधि)।, एक रु० सैकड़ा	

पुस्तक मिलने का पता—
प्रबन्धकर्त्ता, वैदिक पुस्तकालय–अजमेर.

अथ वेदाङ्गप्रकाशः

तत्रत्यः

पञ्चमो भागः ।

॥ सामासिकः ॥

पाणिनिमुनिप्रणीतायामष्टाध्याय्यां

चतुर्थो भागः ॥

श्रीमत्स्वामिदयानन्दसरस्वतीकृतव्याख्यासहितः ॥

पठनपाठनव्यवस्थायां सप्तमम्पुस्तकम्

अजमेरनगरे वैदिकयन्त्रालये

मुद्रितम् ॥

पांचवींवार १००० } संवत् १९७९. { मूल्य ।)

अथ सामासिक भूमिका ।

समास उसे कहते हैं कि जिस में अनेक पदों को एकपद में जोड़ देना होता है । जब अनेक पद मिलके एकपद हो जाता है तब एकपद और एकस्वर होते हैं, पर समास विद्या के जाने विना कुछ विदित नहीं हो सकता । इसलिये समास विद्या अवश्य जाननी चाहिये ॥

समास चार प्रकार का होता है ॥

एक अव्ययीभाव । दूसरा तत्पुरुष । तीसरा बहुव्रीहि और चौथा द्वन्द्व । अव्ययीभाव में पूर्वपदार्थ, तत्पुरुष में उत्तरपदार्थ, बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ और द्वन्द्व में उभय अर्थात् सब पदों के अर्थ प्रधान रहते हैं । जिसका अर्थ मुख्य हो वही प्रधान कहाता है ॥

अव्ययीभाव के दो भेद होते हैं ॥

एक पूर्वपदाव्ययीभाव दूसरा उत्तरपदाव्ययीभाव ॥

तत्पुरुष नव प्रकार का होता है ॥

द्वितीया तत्पुरुष । तृतीया तत्पुरुष । चतुर्थीत० । पञ्चमीत० । षष्ठीत० । सप्तमीत० । द्विगु, नञ् और कर्मधारय ॥

बहुव्रीहि दो प्रकार का है ॥

एक तद्गुणसंविज्ञान दूसरा अतद्गुणसंविज्ञान ॥

द्वन्द्व भी तीन प्रकार का होता है ॥

एक इतरेतरयोग दूसरा समाहार और तीसरा एकशेष । इस प्रकार से ४ समासों के १६ (सोलह) भेद समझने योग्य हैं । और इनमें से अव्ययीभाव, तत्पुरुष और बहुव्रीहि लुक् और अलुक् भेद से दो २ प्रकार के होते हैं । इन के उदाहरण आगे आवेंगे इन समासों को यथार्थ

जानने से सर्वत्र मिले हुए पद पदार्थ और वाक्यार्थ जानने में अति सुगमता होती है और समस्तपदयुक्त संस्कृत बोलना तथा दूसरे का कहा समझ भी सकता है यह भी व्याकरण विद्या की अवयव विद्या है जैसी कि संधि विषय और नामिक विद्या लिख आये। यहां जो पठन-पाठन के लिये एक उदाहरण वा प्रत्युदाहरण लिखा है इसे देख इस के समान अन्य उदाहरण वा और प्रत्युदाहरण भी ऊपर से पढ़ने पढ़ाने चाहियें। इस के आगे प्रकृत जो कुछ लिखा जाता है वह सब (समर्थः पदविधिः) इस सूत्र के भाष्यस्थ वचन हैं॥ जिस को जानने की इच्छा हो वह उक्त सूत्र के महाभाष्य में देख लेवे (सापेक्षमसमर्थं भवतीति) जो एक पद के साथ अपेक्षा करके युक्त हो वह समर्थ होता है और जो अनेक पदों के साथ आकर्षित होता है वह प्रायः समास के योग्य नहीं होता। जो सापेक्ष असमर्थ होता है ऐसा कहा जावे तो राजपुरुषो दर्शनीयः। यहां वृत्ति प्राप्त न होगी यह दोष नहीं, यहां प्रधान सापेक्ष है क्योंकि प्रधान सापेक्ष का भी समास होता है और जहां प्रधान सापेक्ष है वहां वृत्ति अर्थात् समास होगा। उदाहरणम्। देवदत्तस्य गुरुकुलम्। यह दोष नहीं। यहां षष्ठी समुदाय गुरुकुल की अपेक्षा करती है। जहां षष्ठी समुदाय की अपेक्षा नहीं करती वहां समास भी नहीं होता। किमोदनः शालीनाम्। यह कौन से शाली अर्थात् चावलों का ओदन है ऐसे अर्थ में तण्डुलमात्र की अपेक्षा करके यह षष्ठी नहीं है। इसलिये यह समुदाय अपेक्षा नहीं। इत्यादिक स्थलों में समास नहीं होता। समास समर्थों का होता है। समर्थ किस को कहते हैं। पृथक् २ अर्थवाले पदों के एकार्थीभाव को। यहां अगले वाक्यों में पृथक् २ अर्थ वाले पद हैं। जैसे—राज्ञः पुरुषः इस वाक्य में राज्ञः और पुरुषः ये दोनों पद अपने २ अर्थ के प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। और समास होने से इन का एकार्थीभाव हो जाता है। यथा—राजपुरुष इत्यादि प्रयोगों में समास कृत क्या विशेष है। विभक्ति का लोप अव्यवधान यथेष्ट परस्पर सम्बन्ध एकस्वर एकपद और एकविभक्ति रहती है। एकार्थी भाव पक्ष में समर्थ पद का अर्थ—संगतार्थः समर्थः संसृष्टार्थः समर्थ इति। और जैसे संसृष्टार्थ है जैसे संगतं घृतम् ऐसा कहने से मिला हुआ विदित होता है। और

जैसे संसृष्टोऽग्निरिति । ऐसा कहने से भी उक्तही अर्थ विदित होता है और जहां व्यपेक्षा सामर्थ्य होता है वहां । संप्रेक्षितार्थः समर्थः और संबद्धार्थः समर्थ इति यहां अनेक पदों का सम्बन्धमात्र प्रयोजन है इस व्यपेक्षा में अनेकपद अनेकस्वर अनेक विभक्ति वर्त्तमान रहती हैं ॥

वा०—स विशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणं न प्रयुज्यत इति वक्तव्यम् ॥

अनेक विशेषण युक्त विशेष्य का समास और समस्त का विशेषण के साथ योग नहीं होता । सविशेषण जैसे 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' यहां राजा का विशेषण ऋद्ध होने से पुरुष के साथ राजन् शब्द का समास नहीं होता (वृत) राजपुरुषः इस समस्त राजन् शब्द के साथ ऋद्ध विशेषण का योग भी नहीं हो सकता * इसलिये समास विद्या को समझ लेना सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है ॥

इति भूमिका ॥

---

* अर्थात् वही असमर्थ होता है कि जिसका सम्बन्ध अनेक पदों के साथ हो जैसे राजन् शब्द का सम्बन्ध ऋद्ध और पुरुष के साथ होने से समास न हुआ वैसे सर्वत्र समझना चाहिये और जहां प्रधान की अपेक्षा हो वहां तो सविशेषण और वृत्त का भी विशेषण के साथ योग होता है जैसे 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' यहां गुरु प्रधान है । इसलिये कुल के साथ समास और देवदत्त का सम्बन्ध भी हो गया ॥

ओ३म् ॥

अथ सामासिकः ॥

अथ सामासिकः* प्रारभ्यते। तत्र समासाश्चत्वारः। प्रथमोऽव्ययीभावः। द्वितीयस्तत्पुरुषः। तृतीयोबहुव्रीहिः। चतुर्थश्च द्वन्द्वः ॥

समर्थः पदविधिः † । २ । १ । १ ॥

‡ समर्थपदयोरयं विधिशब्देन सर्वविभक्तयन्तः समासः। समर्थस्य विधिः समर्थविधिः। समर्थयोर्विधिः समर्थविधिः। समर्थानांविधिः समर्थविधिः। समर्थाद्विधिः समर्थविधिः। समर्थे विधिः समर्थविधिः। पदस्याविधिः पदाविधिः। पदयोर्विधिः पदविधिः। पदानांविधिः पदाविधिः। पदाद्विधिः पदाविधिः। पदेविधिः पदाविधिः। समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधयः॥ पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधयः। समर्थविधयश्च पदविधयश्च। समर्थःपदविधिः। पूर्वःसमास उत्तरपदलोपी याद्रच्छिकी च विभक्तिः। सामर्थ्यं द्विविधम्। एकार्थीभावः व्यपेक्षा च ॥

यह महाभाष्य का वचन है। जिसमें भिन्न २ पदों का एकपद अनेक स्वरों का

---

* समासानां व्याख्यानो ग्रन्थः सामासिकः। जिस ग्रन्थ में समासों की व्याख्या हो उस का नाम सामासिक है।

† यह सूत्र एक पद और अनेक पदों के सम्बन्ध में साधुत्व विधायक है।

‡ जो यह आगे व्याख्या लिखी जाती है यह सब महाभाष्य की है।

एकस्वर, अनेक विभक्तियों की एक विभक्ति हो जाती है उस को एकार्थीभाव और एकपद का अनेक पदों के साथ सम्बन्ध होने को व्यपेक्षा कहते हैं ॥ सो प्रत्ययविधान में और पराङ्गवद्भाव में भी जाननी चाहिये । समास का प्रयोजन यह है कि अनेक पदों का एकपद अनेक विभक्तियों की एकविभक्ति और अनेक स्वरों का एक स्वर होना । "वृत्तिस्तर्हि कस्मान्न भवति महत्कष्टं श्रित इति । सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणान्न प्रयुज्यत इति" । यहां महत् शब्द विशेषण और कष्ट विशेष्य है ॥ फिर विशेषण सहित जो कष्ट है सो श्रित के साथ समास को प्राप्त नहीं होता और जो समास भी कर लें तो भी कष्ट का श्रित के साथ विशेषण का योग नहीं हो सकता । यहां वृत्ति नाम समास का है ॥ इसके उदाहरण तथा प्रत्युदाहरण इस सूत्र के आगे कहेंगे ॥

सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे ॥ २ । १ । २ ॥

जो आमन्त्रित पद परे हो तो पूर्व सुबन्त को पराङ्गवद्भाव स्वर विधि करने में होवे । अर्थात् आमन्त्रित पद का जो स्वर है वही पूर्व सुबन्त का स्वर हो जावे । संबोधन पद के परे सुबन्त पूर्व पद के स्थान में पराङ्गवत् अर्थात् संबोधन पद का जो स्वर है वही स्वर हो जाता है । कुण्डेनाटन् । परशुना वृश्चन् । मद्राणां राजन् । कश्मीराणां राजन् । मगधानां राजन् । सुबिति किम् । पीड्ये पीड्यमान । आमन्त्रित इति किम् । गेहे गार्ग्यः । परग्रहणं किम् । पूर्वस्य माभूत् । देवदत्तस्य कुण्डेनाटन् । स्वर इति किम् । कूपे सिञ्चन् । चर्मे नमन् ॥

वा०—षत्वणत्वे प्रति पराङ्गवन्न भवति । वा०—सुबन्तस्य पराङ्गवद्भावे समानाधिकरणस्योपसंख्यानमनन्तरत्वात् ॥

जैसे । तीक्ष्णया सूच्या सीव्यन् । तीक्ष्णेन परशुना वृश्चन् ॥

वा०—अव्ययानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

उच्चैरधीयान । नीचैरधीयान ॥

प्राक् कडारात् समासः ॥ २ । १ । ३ ॥

जो इस सूत्र से आगे (कडाराःकर्मधारये) यह सूत्र है वहां तक समास का अधिकार जानना योग्य है ॥

सह सुपा ॥ २ । १ । ४ ॥

सह ग्रहणं योगविभागार्थम् । सह सुप् समस्यते केन सह । समर्थेन । अनुव्यचलत् । अनुविशत् । ततः सुपा च सह सुप् समस्यते । उदाहरणम् । अजाकृपाणीयम् । पुनरुत्स्यूतम् । वासो देयं न पुनर्निष्कृतोरथ । अधिकारश्च लक्षणं च यस्य समासस्यान्यल्लक्षणं नास्ति इदं तस्य लक्षणं भविष्यति । ऐसा जानना कि जिसका लक्षण कोई सूत्र न होवे उस समास की सिद्धि करने वाला यह सूत्र है । यहां से आगे तीन पद का अधिकार है । सो ये हैं—सह । सुप् और पासु ॥

वा०—इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च वक्तव्यम् ॥

जैसे । वाससी इव । कन्ये इव ॥

अव्ययीभावः ॥ २ । १ । ५ ॥

यहां से आगे जो समास कहेंगे उस की अव्यय संज्ञा जानना चाहिये । पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः । अव्ययीभावसमास में पूर्वपद का अर्थ प्रधान होता है ॥

अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययाऽसम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु ॥ २ । १ । ६ ॥

विभक्ति से लेके अन्त शब्द पर्यन्त १६ (सोलह) अर्थ हैं उन में वर्त्तमान जो अव्यय हैं सो सुबन्त के साथ समास पावें वह अव्ययीभाव संज्ञक हों । "विभक्तिवचने तावत्" । वचन शब्द का विभक्ति आदि सब के साथ योग जानना (विभक्ति) स्त्रीष्वधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते । अधिस्त्रि * अधिकुमारि ।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ॥ १ । २ । ४७ ॥

जो नपुंसक लिङ्ग अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक हो तो उसके अच् को ह्रस्व हो । अतिरि कुलम् । अधिस्त्रि इत्यादि । नपुंसक इति किम् । ग्रामणीः । सेनानीः । प्रातिपदिकस्येति किमर्थम् । काण्डे तिष्ठतः । कुड्ये तिष्ठतः ॥

---

* 'अव्ययीभावश्च' इस सूत्र से यहां नपुंसक लिङ्ग होता है । और "अव्ययादाप्सुपः" इस सूत्र से यहां सुप् का लुक् होता है ।

वा०—समीपवचने ॥

कुम्भस्य समीपम् उपकुम्भम् । उपमणिकम् । उपशालम् ॥

नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ॥ २ । ४ । ८३ ॥

अदन्त अव्ययीभाव समास से सुप् का लुक् न हो किन्तु उसको अम् आदेश हो जाय पञ्चमी को वर्ज्ज के । जैसे । उपराजम् । अधिराजम् । अनश्चेतिटच् । उपमणिकं तिष्ठति । उममणिकं पश्य । उपकुम्भं पश्यति । अपञ्चम्या इति किम् । उपकुम्भादानय ॥

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥ २ । ४ । ८४ ॥

अदन्त अव्ययीभाव समास से तृतीया और सप्तमी को अम् आदेश बहुल करके हो अर्थात् पक्ष में लुक् हो । जैसे । उपकुम्भं कृतम् । उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भं निधेहि । उपकुम्भे निधेहि ॥ (समृद्धि) मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । सुमगधं वर्त्तते । (व्यृद्धि) ऋद्धि का न होना "गवदिकानामृद्धेरभावः" दुर्गवदिकम् । दुर्यवनम् वर्त्तते (अर्थाभाव) वस्तु का अभाव । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । निर्मशकम् वर्त्तते (अत्ययः) नाशः । अतीतानि हिमानी यं समयं निर्हिमम् । निःशीतं वर्त्तते (असंप्रति) अर्थात् इस समय न हो । संप्रति क्षुन्नास्ति । अतिक्षुधम् । अतितैसृकम् (शब्दप्रादुर्भाव) शब्द का प्रकाश होना । रथानां पश्चात् अनुरथं पादातम् । योग्यता । वीप्सा । पदार्थानतिवृत्तिः । सादृश्यं चेतियथार्थाः । अनुरूपं । यह रूप के योग्य है । अर्थमर्थम्प्रतीति प्रत्यर्थम् । पदार्थानतिवृत्ति । यथाशक्ति । यथाबलमित्यादि (आनुपूर्व्यम्) अनुक्रमम् । अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः (यौगपद्य) एककालं सचक्रं धेहि युगपच्चक्रं धेहीत्यर्थः (सादृश्य) नाम समान । काले समानम् । सदृशः सख्या । ससखि (संपत्तिः) अर्थात् अच्छे प्रकार प्राप्ति । ब्रह्मणः संपत्तिः सब्रह्म । सधनम् देवदत्तस्य (साकल्य) नाम सब । तुषेण सह भुङ्क्ते सतुषम् । सबुसम् (अन्तवचन)

ग्रन्थान्ताधिके च ॥ ६ । ३ । ७९ ॥

जो ग्रन्थ उत्तर पद परे हो तो ग्रन्थान्त में तथा अधिक अर्थ में वर्त्तमान जो सह शब्द है उस को स आदेश हो । सज्योतिषमधीते । समुहूर्त्तम् । ससंग्रहं व्याकरणमधीते । अधिके । सद्रोणा खारी । समाषः कार्षापणः ॥

अव्ययीभावे चाकाले ॥ ६ । ३ । ८२ ॥

अव्ययीभाव समास में कालवाची भिन्न उत्तरपद परे हो तो सह को स आदेश हो । सचक्रम् । सधुरम् । अकाल इति किम् । सह पूर्वाह्णम् । समाप्तम् । साग्न्यधीते ॥

यथाऽसादृश्ये ॥ २ । १ । ७ ॥

जो सादृश्य भिन्न अर्थ में अव्यय सो सुबन्त के संग समास को प्राप्त हो सो समास अव्ययीभाव संज्ञक हो । यथा वृद्धंब्राह्मणानामन्त्रयस्व । ये ये वृद्धाः यथावृद्धम् । यथाऽध्यापकम् । असादृश्य इति किम् । यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः ॥

यावदवधारणे ॥ २ । १ । ८ ॥

जो अवधारण अर्थ में वर्त्तमान अव्यय सो सुबन्त के संग समास पावे । यावदमत्रं ब्राह्मणानामन्त्रयस्व । यावन्त्यमत्राणि संभवन्ति पञ्च षड् वा तावत आमन्त्रयस्व । अवधारण इति किम् । यावद्दत्तं तावद्भुक्तम् । नावधारयामि । कियन्मया भुक्तमिति ॥

सुप्प्रतिना मात्रार्थे ॥ २ । १ । ९ ॥

मात्रा बिन्दुः स्तोकमल्पमिति पर्यायाः । जो मात्रार्थ में वर्तमान प्रति उस के साथ सुबन्त समास पावे सो अव्ययीभाव संज्ञक हो । अस्त्यत्र किञ्चिच्छाकम् । शाकप्रति । सूपप्रति । ओदनप्रति । मात्रार्थ इति किम् । वृक्षंप्रति विद्योतते विद्युत् । सुबिति वर्त्तमाने पुनः सुब्ग्रहणमव्ययनिवृत्त्यर्थम् ।

अक्षशलाकासंख्याः परिणा ॥ २ । १ । १० ॥

जो अक्ष शलाका और संख्यावाची शब्द एक द्वि त्रि इत्यादि परि के साथ समास को प्राप्त हों वह अव्ययीभाव संज्ञक समास है । अक्षेण परि क्रीड़न्त इति अक्षपरि । शलाकापरि । एकपरि । द्विपरि । त्रिपरि ।

वा०—अक्षशलाकयोश्चैकवचनान्तयोरिति वक्तव्यम् ॥

इह माभूत् अक्षाभ्यां वृत्तमक्षैर्वृत्तम् ।

वा०—कितवव्यवहार इति वक्तव्यम् ॥

इह माभूत् । अक्षेणेदं न तथा वृत्तं शकटेन तथा पूर्वमिति ।

विभाषा ॥ २ । १ । ११ ॥

अधिकार । इस के आगे जो २ समास कहेंगे सो २ विभाषा करके होंगे अर्थात् पक्ष में विग्रह भी रहेगा जहां २ वि० ऐसा संकेत करें वहां २ विकल्प जानना ॥

अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ॥ २ । १ । १२ ॥

जो अप परि बहिस् और अञ्चु का सुबन्त के साथ समास विकल्प करके होता है वह अव्ययीभाव कहाता है । जैसे वि० अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः । अपत्रिगर्तेभ्यो वा । प्राग्ग्रामद्बहिर्बहिर्ग्रामम् । बहिर्ग्रामात् । बहिरशब्दयोगे पञ्चमीभावस्यैतदेव ज्ञापकम् ।

आङ्मर्यादाभिविध्योः ॥ २ । १ । १३ ॥

जो मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् पञ्चम्यन्त सुबन्त के सङ्ग वि० समास को प्राप्त होता है सो समास अव्ययीभाव संज्ञक होवे । आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः । आपाटलि पुत्रात् । अभिविधि । आकुमारं यशः पाणिनेः । आकुमारेभ्यः ।

लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये ॥ २ । १ । १४ ॥

जो आभिमुख्य अर्थ हो तो लक्षण अर्थात् चिह्नवाची सुबन्त के साथ अभि और प्रति वि० समास को प्राप्त हों वह अव्ययीभाव स० हो । जैसे । अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । अग्निमभि । प्रत्यग्नि । अग्निं प्रति । आभिमुख्ये किम् । देशंप्रति गतः ।

अनुर्यत्समया ॥ २ । १ । १५ ॥

समया नाम समीपता । जिस के समीप को अनु कहता हो उसी लक्षण वाची सुबन्त के साथ वि० समास पावे सो अव्ययीभाव संज्ञक हो । जैसे । अनुवनमशनिर्गतः । अनुवृक्षम् । अनुरिति किम् । वनं समया । यत्समयेति किम् । वृक्षमनु विद्योतते विद्युत् ।

यस्य चायामः ॥ २ । १ । १६ ॥

आयामो दैर्घ्यम् । जिस के लम्बेपन को अनु कहता हो उसी लक्षणवाची सुबन्त के सङ्ग वि० समास पावे सो अव्ययीभाव संज्ञक हो । अनुगङ्गं वाराणसी । अनुयमुनम्मथुरा । यमुनाऽऽयामेन मथुराऽऽयामो लक्ष्यते । आयाम इति किम् । वृक्षमनुविद्योतते विद्युत् ॥

तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च ॥ २ । १ । १७ ॥

जो तिष्ठद्गु आदि शब्द निपातन किये हैं वे अव्ययीभाव संज्ञक हों । तिष्ठद्गु-

कालविशेषः । जैसे तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् काले दोहनाय, स तिष्ठद्गु कालः । वहद्गु । आयतीगवम् ।

वा०—खलेयवादीनि प्रथमान्तान्यन्यपदार्थे समस्यन्त इति वक्तव्यम् ।

जैसे । खलेबुसम् । खलेयवम् । लूनयवम् । लूयमानयवम् । पूतयवम् । संहृतबुसम् । संहृियमाणबुसम् । एते कालशब्दाः । समभूमि । समपदाति । सुषमम् । विषमम् । निष्षमम् । दुष्षमम् । अपसमम् । प्राहृणम् । प्ररथम् । प्रमृगम् । प्रदक्षिणम् । अपरदक्षिणम् । संप्रति । असंप्रति । पापसमम् । पुण्यसमम् ॥

वा०—इच् कर्मव्यतिहारे ॥

दण्डादण्डि । मुसलामुसलि । नखानखि ॥

पारे मध्ये षष्ठ्या वा ॥ २ । १ । १८ ॥

जो पार और मध्य शब्द षष्ठ्यन्त सुबन्त के सङ्ग वि० समास पावें सो समास अव्ययीभाव संज्ञक हो । और एकारान्त निपातन भी किया है । जैसे । पारं गङ्गायाः पारे गङ्गम् । मध्यं गङ्गायाः मध्ये गङ्गम् । षष्ठीसमास पक्ष में । गङ्गापारम् । गङ्गामध्यम् । यहां फिर (वा) ग्रहण का प्रयोजन यह है कि पक्ष में षष्ठी समास हो के वाक्य भी रह जावे । जैसे । गङ्गायाः पारम् । गङ्गाया मध्यम् ।

संख्या वंश्येन ॥ २ । १ । १९ ॥

जो वंश्यवाची सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त वि० समास पावे सो अव्ययीभाव संज्ञक हो, जैसे । द्वौ मुनी व्याकरणस्य वंश्यौ । द्विमुनि व्याकरणस्य * । त्रिमुनि व्याकरणस्य † ॥

नदीभिश्च ॥ २ । १ । २० ॥

जो संख्यावाची सुबन्त नदीवाची सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त वि० होवें सो० । जैसे । सप्तगङ्गम् । द्वियमुनम् । पञ्चनदम् । सप्तगोदावरम् ॥

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥ ५ । ४ । १०७ ॥

---

* दो मुनि अर्थात् पाणिनि और पतञ्जलि ।

† तीन मुनि अर्थात् पाणिनि, पतञ्जलि और शाकटायन ।

अव्ययीभाव समास में शरत् आदि प्रातिपदिकों से टच् प्रत्यय होवे । जैसे । शरदः समीपम् उपशरदम् । प्रतिशरदम् । उपविपाशम् । प्रतिविपाशम् । अव्ययीभाव इति किम् । परमशरत् ॥

अनश्च ॥ ५ । ४ । १०८ ॥

अन् जिस के अन्त में हो उस सुबन्त से टच् प्रत्यय हो । जैसे । राज्ञः समीपं उपराजम् । आत्मनि अधि इति अध्यात्मम् । प्रत्यात्मम् ।

नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १०९ ॥

अन्नन्त नपुंसक सुबन्त से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय वि० हो । चर्म चर्म प्रति इति प्रतिचर्मम् । प्रतिचर्म । उपचर्मम् । उपचर्म ॥

नदी पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥ ५ । ४ । ११० ॥

नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी, ये तीन प्रातिपदिक जिनके अन्त में हों उन समस्त समुदायों से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय वि० हो । जैसे । नद्याः समीपं उपनदम् । उपनदि । उपपौर्णमासम् । उपपौर्णमासि । उपाग्रहायणम् । उपाग्रहायणि ।

झयः ॥ ५ । ४ । १११ ॥

झय् प्रत्याहार जिस के अन्त में हो उस सुबन्त से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय वि० हो । जैसे । उपसमिधम् । उपसमित् । उपदृषदम् । उपदृषत् । अतिक्षुधम् । अतिक्षुत् ॥

गिरेश्च सेनकस्य ॥ ५ । ४ । ११२ ॥

सेनक आचार्य के मत में गिरि शब्दान्त प्रातिपदिक से अव्ययीभाव समास में समासान्त टच् प्रत्यय वि० हो । जैसे । अंतर्गिरम् । अन्तर्गिरि । उपगिरम् । उपगिरि । अव्ययीभाव समास में इतने समासान्त प्रत्यय होते हैं ॥

अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम् ॥ २ । १ । २१ ॥

जो संज्ञा हो तो अन्य पदार्थ में वर्तमान जो सुबन्त सो नदीवाची सुबन्त के साथ समास पावे । जैसे । उन्मत्तगङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गं नाम देशः । कृष्णगङ्गं नाम देशः । शनैर्गङ्गं नाम देशः । अन्य पदार्थ इति किम् । कृष्णवेणी । संज्ञायामिति किम् । शीघ्रगङ्गो देशः । इत्यव्ययीभावः समासः समाप्तः ॥

अथ तत्पुरुषः ॥

तत्पुरुषः ॥ २ । १ । २२ ॥

यहां से लेके बहुव्रीहि समास से पूर्व २ तत्पुरुष समास का अधिकार है ॥

उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः ॥

तत्पुरुष समास में उत्तरपद का अर्थ प्रधान होता है ॥

द्विगुश्च ॥ २ । १ । २३ ॥

द्विगु समास भी तत्पुरुष संज्ञक होता है "द्विगोस्तत्पुरुषत्वे समासान्ताः प्रयोजनम्" ॥

समासान्ताः ॥ ५ । ४ । ६८ ॥

अब जो प्रत्यय कहेंगे वे समासान्त होंगे अर्थात् उनका समास के ही साथ ग्रहण किया जायगा । जैसे । पञ्चराजी । दशराजी । पञ्चराजम् । दशराजम् । द्व्यहः । त्र्यहः । पञ्चगवम् । दशगवम् ॥

गोरतद्धितलुकि ॥ ५ । ४ । ९२ ॥

तद्धितलुक् को वर्ज के गो शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो । जैसे । परमगवः । उत्तमगवः । पञ्चगवम् । दशगवम् । अतद्धितलुकीति किम् । पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः । पञ्चगुः । दशगुः । तद्धितग्रहणेन किम् । सुब्लुकि प्रतिषेधो माभूत् । जैसे । राजगवमिच्छति राजगवीयति । लुग्ग्रहणात्किम् । तद्धित एव माभूत् । पञ्चभ्यो गोभ्य आगतं पञ्चगवरूप्यम् । पञ्चगवमयम् ॥

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ॥ ५ । ४ । ७४ ॥

जो अक्ष सम्बन्धी अर्थ न हो तो ऋक् । पुर् । अप् । धुर् और पथिन् ये जिन के अन्त में हों उन प्रातिपदिकों से समासान्त अकार प्रत्यय हो । जैसे । अविद्यमाना ऋक् यस्मिन्सोऽनृचो ब्राह्मणः । बह्वृचः । ब्राह्मणपुरम् । नान्दीपुरम् । द्विर्गता आपो यस्मिन् तद् द्वीपम् । अन्तरीपम् । समीपम् । राज्ञान्धूः । राजधुरा । महाधुरा । देवपथः । जलपथः । अनक्ष इति किम् । अक्षस्य धूः अक्षधूः । दृढधूरक्षः ॥

अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ॥ ५ । ४ । ७५ ॥

जो प्रति । अनु । और अव पूर्वक सामन् और लोमन् प्रातिपदिक हों तो उन से समासान्त अच् प्रत्यय हो । प्रतिसामम् । अनुसामम् । अवसामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् ॥

अक्ष्णोऽदर्शनात् ॥ ५ । ४ । ७६ ॥

दर्शन भिन्न अर्थ में अक्षि शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । पुष्कराक्षम् । उदुम्बराक्षः । अदर्शनादिति किम् । ब्राह्मणाक्षि ॥

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥ ५ । ४ । ७८ ॥

ब्रह्मन् और हस्तिन् शब्द से परे जो वर्चस् उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । ब्रह्मणो वर्चः । ब्रह्मवर्चसम् । हस्तिनो वर्चः । हस्तिवर्चसम् ॥

वा०—पल्लयराजभ्याञ्चेति वक्तव्यम् ॥

पल्लयवर्चसम् । राजवर्चसम् ॥

अवसमन्धेभ्य स्तमसः ॥ ५ । ४ । ७९ ॥

अव । सम् । और अन्ध शब्द से परे जो तमस् उस से समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । अवगतं नाम प्राप्तं तमः । अवतमसम् । सम्यक्तमः । सन्तमसम् । अन्धन्तमः । अन्धतमसम् ॥

श्वसो वसीयः श्रेयसः ॥ ५ । ४ । ८० ॥

जो श्वस् शब्द से परे वसीयस् और श्रेयस् शब्द हों तो उनमें समासान्त अच् प्रत्यय हो । श्वोवसीयसम् । श्वःश्रेयसम् ॥

अन्ववतप्ताद्रहसः ॥ ५ । ४ । ८१ ॥

अनुरहसम् । अवरहसम् । तप्तरहसम् ॥

प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥ ५ । ४ । ८२ ॥

जो प्रति से परे सप्तमीस्थ उरस् उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । उरसि प्रति प्रत्युरसम् । सप्तमीस्थादिति किम् । प्रतिगत मुरः प्रत्युरः ॥

अनुगवमायामे ॥ ५ । ४ । ८३ ॥

यहां आयाम अर्थ में अनुगव अच् प्रत्ययान्त निपातन किया है । गोरनु । अनुगवम् यानम् । आयाम इति किम् । गवां पश्चादनुगु ॥

द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ॥ ५ । ४ । ८४ ॥

जो वेदी के प्रमाण से अधिक द्विगुण वा त्रिगुण वेदी हो सो कहिये द्विस्तावा । त्रिस्तावा । ये वेदी के नाम हैं ॥

उपसर्गादध्वनः ॥ ५ । ४ । ८५ ॥

उपसर्ग से परे जो अध्वन् उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । प्रगतोऽध्वानम् । प्राध्वोरथः । प्राध्वं शकटम् । निरध्वम् । प्रत्यध्वम् । उपसर्गादितिकिम् परमाध्वा । उत्तमाध्वा ॥

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः ॥ ५ । ४ । ८६ ॥

जो तत्पुरुष समास में अङ्गुलि शब्दान्त हो तो उस से समासान्त अच् प्रत्यय हो संख्यादि जैसे । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य तद्द्व्यङ्गुलम् । त्र्यङ्गुलम् । यहां तद्धितार्थ में समास और मात्रच् प्रत्यय का लोप जानना । अव्ययादि—निर्गतमङ्गुलिभ्योनिरङ्गुलम् । अत्यङ्गुलम् । तत्पुरुषस्येतिकिम् । पञ्चाङ्गुलिः । अत्यङ्गुलिः पुरुषः । (द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे) इस सूत्र से पूर्व २ तत्पुरुष का अधिकार जानना ।

अहस्सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः । ५ । ४ । ८७ ॥

अहन् । सर्व । एकदेश वाची । संख्यात और पुण्य । चकार से संख्या और अव्यय इन से भी उत्तर जो रात्रि उस से समासान्त अच् प्रत्यय हो । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थं द्रष्टव्यम् । अहश्चरात्रिश्च अहोरात्रः । एकदेशे पूर्वरात्रः । अपररात्रः । पूर्वापराधरेति समासः । संख्याता रात्रिः संख्यातरात्रः । पुण्यारात्रः पुण्यरात्रः । द्वे रात्री समाहृते द्विरात्रः ॥

अहनोऽह्न एतेभ्यः ॥ ५ । ४ । ८८ ॥

(एतेभ्यः) अर्थात् । संख्या । अव्यय । और सर्व एकदेश इत्यादि शब्दों से परे जो अहन् उसको अह्न आदेश हो । संख्यायास्तावत् । जैसे । द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः ।

ऽयह्नः । अहरति क्रान्तः । अत्यह्नः । निरह्नः । सर्वं च तदहश्च । सर्वाह्णः । पूर्वञ्च तदहश्च । पूर्वाह्णः । अपराह्णः । संख्याताह्नः ।

न संख्यादेः समाहारे ॥ ५ । ४ । ८९ ॥

जो समाहार में वर्त्तमान और संख्यादि तत्पुरुष उस से परे अहन् शब्द को अह्न आदेश न हो । जैसे । द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः । त्र्यहः इत्यादि । समाहार इति किम् । द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः । त्र्यह्नः । तद्धितार्थ इति समासे कृतेऽण आगतस्य द्विगोरिति लुक् ॥

उत्तमैकाभ्याञ्च ॥ ५ । ४ । ९० ॥

उत्तम । अर्थात् पुण्य । और एक इन से परे अहन् को अह्न आदेश न हो । जैसे । पुण्याहः । एकाहः ॥

राजाहस्सखिभ्यष्टच् ॥ ५ । ४ । ९१ ॥

राजन् अहन् और सखि इन प्रातिपदिकों से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो । जैसे । महाराजः । मद्रराजः । परमाहः । उत्तमाहः । देवसखः । राजसखः । ब्रह्मसखः ॥

अग्राख्यायामुरसः ॥ ५ । ४ । ९३ ॥

अग्राख्या अर्थ में उरस् शब्दान्त तत्पुरुष समास से टच् प्रत्यय हो । जैसे । अश्वानामुरः । अश्वोरसम् । हस्त्युरसम् । अग्राख्यायामिति किम् । देवदत्तस्योरः । देवदत्तोरः ॥

अनोश्मायस्सरसां जातिसञ्ज्ञयोः ॥ ५ । ४ । ९४ ॥

जाति और संज्ञा के विषय में अनस् अश्मन् अयस् और सरस् और शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो । जैसे । उपानसमिति जातिः । महानसमितिसंज्ञा । अमृताश्ममिति जातिः । पिण्डाश्म इतिसंज्ञा । कालायसमितिजातिः । लोहितायसमिति संज्ञा । मण्डूकसरसमिति जातिः । जलसरसमिति संज्ञा । जातिसंज्ञयोरिति किम् । सदनः । सदश्मा । उत्तमायः । सत्सरः ॥

ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ॥ ५ । ४ । ९५ ॥

ग्राम और कौट से उत्तर जो तक्षन् उससे टच् प्रत्यय हो । ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः । कौटस्य तक्षाः कौटतक्षः । ग्रामकौटाभ्यांचेति किम् । राज्ञस्तक्षा ॥

अतेः शुनः ॥ ५ । ४ । ९६ ॥

अति से उत्तर श्वन् तदन्त जो तत्पुरुष उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो। जैसे। अतिक्रान्तः श्वानमतिश्वः । वराहो जववानित्यर्थः । अतिश्वः सेवकः । सुष्ठु स्वामिभक्त इत्यर्थः ॥

उपमानादप्राणिषु ॥ ५ । ४ । ९७ ॥

प्राणि भिन्न अर्थ में उपमानवाची श्वन् शब्द से टच् प्रत्यय हो। जैसे। आकर्षः श्वेव आकर्षश्वः । फलकश्वः । उपमितं व्याघ्रादिभिरिति समासः । उपमानादिति किम्० नश्वा । अश्वा । लोष्ठः । अप्राणिष्विति किम् । वानरः श्वेव वानरश्वा ॥

उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ॥ ५ । ४ । ९८ ॥

उत्तर, मृग और पूर्व चकार से उपमान पूर्वक जो सक्थिन् तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो। उत्तरसक्थम् । मृगसक्थम् । पूर्वसक्थम् । उपमान । फलकमिव सक्थि फलकसक्थम् ॥

नावो द्विगोः ॥ ५ । ४ । ९९ ॥

नौ शब्दान्त द्विगु से समासान्त टच् प्रत्यय हो। द्वे नावौ समाहृते द्विनावम् । त्रिनावम् । द्वे नावौ धनमस्य द्विनावधनः । पञ्चनावप्रियः । द्वाभ्यां नौभ्यामागतं द्विनावरूप्यम् । द्विनावमयम् । द्विगोरिति किम् । राजनौः । अतद्धितलुकीत्येव । पञ्चभिर्नौभिः क्रीतः पञ्चनौः । दशनौः ॥

अर्द्धाच्च ॥ ५ । ४ । १०० ॥

जो अर्द्ध से परे नौ शब्द हो तो उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो। अर्द्धं नावः अर्द्धनावम् ॥

खार्याः प्राचाम् ॥ ५ । ४ । १०१ ॥

प्राचीन आचार्यों के मत में अर्द्ध से उत्तर खारी शब्द और खारी शब्दान्त द्विगु इन से समासान्त टच् प्रत्यय हो। अर्द्धं खार्याः अर्द्धखारम् । अर्द्धखारी । द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम् । द्विखारि । त्रिखारम् । त्रिखारि ॥

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥ ५ । ४ । १०२ ॥

द्वि और त्रि शब्द से परे जो अञ्जलि उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो।

द्वावञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम् । त्र्यञ्जलम् । द्विगोरित्येव । द्वयोरञ्जलिः द्व्यञ्जलिः । अतद्धितलुकीत्येव । द्वाभ्यामञ्जलिभ्यां क्रीतः द्व्यञ्जलिः । त्र्यञ्जलिः । प्राचामित्येव । द्व्यञ्जलिप्रियः ॥

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥ ५ । ४ । १०३ ॥

नपुंसकलिङ्ग वाची जो अनन्त और असन्त तत्पुरुष उससे समासान्त टच् प्रत्यय हो वेद के विषय में । हस्तिचर्मे जुहोति । वृषभचर्म्मेऽभिषिञ्चति । असन्तात् । देवच्छन्दसानि । मनुष्यच्छन्दसानि । अनसन्तादिति किम् । विल्वदारु जुहोति । नपुंसकादिति किम् । सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसम् । अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि वा वचनम् । ब्रह्मसाम । देवच्छन्दः । ब्रह्मसामम् । देवच्छन्दसम् ॥

ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥ ५ । ४ । १०४ ॥

ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो जानपद की आख्या अर्थ में । सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्मः । अवन्तिब्रह्मः । पञ्चालब्रह्मः । जानपदाख्यायामिति किम् । देवब्रह्मा नारदः ॥

कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १०५ ॥

कु और महत् से परे जो ब्रह्मन् शब्द सो अन्त में जिसके उस तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय हो । कुब्रह्मः । कुब्रह्मा । महाब्रह्मः । महाब्रह्मा । ब्राह्मणपर्यायो ब्रह्मन्शब्दः ॥

द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः॥२।१।२४॥

द्वितीयान्त समर्थ जो सुबन्त सो श्रित अतीत पतित गत अत्यस्त प्राप्त और आपन्न इन सुबन्तों के संग वि० समास पावे । सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो * । कष्टं श्रितः कष्टश्रितः । नरकश्रितः । कान्तारमतीतः कान्तारातीतः । नरकं पतितः नरकपतितः । ग्रामं गतः ग्रामगतः । व्यसनमत्यस्तः व्यसनात्यस्तः । सुखं प्राप्तः सुखप्राप्तः । सुखमापन्नः सुखापन्नः । समर्थग्रहणं किमर्थम् । पश्य देवदत्तः कष्टं श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम् । यहां कष्ट शब्द का संबन्ध पश्य क्रिया के साथ है इसलिये समास नहीं होता ॥

---

* यहां से आगे द्वितीया तत्पुरुष समास चला ।

वा०—श्रितादिषु गमिगाम्यादीनामुपसङ्ख्यानम् ॥

ग्रामं गमी ग्रामगमी । ग्रामं गामी ग्रामगामी । ओदनं बुभुक्षुः ओदनबुभुक्षुः ।

स्वयं क्तेन ॥ २ । १ । २५ ॥

स्वयं सुबन्त क्तान्त सुबन्त के संग वि० जो समास हो सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे । स्वयंधौतौ पादौ । स्वयंविलीनमाज्यम् । एकपद्यमैकस्वर्यं च समासत्वाद् भवति ॥

खट्वा क्षेपे ॥ २ । १ । २६ ॥

क्षेप नाम निंदा का है । द्वितीयान्त खट्वा सुबन्त, क्तान्त सुबन्त के संग वि० समास को प्राप्त हो सो समास तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे । खट्वारोहणं चेह विमार्गस्थानस्योपलक्षणम् सर्वएवायमविनीतः खट्वारूढ इत्युच्यते । खट्वारूढो जाल्मः । खट्वाप्लुतः । अपथप्रस्थित इत्यर्थः । क्षेप इति किम् । खट्वामारूढः ॥

सामि ॥ २ । १ । २७ ॥

यह सामि अव्यय अर्द्ध का पर्याय है । जैसे । सामिकृतम् । सामिपीतम् । सामिभुक्तम् ॥

कालाः ॥ २ । १ । २८ ॥

जो द्वितीयान्त काल वाचि सुबन्त शब्द क्तान्त सुबन्त के साथ समास वि० पावे सो तत्पुरुष संज्ञक हो । जैसे । षण्मुहूर्त्ताश्चराचराः । ते कदाचिदहर्गच्छन्ति । कदाचिद्रात्रिम् । अहरतिसृता मुहूर्त्ताः । अहस्संक्रान्ताः । रात्र्यतिसृता मुहूर्त्ताः । रात्रिसंक्रान्ताः । मासप्रमितश्चन्द्रमाः । मासं प्रमातुमारब्धः प्रतिपच्चन्द्रमा इत्यर्थः ॥

अत्यन्तसंयोगे च ॥ २ । १ । २९ ॥

द्वितीयान्त कालवाची सुबन्त, सुबन्त के संग समास पावे अत्यन्त संयोग अर्थ में । अत्यन्त संयोग नाम सर्वसंयोग का है । जैसे । मुहूर्त्तं सुखम् मुहूर्त्तसुखम् । सर्वरात्रकल्याणी । सर्वरात्रशोभना ॥

तृतीयातत्कृतार्थेन गुणवचनेन *—॥ २ । १ । ३० ॥

जो तृतीयान्त सुबन्त (तत्कृतेन) अर्थात् तृतीयार्थकृतगुणवचन के साथ

---

* यहां से आगे तृतीया तत्पुरुष समास का आरम्भ जानों ॥

समास हो। तथा तृतीयान्त सुबन्त, अर्थ सुबन्त के संग भी समास हो सो तृतीया तत्पुरुष हो, उपादानेन विकलः उपादानविकलः। किरिणा काणः किरिकाणः। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः। धान्येनार्थः धान्यार्थः। तत्कृतेनेति किम्। अक्ष्णा काणः। गुणवचनेनेति किम्। गोभिर्वपावान्। समर्थग्रहणं किम्। त्वं तिष्ठ शंकुलया। खण्डो धावति मुसलेन।

पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः ॥ २ । १ । ३१ ॥

तृतीयान्त सुबन्त का पूर्व सदृश सम ऊनार्थ कलह निपुण मिश्र और श्लक्ष्ण सुबन्तों के साथ समास हो सो तृतीया तत्पुरुष हो। जैसे। मासेन पूर्वः मासपूर्वः। संवत्सरपूर्वः। पित्रा सदृशः पितृसदृशः। पित्रा समः पितृसमः। माषेणोनम् माषोनम्। कार्षापणोनम्। मासविकलम्। कार्षापणविकलम्। असिकलहः। वाक्कलहः। वाग्निपुणः। शास्त्रनिपुणः। गुडमिश्रः। तिलमिश्रः। आचारश्लक्ष्णः॥

वा०-पूर्वादिष्ववरस्योपसंख्यानम् ॥

मासेनावरः मासावरः। संवत्सरावरः॥

कर्तृकरणे कृता बहुलम् ॥ २ । १ । ३२ ॥

कर्त्ता और करण अर्थ में जो तृतीयान्त सुबन्त सो कृदन्त के साथ कहीं २ समास को प्राप्त होते हैं। वह तृतीया तत्पुरुष समास होता है। जैसे। अहिना दष्टः अहिदष्टः। देवदत्तेन कृतम् देवदत्तकृतम्। नखैर्निर्भिन्नः नखनिर्भिन्नः। कर्तृकरणे किम्। भिक्षाभिरुषितः। बहुलग्रहणं किम्। दात्रेण लूनवान्। परशुना छिन्न इह समासो न भवति। इह च भवति। पादहारको गलेचोपकः॥

कृत्यैरधिकार्थवचने ॥ २ । १ । ३३ ॥

कर्त्ता और करण कारक में जो तृतीयान्त सो कृत्य प्रत्ययान्त सुबन्त के सङ्ग वि० समास को प्राप्त हो, अधिकार्थ वचन हो तो। स्तुति निन्दायुक्त वचन को अधिकार्थ वचन कहते हैं। वह तृतीया तत्पुरुष समास कहाता है। जैसे। कर्त्ता। काकपेया नदी। श्वलेह्यः कूपः। करण। वाष्पच्छेद्यानि तृणानि। घनाघात्यो गुणः। कषताड्यो दुष्टः। वा० कृत्यग्रहणे यण्ण्यतोर्ग्रहणम्। इह माभूत्। काकैः पातव्या इति॥

अन्नेन व्यञ्जनम् ॥ २ । १ । ३४ ॥

जो तृतीयान्त व्यञ्जन वाची सुबन्त का अन्न वाची सुबन्त के साथ समास हो

सो तृतीया तत्पुरुष हो । जिससे अन्न का संस्कार किया जाय उसको व्यञ्जन कहते हैं । जैसे । दध्ना उपसिक्त ओदनः दध्योदनः । क्षीरौदनः ॥

भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ॥ २ । १ । ३५ ॥

मिश्रीकरण वाची तृतीयान्त सुबन्त भक्ष्यवाची सुबन्त के सङ्ग में वि० समास पावे सो तृतीया तत्पुरुष हो । जैसे । गुडेन मिश्रा धानाः गुडधानाः । घृतेन मिश्रं शाकम् घृतशाकम् ॥

ओजः सहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ॥ ६ । ३ । ३ ॥

जो तृतीयान्त ओजस् सहस् अम्भस् तमस् शब्दों से परे तृतीया का अलुक् हो, जो उत्तरपद परे हो तो । जैसे । ओजसा कृतम् । सहसा कृतम् । अम्भसा कृतम् । तमसा कृतम् ॥

वा०—पुंसानुजो जनुषान्धो विकृताक्ष इतिचोपसङ्ख्यानम् ॥

पुंसानुजः । जनुषान्धः । विकृताक्षः ॥

मनसः संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । ४ ॥

जो संज्ञा विषय में उत्तरपद परे हो तो तृतीयान्त मनस् से परे तृतीया का अलुक् हो । जैसे । मनसादत्ता । मनसागुप्ता । मनसारामः ॥

आज्ञायिनि च ॥ ६ । ३ । ५ ॥

जो आज्ञायिन् उत्तरपद परे हो तो तृतीयान्त मनस् से परे तृतीया का अलुक् हो । जैसे । मनसाज्ञायी ॥

आत्मनश्च पूरणे ॥ ६ । ३ । ६ ॥

आत्मनाषष्ठः । आत्मनापञ्चमः ॥

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ॥ २ । १ । ३६ ॥

जो तदर्थ अर्थात् विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त सुबन्त, अर्थ बलि हित सुख और रक्षित सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो सो चतुर्थी तत्पुरुष कहावे *। जैसे । यूपाय दारु यूपदारु। कुण्डलाय हिरण्यम् कुण्डलहिरण्यम् । इह न भवति । रन्धनाय स्थाली । अवहननायोलूखलमिति ॥

---

* यहां से चतुर्थी तत्पुरुष समासका आरम्भ समझना ।

वा०—अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ॥

जैसे । ब्राह्मणार्थं पयः । ब्राह्मणार्था यवागूः । ब्राह्मणार्थः कम्बलः । कृमिभ्यो बलिः कृमिबलिः । गोहितम् । मनुष्यहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् । अश्वरक्षितम् ॥

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ॥ ६ । ३ । ७ ॥

जो उत्तरपद परे हो तो वैयाकरणों की आख्या अर्थात् संज्ञा विषय में आत्मन् शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् हो । आत्मनेभाषा । आत्मनेपदम् ॥

परस्य च ॥ ६ । ३ । ८ ॥

जो वैयाकरणों की आख्या अर्थ में उत्तरपद परे हो तो पर शब्द से परे चतुर्थी का अलुक् हो । जैसे । परस्मैपदम् । परस्मैभाषा ॥

पञ्चमी भयेन ॥ २ । १ । ३७ ॥

जो पञ्चम्यन्त सुबन्त, भय सुबन्त के सङ्ग समास को प्राप्त हो सो पञ्चमी तत्पुरुष हो * । जैसे । वृकेभ्यो भयम् वृकभयम् । चोरभयम् । दस्युभयम् ॥

वा०—भयभीतभीतिभीभिरिति वक्तव्यम् ॥

जैसे । वृकेभ्यो भीतः वृकभीतः । वृकभीतिः । वृकभीः ॥

अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः ॥ २ । १ । ३८ ॥

जो पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक, अपेत अपोढ मुक्त पतित और अपत्रस्त इन सुबन्तों के साथ समास होता है सो पञ्चमी तत्पुरुष हो । जैसे । सुखादपेतः सुखापेतः । दुःखापेतः । कल्पनापोढः । कृच्छ्रान्मुक्तः । चक्रमुक्तः । वृक्षपतितः । नरकापत्रस्तः । अल्पशः अर्थात् पञ्चमी अल्पशः समास पावे । सब पञ्चमी नहीं । इससे प्रासादात् पतितः । भोजनादपत्रस्तः । इत्यादि में नहीं होता ॥

स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन ॥ २ । १ । ३९ ॥

जो स्तोक अन्तिक दूर और इनके तुल्य पञ्चम्यन्त हैं वे क्तान्त सुबन्त के साथ समास पावें सो पञ्चमी तत्पुरुष हो ॥

अलुगुत्तरपदे ॥ ६ । ३ । १ ॥

अलुक् और उत्तरपद । इन दो पदों का अधिकार किया है ॥

---

* यहां से पञ्चमी तत्पुरुष का आरम्भ है ॥

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥ ६ । ३ । २ ॥

स्तोक आदि प्रातिपदिकों से परे उत्तरपद हो तो पञ्चमी विभक्ति का लुक् न हो। जैसे। स्तोकान्मुक्तः। स्वल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। समीपादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रान्मुक्तः। कृच्छ्राल्लब्धः। क्लेशान्मुक्तः ॥

वा०–शतसहस्रौ परेणेति वक्तव्यम् ॥

शतात्परे परश्शताः। सहस्रात्परे परस्सहस्राः। राजदन्तादित्वात्परनिपातः। निपातनात् सुडागमः ॥

सप्तमी शौण्डैः ॥ २ । १ । ४० ॥

जो सप्तम्यन्त सुबन्त शौण्ड आदि सुबन्तों के साथ वि० समास को प्राप्त हो सो सप्तमी तत्पुरुष हो *। जैसे। अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः। अक्षधूर्तः। अक्षकितवः ॥

सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च ॥ २ । १ । ४१ ॥

जो सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध, सुबन्तों के संग सप्तम्यन्त सुबन्त का समास होता है सो सप्तमी तत्पुरुष होता है। जैसे। सांकाश्यसिद्धः। ग्रामसिद्धः। आतपशुष्कः। छायाशुष्कः। पयःपक्वः। तैलपक्वः। घृतपक्वः। स्थालीपक्वः। चक्रबन्धः। गृहबन्धः ॥

ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ॥ २ । १ । ४२ ॥

वा०–ध्वाङ्क्षेणेत्यर्थग्रहणं कर्तव्यम् ॥

जो क्षेप अर्थात् निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त सुबन्त, ध्वाङ्क्षवाची सुबन्त के साथ समास पावे सो सप्तमी तत्पुरुष हो। जैसे। तीर्थेध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः। अनवस्थित इत्यर्थः। तीर्थकाकः। तीर्थवायसः। क्षेप इति किम्। तीर्थे ध्वाङ्क्षस्तिष्ठति ॥

कृत्यैर्ऋणे ॥ २ । १ । ४३ ॥

ऋण अर्थ जाना जाय तो सप्तम्यन्त सुबन्त कृत्य प्रत्ययान्त के साथ समास पावे। मासे देयमृणम् मासदेयम्। सम्वत्सरदेयम्। पूर्वाह्णे गेयं साम। प्रातरध्येयोऽनुवाकः। ऋण इति किम्। मासे देया भिक्षा ॥

---

* यहां से आगे सप्तमी तत्पुरुष का अधिकार चला है ॥

सञ्ज्ञायाम् ॥ २ । १ । ४४ ॥

सञ्ज्ञा अर्थ में जो सप्तम्यन्त सुबन्त, सुबन्त के सङ्ग समास पावे सो सप्तमी तत्पुरुष समास होता है। जैसे। अरण्ये तिलकाः। अरण्ये माषाः। वने किंशुकाः। हलदन्तात्सप्तम्याः सञ्ज्ञायामित्यलुक्।

क्तेनाहोरात्रावयवाः ॥ २ । १ । ४५ ॥

जो दिन और रात्रि के अवयव वाची सप्तम्यन्त सुबन्त प्रातिपदिक, क्तांत सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों सो सप्तमी तत्पुरुष समास हों। जैसे। पूर्वाह्णकृतम्। अपराह्णकृतम्। पूर्वरात्रकृतम्। पररात्रकृतम्। अवयवग्रहणं किम्। अहनि भुक्तम्। रात्रौकृतम्।

तत्र ॥ २ । १ । ४६ ॥

जो तत्र सप्तम्यन्त सुबन्त, क्तांत सुबन्त के साथ समास पावे सो सप्तमी तत्पुरुष हो। जैसे। तत्रभुक्तम्। तत्रपीतम्। तत्रमृतः॥

क्षेपे ॥ २ । १ । ४७ ॥

जो क्षेप नाम निन्दा अर्थ में सप्तम्यन्त सुबन्त, क्तान्त सुबन्त के साथ समास पावे सो सप्तमी तत्पुरुष हो। अवतप्ते नकुलस्थितम् तवैतत्। उदके विशीर्णम्। प्रवाहे मूत्रितम्। भस्मनि हुतम्। निष्फले यत्क्रियते तदेवात्रोच्यते। तत्पुरुषे कृति बहुलमित्यलुक्॥

पात्रेसंमितादयश्च ॥ २ । १ । ४८ ॥

पात्रेसम्मित आदि शब्द निपातन किये हैं क्षेप अर्थ में सो सप्तमी तत्पुरुष जानना। पात्रेसंमिताः। पात्रेबहुलाः। उदरकृमिः। इत्यादि॥

हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । ९ ॥

हलन्त और अदन्त प्रातिपदिक से परे सप्तमी का अलुक् हो जो संज्ञा विषय में उत्तरपद परे हो तो। जैसे। युधिष्ठिरः। त्वचिसारः। अदन्तात्। अरण्ये तिलकाः। अरण्ये माषकाः। वने किंशुकाः। वने हरिद्रकाः। वने बल्बजकाः। पूर्वाह्णे स्फोटकाः। कूपे पिशाचकाः। नद्यां कुक्कुटिकाः नदीकुक्कुटिका। भूम्यां पाशाः। संज्ञायामिति किम्। अक्षशौण्डः॥

वा०—हृद्द्युभ्यां ङेः ॥

जो उत्तरपद परे हो तो हृद् और दिव् से परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे। हृदिस्पृक्। दिविस्पृक् ॥

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥ ६। ३। १०॥

कारनाम हलादि उत्तरपद परे हो तो प्राचीनों के मत में हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे। सूपेशाणः। मुकुटेकार्षापणम्। हलेद्विपदिका। हलेत्रिपदिका। कारनाम्नीति किम्। अभ्यर्हिते पशुः। प्राचामिति किम्। यूथे पशुः यूथपशुः। हलादाविति किम्। अविकटे उरणः अविकटोरणः। हलदन्तादित्येव। नद्यां दोहनी नदीदोहनी ॥

मध्याद्गुरौ ॥ ६। ३। ११॥

मध्येगुरुः ॥

वा०—अन्ताच्चेति वक्तव्यम् ॥

अन्तेगुरुः ॥

अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ॥ ६। ३। १२॥

जो कामवर्जित उत्तर पद परे हो तो मूर्द्ध और मस्तक भिन्न हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे। कण्ठे कालो यस्य सः कण्ठेकालः। उरसिलोमा। उदरेमणिः। अमूर्द्धमस्तकादिति किम्। मूर्द्धशिखः। मस्तकशिखः। अकाम इति किम्। मुखे कामो यस्य मुखकामः। स्वाङ्गादिति किम्। अक्षशौण्डः। हलदन्तादिति किम्। अङ्गुलित्राणः। जङ्घाबलिः ॥

बन्धे च विभाषा ॥ ६। ३। १३॥

जो घञन्त बन्ध उत्तरपद परे हो तो विकल्प करके हलन्त और अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् हो। जैसे। हस्ते बन्धः हस्तबन्धः। चक्रे बन्धः चक्रबन्धः ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥ ६। ३। १४॥

तत्पुरुष समास में कृदन्त उत्तरपद परे हो तो सप्तमी का अलुक् बहुल करके हो। अर्थात् कहीं २ हो। स्तम्बेरमः। कर्णेजपः। न च भवति। कुरुचरः। मद्रचरः ॥

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ॥ ६ । ३ । १५ ॥

जो ज उत्तरपद परे हो तो । प्रावृट्, शरत्, काल, दिव, इनसे परे सप्तमी का अलुक् हो । जैसे । प्रावृषिजः । शरदिजः । कालेजः । दिविजः ॥

विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ॥ ६ । ३ । १६ ॥

इन शब्दों से परे वि० सप्तमी का अलुक् हो । वर्षेजः । वर्षजः । क्षरेजः । क्षरजः । वरेजः । वरजः ॥

घकालतनेषु कालनाम्नः ॥ ६ । ३ । १७ ॥

जो * घसंज्ञक प्रत्यय, काल और तन प्रत्यय परे हों तो सप्तमी का अलुक् हो । जैसे-पूर्वाह्णेतरे । पूर्वाह्णेतमे । पूर्वाह्णतरे । पूर्वाह्णतमे । पूर्वाह्णेकाले । पूर्वाह्णकाले । पूर्वाह्णेतने । पूर्वाह्णतने । कालनाम्न इति किम् । शुक्लतरे । शुक्लतमे । हलदन्तादिति किम् । रात्रितरायाम् ॥

शयवासवासिष्वकालात् ॥ ६ । ३ । १८ ॥

जो शय, वास, वासि, ये उत्तरपद परे हों तो वि० सप्तमी का अलुक् हो । खेशयः । खशयः । ग्रामे वासः ग्रामवासः । ग्रामे वासी ग्रामवासी । अकालादिति किम् । पूर्वाह्णशयः । हलदन्तादित्येव । भूमिशयः ॥

नेन्सिद्धबध्नातिषु च ॥ ६ । ३ । १९ ॥

जो इन् प्रत्ययान्त सिद्ध और बध्नाति ये उत्तरपद परे हों तो सप्तमी का अलुक् न हो अर्थात् लुक् हो । स्थण्डिलशायी । सांकाश्यसिद्धः । चक्रबन्धकः । चरकबन्धकः ॥

स्थे च भाषायाम् ॥ ६ । ३ । २० ॥

जो स्थ उत्तरपद परे हो तो लोक में सप्तमी का अलुक् न हो । जैसे । समस्थः । विषमस्थः । भाषायामिति किम् । कृष्णोस्याखरेष्ठः ॥

पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन ॥ २ । १ । ४९ ॥

* तरप्तमपौ घः । इस सूत्र से तरप् और तमप् की घ संज्ञा है ।

पूर्व काल यह अर्थ का ग्रहण है । पूर्वकाल । एक । सर्व । जरत् । पुराण । नव और केवल । सुबन्त शब्द समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास पावे * । जैसे । पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः स्नातानुलिप्तः । कृष्टसमीकृतम् । दग्धप्ररूढम् । एका चासौ शाटी च एकशाटी । सर्वे च ते वेदाश्च सर्ववेदाः । जरच्चासौ वैद्यश्च जरद्वैद्यः । पुराणान्नम् । नवान्नम् । केवलान्नम् । समानाधिकरणेनेति किम् । एकस्याः शाटी ॥

दिक्संख्ये संज्ञायाम् ॥ २ । १ । ५० ॥

संज्ञा के विषय में दिक् और संख्यावाची शब्द समानाधिकरण के साथ समास पावें । समानाधिकरण की अनुवृत्ति पाद की समाप्ति पर्यन्त जाननी । पूर्वेषु कामशमी । अपरेषु कामशमी । संख्या । पञ्चाम्राः । सप्तर्षयः । संज्ञायामिति किम् । उत्तराः वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ॥

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च ॥ २ । १ । ५१ ॥

दिग् वाची शब्द और संख्या वाची शब्द तद्धित अर्थ में तथा उत्तरपद परे हो तो समाहार अर्थ में समानाधिकरण के साथ समास को प्राप्त हों । पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः । औत्तरशालः । आपरशालः । उत्तरपदे । पूर्वा शाला प्रिया यस्य स पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । संख्यातद्धितार्थे । पाञ्चनापितिः । पाञ्चकपालः । उत्तरपदे । पञ्चगवधनः । समाहारे । पञ्चकपालानि समाहृतानि यस्मिंस्तत्पञ्चकपालं गृहम् । पञ्चफली । दशपूली । पञ्चकुमारि । दशकुमारि । दशग्रामी । अष्टाध्यायी ॥

संख्यापूर्वो द्विगुः ॥ २ । १ । ५२ ॥

जो तद्धितार्थोत्तरपद समाहार में संख्या पूर्व समास है सो द्विगु संज्ञक होता है । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः । दशकपालः । द्विगोर्लुगनपत्य इति लुक् । ऐसे ही समासान्त तथा ङीप् इत्यादि कार्य्य जानने चाहिये । पञ्चनावप्रियः । तावच्छती ॥

कुत्सितानि कुत्सनैः ॥ २ । १ । ५३ ॥

जो कुत्सित वाची सुबन्त का कुत्सन वचन सुबन्तों के साथ समास हो सो तत्पुरुषसंज्ञक हो । जैसे । वैयाकरणखसूचिः । निष्प्रतिभ इत्यर्थः । याज्ञिककितवः । अयाज्य-

---

* यह समास बहुधा प्रथमा विभक्ति में आता है इसलिये प्रथमा तत्पुरुष और कर्मधारय समास भी कहते हैं ॥

याजनतृष्णापरः । मीमांसककुर्दुरूटः । नास्तिकः । कुत्सितानीति किम् । वैयाकरणश्चौरः । कुत्सनैरिति किम् । कुत्सितो ब्राह्मणः ॥

पापाणके कुत्सितैः ॥ २ । १ । ५४ ॥

जो पाप और अणक सुबन्त का कुत्सित सुबन्तों के साथ समास हो सो समानाधिकरण हो । जैसे । पापनापितः । पापकुलालः । अणकनापितः । अणककुलालः ॥

उपमानानि सामान्यवचनैः ॥ २ । १ । ५५ ॥

जो (स० *) उपमानवाची सुबन्त का सामान्य वचन सुबन्तों के साथ समास हो सो० । शस्त्रीवश्यामा शस्त्रीश्यामा देवदत्ता । कुमुदश्येनी । हंसगद्गदा । घनइवश्यामः घनश्यामो देवदत्तः । उपमानानीति किम् । देवदत्ता श्यामा । सामान्यवचनैरिति किम् । पर्वता इव बलाहकाः ॥

उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥ २ । १ । ५६ ॥

जो उपमित अर्थात् उपमेय वाची सुबन्त का व्याघ्रादि सुबन्तों के साथ समास हो सो० । पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः । पुरुषसिंहः । सिंह इव ना नृसिंहः । सामान्याप्रयोग इति किम् । पुरुषो व्याघ्र इव शूरः ॥

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ॥ २ । १ । ५७ ॥

जो विशेषण वाची सुबन्त का विशेष्यवाची समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हो सो० । नीलञ्च तदुत्पलञ्च नीलोत्पलम् । रक्तोत्पलम् । बहुलवचनं व्यवस्थार्थम् । क्वचिन्नित्यसमास एव । कृष्णसर्पः । लोहितशालिः । क्वचिन्न भवत्येव । रामो जामदग्न्यः । अर्जुनः कार्त्तवीर्य्यः । क्वचिद्विकल्पः । नीलमुत्पलं नीलोत्पलम् ॥

पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च ॥ २ । १ । ५८ ॥

पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम और वीर । जो इन सुबन्तों का समानाधिकरण सुबन्तों के साथ समास हो सो० । पूर्वश्चासौ पुरुषश्च पूर्वपुरुषः । अपरपुरुषः । प्रथमपुरुषः । चरमपुरुषः । जघन्यपुरुषः । समानपुरुषः । मध्यपुरुषः मध्यमपुरुषः । वीरपुरुषः ॥

---

* इस संकेत से सामानाधिकरण तत्पुरुष जानना ॥

श्रेण्यादयः कृतादिभिः ॥ २ । १ । ५९ ॥

श्रेणि आदि सुबन्तों का कृत आदि सुबन्तों के साथ समास हो सो० ॥

वा०—श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनम् ॥

जैसे । अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणीकृता वणिजो वसन्ति । च्व्यन्तानान्तु कुगतिप्रादय इत्यनेन नित्यसमासः ॥

क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् ॥ २ । १ । ६० ॥

जो नञ् रहित क्तान्त सुबन्त का नञ् विशिष्ट क्तान्त सुबन्त समानाधिकरण के साथ समास हो सो० । जैसे । कृतं च तदकृतम् कृताकृतम् । भुक्ताभुक्तम् । पीतापीतम् । उदितानुदितम् । अशितानशितेन जीवति । क्लिष्टाक्लिष्टेन वर्त्तते ॥

वा०—कृतापकृतादीनामुपसंख्यानम् ॥

कृतापकृतम् । भुक्तविभुक्तम् । पीतविपीतम् । गतप्रत्यागतम् । यातानुयातम् । क्रयाक्रयिका । पुटापुटिका । फलाफलिका । मानोन्मानिका ॥

वा०—समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च ॥

शाकप्रधानः पार्थिवः शाकपार्थिवः । कुतपसौश्रुतः । अजातौल्वलिः ॥

सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ॥ २ । १ । ६१ ॥

जो सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट सुबन्तों का पूज्यमान सुबन्तों के साथ समास हो सो० । जैसे । सत्पुरुषः । महापुरुषः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः । पूज्यमानैरिति किम् । उत्कृष्टो गौः कर्दमात् ॥

वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् ॥ २ । १ । ६२ ॥

जो वृन्दारक नाग/कुञ्जर सुबन्तों के साथ पूज्यमान अर्थों के वाचक सुबन्त के साथ समास हो सो० । गोवृन्दारकः । अश्ववृन्दारकः । गोनागः । अश्वनागः । गोकुञ्जरः । पूज्यमानमिति किम् । सुसीमो नागः ॥

कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने ॥ २ । १ । ६३ ॥

जो जाति के परिप्रश्न अर्थ में वर्त्तमान कतर कतम प्रत्ययान्त सुबन्त का समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास हो सो० । जैसे । कतरकठः । कतरकलापः । कतमकठः । कतमकलापः । जातिपरिप्रश्न इति किम् । कतरो भवतोर्देवदत्तः । कतमो भवतां देवदत्तः ॥

किं क्षेपे ॥ २ । १ । ६४ ॥

किम् शब्द का क्षेप अर्थ में सुबन्त के साथ समास हो सो० । जैसे । किं राजा यो न रक्षति । किं सखा योऽभिद्रुह्यति । किं गौः यो न वहति ॥

किमः क्षेपे ॥ ५ । ४ । ७० ॥

क्षेप अर्थ में जो किं शब्द उससे समासान्त प्रत्यय न हो * ॥

पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्त्तैर्जातिः ॥ २ । १ । ६५ ॥

जो पोटा, युवति, स्तोक, कतिपय, गृष्टि, धेनु, वशा, वेहद्, बष्कयणी, प्रवक्तृ, श्रोत्रिय, अध्यापक, धूर्त्त इन सुबन्तों का जातिवाची सुबन्तों के साथ समास होता है वह तत्पुरुष हो । जैसे । इभी चासौ पोटा च इभपोटा । इभयुवतिः । अग्निस्तोकः । उदश्वित्कतिपयम् । गोगृष्टिः । गोधेनुः । गोवशा । गोवेहत् । गोबष्कयणी । कठप्रवक्ता । कठश्रोत्रियः । कठाध्यापकः । कठधूर्त्तः । जातिरिति किम् । देवदत्तः प्रवक्ता ॥

प्रशंसावचनैश्च ॥ २ । १ । ६६ ॥

जातिवाची सुबन्त, प्रशंसावाची सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त हो सो० । जैसे । गोप्रकाण्डम् । अश्वप्रकाण्डम् । गोमतल्लिका । गोमचर्चिका । अश्वमचर्चिका । जातिरिति किम् । कुमारीमतल्लिका ॥

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः ॥ २ । १ । ६७ ॥

खलति, पलित, वलिन और जरती, इन सुबन्तों के साथ युवन् सुबन्त समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष हो । युवाखलतिः युवखलतिः । युवतिः खलती युवखलतिः । युवापलितः युवपलितः । युवतिः पलिता युवपलिता । युवा वलिनः युववलिनः । युवतिर्वलिना युववलिना । युवाजरन् युवजरन् । युवतिर्जरती युवजरती ॥

---

* किंराजा आदि उदाहरणों में टच् प्रत्यय न हुआ ।

कृत्यतुल्याख्या अजात्या ॥ २ । १ । ६८ ॥

कृत्य प्रत्ययान्त और तुल्य तथा तुल्य के समानार्थ जो सुबन्त सो जातिवर्जित सुबन्त के साथ समास पावे सो समानाधिकरण तत्पुरुष कर्मधारयसमास हो । जैसे । भोज्यं च तदुष्णञ्च भोज्योष्णम् । भोज्यलवणम् । पानीयशीतम् । तुल्याख्या । तुल्यश्वेतः । तुल्यमहान् । सदृशश्वेतः । सदृशमहान् । अजात्येति किम् । रक्षणीयो मनुष्यः ॥

वर्णो वर्णेन ॥ २ । १ । ६९ ॥

वर्ण विशेषवाची समानाधिकरण, सुबन्त के साथ वर्ण-विशेषवाची सुबन्त समास पावे सो० । कृष्णसारङ्गः । लोहितसारङ्गः । कृष्णशबलः । लोहितशबलः ॥

कुमारः श्रमणादिभिः ॥ २ । १ । ७० ॥

कुमार शब्द, श्रमण आदि सुबन्तों के साथ समास पावे सो० । कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा । कुमारीप्रव्रजिता कुमारप्रव्रजिता । कुमारीकुलटा कुमारकुलटा । इत्यादि ॥

चतुष्पादो गर्भिण्या ॥ २ । १ । ७१ ॥

चतुष्पाद्वाची सुबन्त, गर्भिणी सुबन्त के साथ समास पावे सो तत्पुरुष हो । जैसे । गोगर्भिणी । अजागर्भिणी । महिषीगर्भिणी ॥

वा०—चतुष्पाज्जातिरिति वक्तव्यम् ॥

इह माभूत् । कालाक्षी गर्भिणी । स्वस्तिमती गर्भिणी । चतुष्पाद् इति किम् । ब्राह्मणी गर्भिणी ॥

मयूरव्यंसकादयश्च ॥ २ । १ । ७२ ॥

मयूरव्यंसक आदि शब्द निपातन किये हैं सो० । जैसे । मयूरव्यंसकः । छात्रव्यंसकः ॥

इति समानाधिकरणः कर्मधारयस्तत्पुरुषः समासः ॥

अथैकाधिकरणस्तत्पुरुषः ॥

पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे ॥ २ । २ । १ ॥

पूर्व, अपर, अधर, उत्तर ये सुबन्त एकदेश वाची अर्थात् अवयव वाची सुबन्त के साथ समास पावें। एक * अधिकरण अर्थात् एक द्रव्य वाच्य हो तो। षष्ठी समासापवादोऽयं योगः। पूर्वं कायस्य पूर्वकायः। अपरकायः। अधरकायः। उत्तरकायः। एकदेशिनेति किम्। पूर्वं नाभेः कायस्य। एकाधिकरण इति किम्। पूर्वं छात्राणामामन्त्रय॥

अर्द्धं नपुंसकम् ॥ २। २। २॥

जो नपुंसक लिङ्ग अर्द्ध शब्द, एक देशी एकाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष हो। जैसे। अर्द्धं पिप्पल्याः अर्द्धपिप्पली। अर्द्धकौशातकी। नपुंसकमिति किम्। ग्रामार्द्धः। नगरार्द्धः। एकदेशिनेत्येव। अर्द्धं ग्रामस्य देवदत्तस्य। एकाधिकरण इत्येव। अर्द्धं पिप्पलीनाम्॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्य्याण्यन्यतरस्याम् ॥ २। २। ३॥

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और तुर्य्य ये सुबन्त एकदेशि एकाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों सो तत्पुरुष हो। द्वितीयं भिक्षायाः द्वितीयभिक्षा। षष्ठीसमासः पक्षे। भिक्षाद्वितीयं वा। तृतीयं भिक्षायाः तृतीयभिक्षा। भिक्षातृतीयं वा। चतुर्थं भिक्षायाः चतुर्थभिक्षा। भिक्षाचतुर्थं वा। एकदेशिनेत्येव। द्वितीयं भिक्षायाः भिक्षुकस्य। एकाधिकरण इत्येव। द्वितीयं भिक्षाणाम्॥

प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥ २। २। ४॥

प्राप्त और आपन्न सुबन्त, द्वितीयान्तसुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों। जैसे। प्राप्तो जीविकाम् प्राप्तजीविकः। जीविकाप्राप्त इति वा। आपन्नो जीविकाम् आपन्नजीविकः। जीविकापन्न इति वा॥

कालाः परिमाणिना ॥ २। २। ५॥

कालवाची सुबन्त, परिमाणवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष हो। जैसे। मासो जातोऽस्य स मासजातः। संवत्सरजातः। द्व्यहजातः। त्र्यहजातः॥

नञ् ॥ २। २। ६॥

नञ् समर्थ सुबन्त के साथ समास पावे सो नञ् तत्पुरुष हो। जैसे। न ब्राह्मणः अब्राह्मणः। अवृषलः॥

* अनेक शब्द समस्त हो के एकही पदार्थ के वाचक हों।

तस्मान्नुडचि ॥ ६ । ३ । ७४ ॥

तस्मात् नाम लोप हुये नञ् के नकार से परे अजादि उत्तरपद को नुट् का आगम हो। न अच् अनच्। न अश्वः अनश्वः। न उष्ट्रः अनुष्ट्रः। इत्यादि॥

नञस्तत्पुरुषात् ॥ ५ । ४ । ७१ ॥

जो नञ् से परे राज आदि शब्द सो अन्त में जिस तत्पुरुष के उससे समासान्त प्रत्यय न हो। अराजा। असखा। अगौः। तत्पुरुषादिति किम्। अनृचो माणवकः। अधुरं शकटम्॥

पथो विभाषा ॥ ५ । ४ । ७२ ॥

जो नञ् से परे पथिन् शब्द सो जिस तत्पुरुष के अन्त में हो उससे समासान्त प्रत्यय विकल्प करके हो। अपथम्। अपन्थाः॥

ईषदकृता ॥ २ । २ । ७ ॥

जो सुबन्त ईषत् शब्द कृत् वर्जित सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हो वह तत्पुरुष समास हो॥

वा०—ईषद्गुणवचनेनेति वक्तव्यम् ॥

ईषत्कडारः। ईषत्पिङ्गलः। ईषद्विकारः। ईषदुन्नतः। ईषत्पीतम्। गुणवचनेनेति किम्। ईषद् गार्ग्यः। *

षष्ठी ॥ २ । २ । ८ ॥

षष्ठ्यन्त सुबन्त, समर्थ सुबन्त के साथ वि० समास पावे, सो षष्ठी तत्पुरुष जानो। राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः। राज्ञोः पुरुषौ राजपुरुषौ। राज्ञां पुरुषाः राजपुरुषाः। राज्ञः पुरुषौ पुरुषा वा। ब्राह्मणकम्बलः॥

वा०—कृद्योगा च षष्ठी समस्यत इति वक्तव्यम् ॥

जैसे। इध्मव्रश्चनः। पलाशशातनः। किमर्थमिदमुच्यते। प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वक्ष्यति तस्यायं पुरस्तादपकर्षः॥

---

* यहां तक तत्पुरुष समास का प्रकरण आया इस के आगे षष्ठीतत्पुरुष का प्रकरण समझना चाहिये॥

याजकादिभिश्च ॥ २ । २ । ९ ॥

षष्ठ्यन्त याजक आदि शब्द, सुबन्तों के साथ समास पावें सो षष्ठी० । जैसे । ब्राह्मणयाजकः । क्षत्रिययाजकः ॥

षष्ठ्या आक्रोशे ॥ ६ । ३ । २१ ॥

आक्रोशे अर्थात् निन्दा अर्थ में उत्तरपद परे हो तो षष्ठी का अलुक् हो । जैसे । चौरस्य कुलम् । आक्रोश इति किम् । ब्राह्मणकुलम् ॥

वा०-षष्ठीप्रकरणे वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु यथासंख्यमलुग्वक्तव्यः ॥

जैसे । वाचोयुक्तिः । दिशोदण्डः । पश्यतोहरः ॥

वा०-आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति चालुग् वक्तव्यः ॥

अमुष्या अपत्यम् आमुष्यायणः । नडादित्वात् फक् । अमुष्य पुत्रस्य भावः आमुष्यपुत्रिका । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । तथा आमुष्यकुलिकेति ॥

वा०-देवानां प्रिय इत्यत्र च षष्ठ्या अलुग्वक्तव्यः ॥

जैसे । देवानां प्रियः ॥

वा०-शेपपुच्छलाङ्गूलेषु शुनः संज्ञायां षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः ॥

जैसे । शुनः शेपः । शुनः पुच्छः । शुनो लाङ्गूलः ॥

वा०-दिवश्च दासे षष्ठ्या अलुग् वक्तव्यः ॥

दिवोदासाय गायति ॥

पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥ ६ । ३ । २२ ॥

पुत्र उत्तरपद परे हो तो आक्रोश अर्थ में षष्ठी का अलुक् विकल्प करके हो । जैसे । दास्याः पुत्रः । दासीपुत्रो वा । आक्रोश इति किम् । ब्राह्मणीपुत्रः ॥

ऋतो विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ॥ ६ । ३ । २३ ॥

ऋकारान्त विद्यासम्बन्धी और ऋकारान्त योनि सम्बन्धियों से परे षष्ठी का

अलुक् हो। जैसे। होतुरन्तेवासी होतु पुत्रः। पितुरन्तेवासी पितुः पुत्रः। ऋत इति किम्। आचार्य्यपुत्रः। मातुलपुत्रः॥

विभाषा स्वसृपत्योः ॥ ६। ३। २४ ॥

ऋकारान्त विद्यासम्बन्धी और ऋकारान्त योनि सम्बन्धियों से स्वसृ तथा पति उत्तरपद परे हो तो वि० षष्ठी का अलुक् हो। जैसे। मातुः ष्वसा। मातुः स्वसा। मातृष्वसा। पितुःस्वसा। पितुःष्वसा। पितृष्वसा। दुहितुः पतिः। दुहितृपतिः। ननान्दुः पतिः। ननान्दृपतिः॥

नित्यं क्रीडाजीविकयोः ॥ २। २। १७ ॥

क्रीडा और जीविका अर्थ में षष्ठी सुबन्त के साथ नित्य समास पावे। जैसे (क्रीडा) उद्दालकपुष्पभञ्जिका। वारणपुष्पप्रचायिका (जीविका)। दन्तलेखकः। पुस्तकलेखकः। क्रीडाजीविकयोरिति किम्। ओदनस्य भोजकः॥ *

कुगतिप्रादयः ॥ २। २। १८ ॥

कु अव्यय गतिसंज्ञक और प्रादि गणस्थ शब्द समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों। जैसे। कु। कुत्सितः पुरुषः कुपुरुषः। गति। उररीकृतम्। यदूरीकरोति। प्रादयः।

वा०—दुर्निन्दायाम् ॥ दुष्पुरुषः॥

वा०—स्वतीपूजायाम् ॥

सु और अति ये पूजा अर्थ में ही समास को प्राप्त हों। शोभनः पुरुषः सुपुरुषः। अतिपुरुषः॥

वा०—आङीषदर्थे ॥

आपिङ्गलः। आकडारः। दुष्कृतम्। अतिस्तुतम्। आबद्धम्॥

वा०—प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥

प्रगत आचार्यः प्राचार्यः। प्रान्तेवासी॥

---

* यहां तक षष्ठीतत्पुरुष आया इसके आगे पुनस्तत्पुरुष का प्रकरण चला है।

वा०—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥

अतिक्रान्तः खट्वाम् अतिखट्वः । अतिमालः ॥

वा०—अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥

अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ॥

वा०—पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥

परिग्लानोऽध्ययनाय पर्यध्ययनः । अलं कुमार्य्यै अलंकुमारिः ॥

वा०—निरादयः क्रांताद्यर्थे पञ्चम्या ॥

निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः । निष्क्रान्तः सभायाः निःसभः ॥

वा०—प्रादिप्रसङ्गे कर्म्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ॥

उपपद मतिङ् ॥ २ । २ । १६ ॥

जो तिङ् वर्जित उपपद है सो समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त हो सो तत्पुरुष समास हो । जैसे । कुम्भकारः । नगरकारः । इत्यादि ॥

न पूजनात् ॥ ५ । ४ । ६९ ॥

पूजन वाची से परे समासान्त प्रत्यय न हो । जैसे । सुराजा । अतिराजा । सुसखा । अतिसखा । सुगौः । अतिगौः ॥

अमैवाव्ययेन ॥ २ । २ । २० ॥

जो उपपद अव्यय के साथ समास हो तो अम् अव्यय ही के साथ हो अन्य के सङ्ग नहीं । स्वादुंकारं भुङ्क्ते । लवणंकारं भुङ्क्ते । संपन्नंकारं भुङ्क्ते । अमैवेति किम् । नेह भवति कालो भोक्तुम् । एवकारकरणमुपपदविशेषणार्थम् । अमैव यत्तुल्यविधानमुपपदं तस्य समासो यथा स्यात् । अमा चान्येन च यत्तुल्यविधानं तस्य माभूत् । अग्रेभुक्त्वा । अग्रेभोजम् ॥

तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् ॥ २ । २ । २१ ॥

(उपदंशस्तृतीयायाम्) । यहां से ले के जो उपपद हैं वे अम् अव्यय के साथ

वि० समास को प्राप्त हों सो तत्पुरुष समास हो । मूलकोपदंशं भुङ्क्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते । उच्चैःकारं समाचष्टे । उच्चैःकारेण वा । अमैवेत्येव ॥

वा०—पर्य्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु ॥

पर्य्याप्तो भोक्तुम् । प्रभुर्भोक्तुम् । समर्थो भोक्तुम् ॥

क्त्वा च ॥ २ । २ । २२ ॥

तृतीया प्रभृति शब्द क्त्वा प्रत्यय के साथ समास को प्राप्त वि० हों । उच्चैःकृत्य । उच्चैःकृत्वा ॥

* शेषो बहुव्रीहिः ॥ २ । २ । २३ ॥

शेष अर्थात् उक्त समासों को छोड़ के जो आगे समास कथन करते हैं सो बहुव्रीहि है । यह अधिकार सूत्र भी है ॥

अनेकमन्यपदार्थे ॥ २ । २ । २४ ॥

जो अन्य पद के अर्थ में वर्त्तमान अनेक सुबन्त, सो सुबन्त के सङ्ग समास को प्राप्त हो, उसको बहुव्रीहि जानो । ° विशाले नेत्रे यस्य स विशालनेत्रः । बहु धनं यस्य स बहुधनो बहुधनको वा पुरुषः । एक प्रथमा विभक्ति के अर्थ को छोड़ कर सब विभक्ति के अर्थों में बहुव्रीहि समास होता है । प्राप्तमुदकं यं ग्रामं स प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान् । उपहृतमुदकं यस्मै स उपहृतोदकोऽतिथिः । उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली । अच् अन्तो यस्य स अजन्तो धातुः । वीराः पुरुषा यस्मिन् ग्रामे स वीरपुरुषो ग्रामः । परन्तु प्रथमा के अर्थ में नहीं होता है । वृष्टे मेघे गतः । अनेकग्रहणं किम् । बहूनामपि यथा स्यात् । सुसूक्ष्मजटकेशः । इत्यादि ॥

वा०—बहुव्रीहिः समानाधिकरणानामिति वक्तव्यम् ॥

व्यधिकरणानां माभूत् । पञ्चभिर्भुक्तमस्य ॥

---

* यहां तक कुगति और प्रादि प्रयुक्त तत्पुरुष समास आया, इस के आगे बहुव्रीहि का अधिकार चला है ।

° इस बहुव्रीहिसमास के विग्रह में प्रथमा और अन्य पदार्थ में द्वितीया आदि विभक्तियों के प्रयोग होते हैं जैसे नेत्र शब्द प्रथमा और यत् शब्द से षष्ठी हुई है वैसे सर्वत्र समझो ॥

वा०—अव्ययानां च बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥

उच्चैर्मुखः । नीचैर्मुखः ॥

वा०—सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च ॥

कण्ठे स्थितः कालो यस्य कण्ठेकालः । उरसिलोमा । उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः । खरमुखः ॥

वा०—समुदायविकारषष्ठ्याश्च बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेति वक्तव्यम्

केशानां संघातः केशसंघातः । केशसंघातश्चूडाऽस्य स केशचूडः । सुवर्णविकारोऽलंकारोऽस्य स सुवर्णाऽलंकारः ॥

वा०—प्रादिभ्यो धातुजस्योत्तरपदलोपश्च वा बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥

प्रपतितं पर्णमस्य प्रपर्णः । प्रपतितं पलाशमस्य प्रपलाशः ॥

वा०—नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः ॥

अविद्यमानः पुत्रो यस्य सोऽपुत्रः । अविद्यमाना भार्य्या यस्य सोऽभार्यः । अविद्यमानभार्य्यः ॥

वा०—सुबधिकारेऽस्तिक्षीरादीनां बहुव्रीहिर्वक्तव्यः ॥

अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्त्यादयो निपाताः ॥

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ॥ ६ । ३ । ३४ ॥

भाषितः पुमान् येन स भाषितपुंस्कः तस्मात् । भाषित पुंलिङ्ग से परे ऊङ्वर्जित जो स्त्री शब्द उसको पुंवत् हो अर्थात् उसका पुंलिङ्ग के सदृश रूप होता है समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग वाची उत्तरपद परे हो तो । परन्तु पूर्णी तथा प्रियादि को छोड़ के । दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः । रूपवद्भार्यः । श्लक्ष्णचूडः । पूर्णा विद्या यस्या सा पूर्णविद्या । विदिता नीतिर्यया सा विदितनीतिः । सुशिक्षिता वाणी यस्याः सा सुशिक्षितवाणी । स्त्रिया इति किम् । ग्रामणि ब्राह्मणकुलं दृष्टिरस्य ग्रामणिदृष्टिः । भाषितपुंस्कादिति किम् । खट्वाभार्यः । अनूङिति किम् । ब्रह्मबन्धूभार्यः । समानाधिकरण

इति किम् । कल्याण्या माता कल्याणीमाता । स्त्रियामिति किम् । कल्याणीप्रधान-मेषां कल्याणीप्रधाना इमे । अपूरणीति किम् । कल्याणी पञ्चमी यासां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । कल्याणीदशमाः ॥

वा०—प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

इह माभूत् । कल्याणपञ्चमीकः पक्ष इति । अप्रियादिष्विति किम् । कल्याणीप्रियः ॥

दिङ् नामान्यन्तराले ॥ २ । २ । २६ ॥

जो अन्तराल अर्थ में दिक् नाम सुबन्त शब्द, सुबन्त के साथ समास को प्राप्त हों सो बहुव्रीहि समास है । मध्य कोण को अन्तराल कहते हैं दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यदन्तरालं दिक् सा दक्षिणपूर्वा दिक् । पूर्वोत्तरा । उत्तरपश्चिमा । पश्चिमदक्षिणा ॥

संख्यया ऽव्ययासन्नादूराधिकसङ्ख्याः सङ्ख्येये ॥ २ । २ । २५ ॥

जो संख्येय में वर्त्तमान अव्यय, आसन्न, दूर, अधिक और सङ्ख्या, सुबन्त के साथ समास पावे वह समास बहुब्रीहि हो (अव्यय) दशानां समीपे उपदशाः । उपविंशाः । आसन्नदशाः । अदूरग्रामा वृक्षाः । अधिकविंशाः । (संख्या) द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः । त्रिचतुराः । द्विदशाः । संख्ययेति किम् । पञ्च ब्राह्मणाः । अव्ययासन्नादूराधिकसंख्या इति किम् । ब्राह्मणाः पञ्च । संख्येय इति किम् । अधिका विंशतिर्गवाम् ॥

बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् ॥ ५ । ४ । ७३ ॥

जो संख्येय में वर्त्तमान बहुब्रीहि उससे समासान्त डच् प्रत्यय हो । जैसे । उपदशाः । उपविंशाः । उपत्रिंशाः । आसन्नदशाः । अदूरदशाः । संख्येय इति किम् । चित्रगुः । शबलगुः । अबहुगणादिति किम् । उपबहवः । उपगणाः ॥

वा०—डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्त्तव्यम् ॥

निस्त्रिंशाद्यर्थम् । निर्गतानि त्रिंशतः । निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य । निश्चत्वारिंशानि यज्ञदत्तस्य । निर्गतस्त्रिंशताङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः ॥

तत्र तेनेदमिति सरूपे ॥ २ । २ । २७ ॥

इदम् अर्थ में सप्तम्यन्त सरूप और तृतीयान्त सरूप, सुबन्त के साथ समास पावे सो बहुव्रीहि हो ॥

इच् कर्मव्यतिहारे ॥ ५ । ४ । १२७ ॥

कर्म के व्यतिहार अर्थ में जो बहुव्रीहि उससे समासान्त इच् प्रत्यय हो। और तिष्ठद्गुप्रभृति में इच् पढ़ा भी है इसलिये अव्यय जानना। केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि। दण्डैर्दण्डैः प्रहृत्येदं युद्धं प्रवर्त्तते तत् दण्डादण्डि ॥

अन्येषामपि दृश्यते ॥ ६। ३। १३७ ॥

जिस शब्द को दीर्घादेश विधान कहीं न किया हो उस को दीर्घत्व इस सूत्र से जानिये। केशाकेशि। दण्डादण्डि। इत्यादि ॥

द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ॥ ५। ४। १२८ ॥

इच् प्रत्ययान्त द्विदण्डि, द्विमुसलि इत्यादि निपातन किये हैं ॥

तेन सहेति तुल्ययोगे ॥ २। २। २८ ॥

तुल्य योग अर्थ में सह शब्द तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास पावे सो बहुव्रीहि हो ॥

वोपसर्जनस्य ॥ ६। ३। ८२ ॥

जो उपसर्जन अर्थ में वर्त्तमाम सह शब्द उस को स आदेश विकल्प करके हो। पुत्रेण सहागतः पिता सपुत्रः। सहपुत्रः। सच्छात्र आचार्यः। सहच्छात्रो वा। सकर्मकरः। सहकर्मकरो वा। तुल्ययोग इति किम्। सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी। उपसर्जनस्येति किम्। सहकृत्वा। सहयुध्वा ॥

प्रकृत्याशिष्यगोवत्सहलेषु ॥ ६। ३। ८३ ॥

आशीर्वाद अर्थ में उत्तरपद परे हो तो गो, वत्स और हल इन को वर्ज के सह शब्द प्रकृति करके रहे अर्थात् स आदेश न हो। स्वस्ति देवदत्ताय। सह पुत्राय। सहच्छात्राय। सहामात्याय। आशिषीति किम्। सानुगाय दस्यवे दण्डं दद्यात्। सहानुगाय वा। अगोवत्सहलेष्विति किम्। स्वस्ति भवते सहगवे। सगवे। सहवत्साय। सवत्साय। सहहलाय। सहलाय। वोपसर्जनस्येति पक्षे भवत्येव समासः ॥

समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ॥ ६। ३। ८४ ॥

जो मूर्द्ध प्रभृति और उदर्क वर्जित उत्तरपद परे हो तो समान शब्द को स आदेश हो। अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः। अमूर्द्धप्रभृत्युदर्केष्विति किम्। समानमूर्द्धा। समानप्रभृतयः। समानोदर्काः ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ॥ ५। ४। ११३ ॥

बहुव्रीहि समास में स्वाङ्ग वाची सक्थि और अक्षि शब्द से समासान्त षच् प्रत्यय हो। जैसे। दीर्घसक्थः। कल्याणाक्षः। लोहिताक्षः। जो स्त्री हो तो षित् होने से ङीष् प्रत्यय होता है। दीर्घसक्थी। कल्याणाक्षी। इत्यादि। बहुव्रीहाविति किम्। परमसक्थि। परमाक्षि। सक्थ्यक्ष्णोरिति किम्। दीर्घजानुः। सुबाहुः। स्वाङ्गादिति किम्। दीर्घसक्थिशकटम्। स्थूलाक्षिरिक्षुः॥

अङ्गुलेर्दारुणि ॥ ५। ४। ११४॥

दारु अर्थ में अङ्गुलि शब्दान्त बहुव्रीहि समास से समासान्त षच् प्रत्यय हो। द्वे अङ्गुली यस्य द्व्यङ्गुलम्। त्र्यङ्गुलम्। चतुरङ्गुलं दारु। दारुणीति किम्। पञ्चाङ्गुलिर्हस्तः॥

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥ ५। ४। ११५॥

द्वि और त्रि से परे मूर्द्धन् शब्द से बहुव्रीहि समास में समासान्त ष प्रत्यय हो। जैसे। द्विमूर्द्धः। त्रिमूर्द्धः। द्वित्रिभ्यामिति किम्। उच्चैर्मूर्द्धा॥

अप् पूरणीप्रमाण्योः ॥ ५। ४। ११६॥

जो पूरण प्रत्ययान्त और प्रमाणी शब्दान्त बहुव्रीहि उससे समासान्त अप् प्रत्यय हो। जैसे। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्, ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। कल्याणीदशमा रात्रयः। स्त्रीप्रमाणी येषां ते स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः। भार्याप्रधाना इत्यर्थः॥

वा०—प्रधानपूरणीग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

इह माभूत्। कल्याणीपञ्चमी अस्मिन् पक्षे कल्याणपञ्चमीकः॥

वा०—नेतुर्नक्षत्र उपसंख्यानम् ॥

मृगो नेता आसां रात्रीणां ता मृगनेत्रा रात्रयः। पुष्यनेत्राः। नक्षत्र इति किम्। देवदत्तनेतृकाः॥

वा—छन्दसि च नेतुरुपसंख्यानम् ॥

विद्याधर्मनेत्रा देवाः। सोमनेत्राः॥

वा०—मासात् प्रत्ययपूर्वपदात् ठञ्विधिः ॥

पञ्चको मासोऽस्य पञ्चकमासिकः। कर्मकाराः। दशकमासिकाः॥

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ॥ ५ । ४ । ११७ ॥

अन्तर् और बहिस् शब्द से परे जो लोमन् शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो । जैसे । अन्तर्गतानि लोमान्यस्यान्तर्लोमः प्रावारः । बहिर्गतानि लोमान्यस्य स बहिर्लोमः पटः ॥

अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥ ५ । ४ । ११८ ॥

नासिकान्त बहुव्रीहि समास से अच् प्रत्यय हो और संज्ञा अर्थ में नासिका के स्थान में नस् आदेश हो । द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः । वार्ध्रीणसः । गोनसः । संज्ञायामिति किम् । तुङ्गनासिकः । अस्थूलादिति किम् । अस्थूलनासिको वराहः ॥

खुरखराभ्यां नस् वक्तव्यः ॥

खुरणाः । खरणाः । पक्ष में अच् प्रत्यय भी इष्ट है । खुरणसः । खरणसः ॥

उपसर्गाच्च ॥ ५ । ४ । ११९ ॥

उपसर्ग से परे जो नासिका शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय हो और नासिका को नस् आदेश भी हो । जैसे । उन्नता नासिका अस्य स उन्नसः । प्रगता नासिका अस्य प्रणसः ॥

वा०—वेर्ग्रो वक्तव्यः ॥

वि पूर्वक नासिका के स्थान में ग्र आदेश और अच् प्रत्यय भी हो । विगता नासिका अस्य स विग्रः ॥

सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपद-प्रोष्ठपदाः ॥ ५ । ४ । १२० ॥

इस में सुप्रात इत्यादि बहुव्रीहि समास और अच् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं । जैसे । शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः । शोभनं दिवा अस्य सुदिवः । शारिरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः । चतस्रोऽश्रयोऽस्य स चतुरश्रः । एण्याइव पादावस्य एणीपदः । अजस्येव पादावस्य अजपदः । प्रोष्ठो गौस्तस्येव पादावस्य प्रोष्ठपदः ॥

नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥ ५ । ४ । १२१ ॥

नञ् दुस् और सु इन से परे जो हलि और सक्थि तदन्त बहुव्रीहि से

समासान्त अच् प्रत्यय विकल्प करके हो। जैसे। अविद्यमाना हलिरस्य अहलः। अहलिः। दुर्हलः। दुर्हलिः। सुहलः। सुहलिः। अविद्यमानं सक्थ्यस्य असक्थः। असक्थिः। दुःसक्थः। दुःसक्थिः। सुसक्थः। सुसक्थिः॥

नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ॥ ५। ४। १२२॥

नञ् दुस् और सु से परे जो प्रजा और मेधा तदन्त बहुव्रीहि से नित्य ही समासान्त असिच् प्रत्यय हो। जैसे। अविद्यमाना प्रजाऽस्य अप्रजाः। दुष्प्रजाः। सुप्रजाः। अविद्यमाना मेधाऽस्य अमेधाः। दुर्मेधाः। सुमेधाः। नित्य ग्रहण इसलिये है कि पूर्वसूत्र के विकल्प से दो प्रयोग न हों॥

बहुप्रजाश्छन्दसि ॥ ५। ४। १२३ ॥

बहुप्रजाः। यह वेद में निपातन किया है। छन्दसीति किम्। बहुप्रजो ब्राह्मणः।

धर्मादनिच् केवलात् ॥ ५। ४। १२४ ॥

केवल अर्थात् एकही शब्द से परे जो धर्म शब्द उससे समासान्त अनिच् प्रत्यय हो। जैसे। कल्याणो धर्मोऽस्य कल्याणधर्मा। प्रियधर्मा। केवलादिति किम्। परमः स्वो धर्मोऽस्य परमस्वधर्मः॥

जम्भासुहरिततृणसोमेभ्यः ॥ ५। ४। १२५ ॥

सु, हरित, तृण और सोम शब्द से परे यह जम्भा शब्द निपातन किया है जम्भा नाम मुख्य दांतों का और खाने योग्य वस्तु का भी है। शोभनो जम्भोऽस्य सुजम्भा देवदत्तः। हरितजम्भा। तृणजम्भा। सोमजम्भा॥

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥ ५। ४। १२६ ॥

दक्षिणेर्मा समासान्त निपातन किया है लुब्धयोग अर्थ में। लुब्धनाम व्याध का है। दक्षिणेर्मं व्रणमस्य दक्षिणेर्मा मृगः *। ईर्मंव्रणमुच्यते। दक्षिणमङ्गं व्रणितमस्य व्याधेनेत्यर्थः। लुब्धयोग इति किम्। दक्षिणेर्मं शकटम्॥

प्रसंभ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥ ५। ४। १२९ ॥

* जिस मृग के दक्षिण पार्श्व में बाण आदि से क्षत किया हो उसको दक्षिणेर्मा कहते हैं क्योंकि ईर्म क्षत का नाम है॥

प्र और सम् से परे जानु शब्द को समासान्त ज्ञु आदेश हो। जैसे। प्रकृष्टे संसृष्टे च जानुनी अस्य प्रज्ञुः। संज्ञुः॥

ऊर्ध्वाद् विभाषा ॥ ५ । ४ । १३० ॥

ऊर्ध्व शब्द से परे जानु शब्द को विकल्प करके ज्ञु आदेश हो। जैसे। ऊर्ध्वे जानुनी अस्य। ऊर्ध्वज्ञुः ऊर्ध्वजानुः॥

ऊधसोऽनङ् ॥ ५ । ४ । १३१ ॥

ऊधस् * शब्दान्त बहुब्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश हो। जैसे। कुण्डमिवोधोऽस्याः कुण्डोध्नी। घटोध्नी गौः॥

वा०—ऊधसोऽनङि स्त्रीग्रहणं कर्त्तव्यम् ॥

इह माभूत्। महोधाः पर्जन्यः। घटोधो धैनुकम्॥

धनुषश्च ॥ ५ । ४ । १३२ ॥

धनुष् शब्दान्त बहुब्रीहि को अनङ् आदेश हो। जैसे। † शार्ङ्गं धनुरस्य शार्ङ्गधन्वा। गाण्डीवधन्वा। पुष्पधन्वा। अधिज्यधन्वा॥

वा संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १३३ ॥

संज्ञाविषय में धनुः शब्दान्त बहुब्रीहि को विकल्प करके अनङ् आदेश हो। जैसे। + शतधनुः। शतधन्वा। दृढधनुः। दृढधन्वा॥

जायाया निङ् ॥ ५ । ४ । १३४ ॥

जायान्त बहुब्रीहि को समासान्त निङ् आदेश हो। युवतिर्जायाऽस्य युवजानिः। वृद्धजानिः॥

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥ ५ । ४ । १३५ ॥

उत्, पूति, सु और सुरभि शब्दों से परे गन्ध शब्द को समासान्त इत् आदेश हो।

---

* थनों के ऊपर जो दूध का स्थान अर्थात् एन है उसको ऊधस् कहते हैं॥

† शार्ङ्ग आदि धनुष् के विशेष नाम हैं॥

+ शतधनु आदि किसी पुरुष विशेष के नाम हैं॥

उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः । पूतिगन्धिः । सुगन्धिः । सुरभिगन्धिः । एतेभ्य इति किम् । तीव्रगन्धो वातः ॥

वा०--गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणम् ॥

गन्ध शब्द को इत्त्व विधान में उसी का अवयव हो तो इत्त्व होता है यहां नहीं होता * । शोभनो गन्धोऽस्य सुगन्ध आपणः ॥

अल्पाख्यायाम् ॥ ५ । ४ । १३६ ॥

अल्प अर्थ में वर्त्तमान बहुव्रीहि समासान्त गन्ध शब्द को इत् आदेश हो । जैसे । सूपोऽल्पोऽस्मिन् सूपगन्धि भोजनम् । अल्पमस्मिन् भोजने घृतं घृतगन्धि । क्षीरगन्धि । तैलगन्धि । दधिगन्धि । तक्रगन्धि । इत्यादि ॥

उपमानाच्च ॥ ५ । ४ । १३७ ॥

उपमान वाची से परे गन्ध शब्द को इत् आदेश हो । पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धि । उत्पलस्येव गन्धोऽस्य पुष्पस्य तदुत्पलगन्धि । करीषगन्धि । कुमुदगन्धि ॥

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ॥ ५ । ४ । १३८ ॥

बहुव्रीहि समास में हस्ति आदि शब्दों को छोड़ के उपमान वाची शब्द से परे पाद शब्द के अकार का लोप हो । व्याघ्रस्येव पादावस्य शुनः स व्याघ्रपात् । सिंहपात् । अहस्त्यादिभ्य इति किम् । हस्तिपादः । कटोलपादः ॥

कुम्भपदीषु च ॥ ५ । ४ । १३९ ॥

कुंभपदी आदि शब्दों में पाद शब्द के अकार का लोप निपातन से किया है । कुंभपदी । शतपदी । अष्टापदी । इत्यादि ॥

संख्यासुपूर्वपदस्य च ॥ ५ । ४ । १४० ॥

बहुव्रीहि समास में संख्या और सु पूर्वक पाद शब्द के अकार का लोप हो । द्वौ पादावस्य द्विपात् । त्रिपात् । चतुष्पात् । शोभनौ पादावस्य सुपात् ॥

---

* गन्ध शब्द सामान्य से गुण का नाम है सो जहां इस शब्द को द्रव्य की विवक्षा न हो वहीं इत् आदेश हो और जहां विशेष द्रव्य की विवक्षा में अन्य पदार्थ समास हो वहां इत् आदेश न हो । जैसे । सुगन्ध आपणः । सुन्दर गन्धयुक्त दुकान ॥

वयसि दन्तस्य दतृ ॥ ५ । ४ । १४१ ॥

संख्या और सुपूर्वक बहुव्रीहि समासान्त दन्त शब्द को दतृ आदेश हो। द्वौ दन्तावस्य द्विदन्। त्रिदन्। चतुर्दन्। शोभना दन्ता अस्य सुदन् कुमारः। वयसीति किम्। द्विदन्तो कुञ्जरः॥

छन्दसि च ॥ ५ । ४ । १४२ ॥

वेद में बहुव्रीहि समासान्त दन्त शब्द को दतृ आदेश हो। जैसे। पत्रदन्तमालभेत। उभयदत आलभते॥

स्त्रियां संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १४३ ॥

जहां स्त्री की संज्ञा करना हो वहां बहुव्रीहि समासान्त दन्त शब्द को दतृ आदेश हो। अयोदती। फालदती। संज्ञायामिति किम्। समदन्ती। स्निग्धदन्ती॥

विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥ ५ । ४ । १४४ ॥

श्याव और अरोक शब्द से परे बहुव्रीहि समासान्त दन्त शब्द को विकल्प करके दतृ आदेश हो। श्यावा दन्ता अस्य श्यावदन्। श्यावदन्तः। अरोकदन्। अरोकदन्तः। अरोक नाम दीप्तिरहित॥

अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥ ५ । ४ । १४५ ॥

अग्रान्तशब्द, शुद्ध, शुभ्र, वृष और वराह इन से परे बहुव्रीहि समासान्त दन्तशब्द को विकल्प करके दतृ आदेश हो। जैसे। कुड्मलाग्रमिव दन्ता अस्य कुड्मलाग्रदन्। कुड्मलाग्रदन्तः। शुद्धदन्। शुद्धदन्तः। शुभ्रदन्। शुभ्रदन्तः। वृषदन्। वृषदन्तः। वराहदन्। वराहदन्तः॥

ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥ ५ । ४ । १४६ ॥

अवस्था अर्थ में वर्त्तमान बहुव्रीहि समासान्त ककुद शब्द के अन्त का लोप हो। असंजातककुत् वत्सः। बाल इत्यर्थः। उन्नतककुत्। वृद्धवया वृष इत्यर्थः। स्थूलककुत्। बलवानित्यर्थः। अवस्थायामिति किम्। श्वेतककुदः॥

त्रिककुत् पर्वते ॥ ५ । ४ । १४७ ॥

पर्वत अर्थ में त्रिककुत् निपातन किया है। त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् पर्वतः। पर्वत इति किम्। त्रिककुदोऽन्यः॥

उद्विभ्यां काकुदस्य ॥ ५ । ४ । १४८ ॥

उत् और विपूर्वक बहुब्रीहि समासान्त जो काकुद शब्द उसके अन्त का लोप हो । उद्‌गतं काकुदमस्य उत्काकुत् । विकाकुत् । तालुकाकुदमुच्यते ॥

पूर्णाद्विभाषा ॥ ५ । ४ । १४९ ॥

पूर्ण शब्द से परे बहुब्रीहि समासान्त जो काकुद उस के अन्त का लोप विकल्प करके हो । पूर्णकाकुत् । पूर्णकाकुदः ॥

सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥ ५ । ४ । १५० ॥

सुहृद् और दुर्हृद् निपातन मित्र और अमित्र अर्थों में किये हैं । शोभनं हृदयमस्य सुहृन्मित्रम् । दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृदमित्रः । मित्रामित्रयोरिति किम् । सुहृदयः कारुणिकः । दुर्हृदयश्चोरः ॥

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥ ५ । ४ । १५१ ॥

उरस् आदि शब्द जिस के अन्त में हों उस बहुब्रीहि समास से समासान्त कप् प्रत्यय हो । जैसे । व्यूढमुरोऽस्य व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः । अवमुक्तोपानत्कः ॥

इनः स्त्रियाम् ॥ ५ । ४ । १५२ ॥

इन् प्रत्ययान्त बहुब्रीहि समास से समासान्त कप् प्रत्यय हो । बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला । बहुच्छात्रिका । बहुस्वामिका नगरी । बहुवाग्मिका सभा स्त्रियामिति किम् । बहुदण्डी * । बहुदण्डिको वा राजा ॥

नद्यृतश्च ॥ ५ । ४ । १५३ ॥

नद्यन्त और ऋकारान्त बहुब्रीहि समास से कप् प्रत्यय हो । जैसे । बह्व्यः कुमार्यो ऽस्यां शालायां सा बहुकुमारीका शाला । बहुब्रह्मबन्धूको देशः (ऋतः) बहवः कर्त्तारोऽस्य बहुकर्त्तृको यज्ञः ॥

न संज्ञायाम् ॥ ५ । ४ । १५५ ॥

---

* यहां शेषाद्विभाषा इस सूत्र से शेष अविहित समासान्त शब्दों से विकल्प करके कप् प्रत्यय हो जाता है ॥

बहुव्रीहि समास से संज्ञा विषय में समासान्त कप् प्रत्यय न हो। विश्वं यशोऽस्य स विश्वयशाः ॥

ईयसश्च ॥ ५ । ४ । १५६ ॥

ईयसन्त बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय न हो। बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान्। बह्व्यः श्रेयस्योऽस्य बहुश्रेयसी। ह्रस्वत्वमपि न भवति। ईयसो बहुव्रीहौ पुंवदिति वचनात् ॥

वन्दिते भ्रातुः ॥ ५ । ४ । १५७ ॥

प्रशंसा अर्थ में भ्रातृ शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय न हो। शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता। वन्दित इति किम्। मूर्खभ्रातृकः। दुष्टभ्रातृकः ॥

ऋतश्छन्दसि ॥ ५ । ४ । १५८ ॥

वैदिक प्रयोग विषय में ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय न हो। पण्डिता माताऽस्य स पण्डितमाता। विद्वान्पिताऽस्य स विद्वत्पिता। विदुषी स्वसाऽस्य स विद्वत्स्वसा सुहोता ॥

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ॥ ५ । ४ । १५९ ॥

स्वाङ्गवाची नाडी और तन्त्री शब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय न हो। बह्व्यः नाड्योऽस्य बहुनाडिः कायः। बहुतन्त्री ग्रीवा। स्वाङ्ग इति किम्। बहुनाडीकः स्तम्भः। बहुतन्त्रीका वीणा ॥

निष्प्रवाणिश्च ॥ ५ । ४ । १६० ॥

प्रवाणीनाम कोरी की शलाई का है। निर्गता प्रवाणी यस्मात्स निष्प्रवाणिः पटः। निष्प्रवाणिः कम्बलः। प्रत्यग्र इत्यर्थः ॥

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ ॥ २ । २ । ३५ ॥

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त और विशेषण पद का पूर्वनिपात हो। सप्तमी। जैसे। कण्ठेकालः। उरसिलोमा। विशेषण। चित्रगुः। शवलगुः ॥

वा०—सर्वनामसंख्ययोरुपसंख्यानम् ॥

सर्वनाम और संख्यावाची शब्दों का पूर्वनिपात हो। सर्वश्वेतः। सर्वकृष्णः। द्विशुक्लः। द्विकृष्णः। विश्वदेवः। विश्वयशाः। द्विपुत्रः। द्विभार्यः। अथ यत्र संख्या सर्वनामयोरेव बहुव्रीहिः कस्य तत्र पूर्वनिपातेन भवितव्यम्। परत्वात् संख्यायाः। द्व्यन्यः। त्र्यन्यः ॥

वा०—वा प्रियस्य पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥

प्रिय शब्द का विकल्प करके पूर्व निपात हो । प्रियधर्मः । धर्मप्रियः ॥

वा०—सप्तम्याः पूर्वनिपाते गड्वादिभ्यः परवचनम् ॥

बहुव्रीहि समास में सप्तम्यन्त शब्दों का पूर्वनिपात (सप्तमी वि०) इस सूत्र से कर चुके हैं सो गड्डुआदि शब्दों में न हो अर्थात् परनिपात हो । जैसे । गड्डुकण्ठः । गड्डुशिराः ॥

निष्ठा ॥ २ । २ । ३६ ॥

निष्ठान्त शब्द का प्रयोग बहुव्रीहि समास में पूर्व हो, अधीता विद्या येन अधीतविद्यः । प्रक्षालितहस्तपादः । कृतकटः । कृतधर्मः । कृतार्थः । संशितव्रतः ॥

वा०—निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम् ॥

जहां निष्ठान्त शब्दों का पूर्वनिपात किया है वहां जातिवाची, कालवाची और सुखादि शब्दों का पूर्वनिपात न हो अर्थात् परप्रयोग किया जावे । जैसे । शार्ङ्गजग्धी । पलाण्डुभक्षिती । मासजातः । संवत्सरजातः । सुखजातः । दुःखजातः ॥

वा०—प्रहरणार्थेभ्यश्च परे निष्ठासप्तम्यौ भवत इति वक्तव्यम् ॥

शस्त्रवाची शब्दों से परे निष्ठान्त और सप्तम्यन्त शब्द होने चाहियें, असिरुद्यतो येन अस्युद्यतः । मुसलोद्यतः । दण्डपाणिः ॥

वाहिताग्न्यादिषु ॥ २ । २ । ३७ ॥

बहुव्रीहि समास में आहिताग्नि इत्यादि शब्दों में निष्ठान्त का पूर्व निपात विकल्प करके हो । अग्निराहितो येन अग्न्याहितः । आहिताग्निः । जातपुत्रः । पुत्रजातः । जातदन्तः । दन्तजातः । इत्यादि ॥

॥ अब इसके आगे द्वन्द्वसमास का प्रकरण है ॥

॥ उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः * ॥

चार्थे द्वन्द्वः ॥ २ । २ । २९ ॥

जो चकार के अर्थ में वर्त्तमान अनेक सुबन्त, वे सुबन्त के साथ समास पावें सो द्वन्द्वसंज्ञक समास हो । चकार के चार अर्थ हैं—समुच्चय । अन्वाचय । इतरेतर और समाहार । सो समुच्चय और अन्वाचय इन अर्थों में असमर्थ होने से समास नहीं हो सकता और इतरेतर तथा समाहार अर्थों में द्वन्द्व समास हो, प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च तौ प्लक्षन्यग्रोधौ । धवश्च खदिरश्च पलाशश्च ते धवखदिरपलाशाः ॥

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ॥ ५ । ४ । ७ ॥

जो द्वन्द्व समाहार अर्थ में वर्त्तमान हो तो चवर्गान्त दान्त और हान्त द्वन्द्व समास से समासान्त टच् प्रत्यय हो । जैसे । वाक् च त्वक् च अनयोः समाहारः वाक्-त्वचम् । स्रक् च त्वक् च स्रक्त्वचम् । श्रीश्च स्रक् च श्रीस्रजम् । इडूर्जम् । वागू-र्जम् । समिधश्च दृषदश्च समिद्दृषदम् । संपद्विपदम् । वाग्विप्रुषम् । छत्रोपानहम् । धेनुगोदुहम् । द्वन्द्वादिति किम् । तत्पुरुषान् माभूत् । पञ्चवाचः समाहृताः पञ्चवाक् । चुदषहान्तादिति किम् । वाक्समित् ॥

उपसर्जनं पूर्वम् ॥ २ । २ । ३० ॥

सब समासों में उपसर्जन संज्ञक का पूर्व प्रयोग करना चाहिये । कष्टं श्रितः कष्ट-श्रितः । शङ्कुलाखण्डः, इत्यादि ॥

राजदन्तादिषु परम् ॥ २ । २ । ३१ ॥

सब समासों में राजदन्त आदि शब्दों का परे प्रयोग होता है । दन्तानां राजा राजदन्तः । अग्रेवणम् । लिप्तवासितम् ॥

द्वन्द्वे घि ॥ २ । २ । ३२ ॥

द्वन्द्व समास में घिसंज्ञकशब्द का पूर्वनिपात होता है । पटुश्च गुप्तश्च पटुगुप्तौ ॥

वा०—अनेकप्राप्तावेकस्य नियमः शेषेष्वनियमः ॥

जहां अनेक घिसंज्ञकों का पूर्वनिपात प्राप्त हो वहां एक घिसंज्ञक पूर्व प्रयोक्तव्य है और जो शेष रहैं उन में कुछ नियम नहीं है । पटुमृदुशुक्लाः । पटुशुक्लमृदवः ॥

---

* द्वन्द्व समास में पूर्व पर सब शब्दों के अर्थ प्रधान रहते हैं ॥

वा०—ऋतुनक्षत्राणामानुपूर्व्येण समानाक्षराणां पूर्वनिपातो वक्तव्यः ॥

ऋतु और नक्षत्र जिस क्रम से पढ़े लिखे और समझे जाते हैं उनका उसी क्रम से पूर्व निपात होना चाहिये। जैसे। शिशिरवसन्तावुदगयनस्थौ। कृत्तिकारोहिण्यः। चित्रास्वाती ॥

वा०—अभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥

जहां पूर्वापर नियमपठित शब्द हों उन और जहां साध्य और साधन वाची शब्दों का समास किया जाय वहां पूर्वापरनियमित शब्द और साधन वाची शब्दों का पूर्व निपात होता है। ऋग्यजुःसामाथर्वाणो वेदाः। इत्यादि। माता च पिता च मातापितरौ। श्रद्धा च मेधा च श्रद्धामेधे। दीक्षा च तपश्च दीक्षातपसी ॥

वा०—लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥

जिस पद में थोड़ी मात्रा हों उस पद का द्वन्द्वसमास में पूर्व निपात होता है। कुशाश्च काशाश्च कुशकाशम्। शरचापम्। शरशार्दम्। अपर आह ॥

वा०—सर्वत एवाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् लघ्वक्षरादपीति ॥

किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत है कि सब विधियों का अपवाद होके अभ्यर्हित का ही पूर्वनिपात होना चाहिये। जैसे। दीक्षातपसी। श्रद्धातपसी ॥

वा०—वर्णानामानुपूर्व्येण पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥

ब्राह्मण आदि वर्णों का यथाक्रम पूर्वनिपात जानना चाहिये। ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ॥

वा०—भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥

द्वन्द्व समास में बड़े भाई का पूर्वनिपात होता है। युधिष्ठिरार्जुनौ। रामलक्ष्मणौ ॥

वा०—संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो भवतीति वक्तव्यम् ॥

द्वन्द्वसमास में अल्पसंख्यावाची शब्दों का पूर्वनिपात होता है। एकादश। द्वादश। द्वित्राः। त्रिचतुराः। नवतिशतम् ॥

वा०—धर्मादिषूभयं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् ॥

धर्म आदि शब्दों में दोनों पदों का पूर्वनिपात होता है। धर्मार्थौ। अर्थधर्मौ। कामार्थौ। अर्थकामौ। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ। आद्यन्तौ। अन्तादी॥

अजाद्यदन्तम् ॥ २। २। ३४ ॥

जिस के आदि में अच् और अकार अन्त में हो उस पद का पूर्व निपात होता है। उष्ट्रखरौ। ईशकेशवौ। इन्द्ररामौ। द्वन्द्वे घ्यजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन। जहां अजादि अदन्त और घिसंज्ञक का द्वन्द्व समास हो वहां अजादि अदन्त का पूर्वनिपात होता है। जैसे। इन्द्राग्नी। इन्द्रवायू। तपरकरणं किम्। अश्वावृषौ। वृषाश्वे॥

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य्यसेनाङ्गानाम् ॥ २। ४। २ ॥

प्राणि तूर्य * और सेना के अङ्गोंका जो द्वन्द्वसमास सो एकवचन हो (प्राण्यङ्ग) पाणी च पादौ च पाणिपादम्। शिरोग्रीवम्। (तूर्याङ्ग) मार्दङ्गिकपाणविकम्। वीणावादकपरिवादकम्। (सेनाङ्ग) रथिकाश्वारोहम्। रथिकपादातम्॥

अनुवादे चरणानाम् ॥ २। ४। ३ ॥

अनुवाद † अर्थ में चरण वाची सुबन्तों का जो द्वन्द्व समास सो एक वचन होता है। स्थेणोरद्यतन्यां चेति वक्तव्यम्। जहां स्था और इण् धातु का लङ् लकार का प्रयोग हो वहां चरण वाची सुबन्तों का द्वन्द्व एक वचन होता है। उदगात् कठकालापम्। प्रत्यष्ठात् कठकौथुमम्। अनुवाद इति किम्। उदगुः कठकालापाः। प्रत्यष्ठुः कठकौथुमाः। स्थेणोरिति किम्। अनन्दिषुः कठकालापाः। अद्यतन्यामिति किम्। उद्यन्ति कठकालापाः। इस सूत्र में चरण शब्द उन लोगों का नाम है कि जो वेद की शाखाओं के निमित्त अर्थात् जिन के नाम से इस समय भी शाखा प्रसिद्ध हैं। जैसे। कठ। मुण्डक। चरक। सुश्रुत। इत्यादि॥

अध्वर्युक्रतुरनपुंसकम् ॥ २। ४। ४ ॥

जो क्रतु वाची शब्द नपुंसक न हो तो अध्वर्यु नाम यजुर्वेद में विधान किये

---

* ढोल आदि बाजों का यह नाम है॥

† अनुवाद उसे कहते हैं जो पूर्व कहे प्रसंग को किसी प्रयोजन के लिये फिर कहना है॥

क्रतु नाम यज्ञवाची सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। जैसे। अर्काश्वमेधम्। सायान्हातिरात्रम्। अध्वर्युक्रतुरिति किम्। इषुवज्रौ। उद्भिद्बलिभिदौ। अनपुंसकमिति किम्। राजसूयवाजपेये। इह कस्मान्न भवति। दर्शपौर्णमासौ। क्रतुशब्दः सोमयज्ञेषु रूढः॥

अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम् ॥ २। ४। ५॥

जिन ग्रन्थों का पठन पाठन अतिसमीप होता हो उन सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। पदकक्रमकम्। क्रमकवार्तिकम्। अष्टाऽध्यायीमहाभाष्यम्। अध्ययनत इति किम्। पितापुत्रौ। अविप्रकृष्टाख्यानामिति किम्। याज्ञिकवैयाकरणौ॥

जातिरप्राणिनाम् ॥ २। ४। ६॥

प्राणिवर्जित जातिवाची सुबन्तों का द्वन्द्व समास एकवचन हो। आराशस्त्रि। धानाशष्कुलि। शय्यासनम्। जातिरिति किम्। नन्दकपाञ्चजन्यौ। अप्राणिनामिति किम्। ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः॥

विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः ॥ २। ४। ७॥

भिन्न लिङ्ग नदी और भिन्न लिङ्ग देशवाची सुबन्तों का द्वन्द्वसमास एकवचन हो ग्राम को छोड़ के। उद्ध्यश्च इरावती च उद्ध्येरावति। गङ्गा च शोणश्च गङ्गाशोणम्। देश। कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुकुरुक्षेत्रम्। कुरुजाङ्गलम्। विशिष्टलिङ्ग इति किम्। गङ्गायमुने। मद्रकेकयाः॥

वा०—अग्रामइत्यत्र नगराणां प्रतिषेधो वक्तव्यः॥

जैसे ग्रामों के द्वन्द्व को एकवचन का निषेध है वैसे नगरों का होना चाहिये। जैसे। मथुरापाटलिपुत्रम्॥

वा०—उभयतश्च ग्रामाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः॥

उभयत अर्थात् ग्राम और नगरों का अवयव जो द्वन्द्वसमास उस को एकवचन न हो। शौर्य्य नाम नगरम् केतवता नाम ग्रामः। शौर्यं च केतवता च शौर्यकेतवते। जाम्बवं नगरं। शालूकिनी ग्रामः। जाम्बवशालूकिन्यौ॥

क्षुद्रजन्तवः ॥ २। ४। ८॥

नकुलपर्य्यन्ताः क्षुद्रजन्तवः। क्षुद्रजन्तुवाचि सुबन्तों का जो द्वन्द्व समास

सो एकवचन हो, दंशमशकम् । यूकामक्षिकमत्कुणम् । क्षुद्रजन्तव इति किम् । ब्राह्मणक्षत्रियौ ॥

येषां च विरोधः शाश्वतिकः ॥ २ । ४ । ९ ॥

जिन का वैरनित्य हो तद्वाचि सुबन्तों का द्वन्द्व एकवचन हो । मार्जारमूषकम् । अश्वमहिषम् । अहिनकुलम् । श्वशृगालम् । चकार ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जब विभाषा वृक्षमृग० । यह सुत्र प्राप्त हो और येषां च विरोध० । यह भी तब नित्य ही एकवचन हो । अश्वमहिषम् । काकोलूकम् । शाश्वतिक इति किम् । देवासुराः ॥

शूद्राणामनिरवसितानाम् ॥ २ । ४ । १० ॥

जिन शूद्रों के भोजन करे पीछे मांजे से भी पात्र शुद्ध न हों वे अनिरवसित कहाते हैं अनिरवसित शूद्रों का द्वन्द्व समास एकवचन हो । तक्षायस्कारम् । रजकतन्तुवायम् । अनिरवसितानामिति किम् । चण्डालमृतपाः ॥

गवाश्वप्रभृतीनि च ॥ २ । ४ । ११ ॥

यहां गवाश्वम् इत्यादि शब्द द्वन्द्व समास में एकवचन निपातन किये हैं । गवाश्वम् । गवाविकम् । गवैडकम् । अजाविकम् । अजैडकम् । गवाश्वप्रभृतिषु यथोच्चारितं द्वन्द्ववृत्तं द्रष्टव्यम् । रूपान्तरे तु नायं विधिर्भवतीति * । गोअश्वौ । पशुद्वन्द्वविभाषैव भवति ॥

विभाषा वृक्षमृगतृणधान्यव्यंजनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् ॥ २ । ४ । १२ ॥

वृक्ष मृग तृण धान्य व्यंजन पशु शकुनि अश्ववडव पूर्वापर अधरोत्तर इन सुबन्तों का द्वन्द्व समास परस्पर विकल्प करके एकवचन हो । (वृक्ष) प्लक्षन्यग्रोधम् । प्लक्षन्यग्रोधाः । (मृग) रुरुपृषतम् । रुरुपृषताः । (तृण) कुशकाशम् । कुशकाशाः । (धान्य) व्रीहियवम् । व्रीहियवाः । (व्यञ्जन) दधिघृतम् । दधिघृते । (पशु) गोमहिषम् । गोमहिषाः । (शकुनि) तित्तिरिकपिञ्जलम् । तित्तिरिकपिञ्जलाः । हंसचक्रवाकम् । हंसचक्रवाकाः । अश्ववडवम् । अश्ववडवौ । पूर्वापरम् । पूर्वापरे । अधरोत्तरम् । अधरोत्तरे ॥

---

* रूपान्तर अर्थात् जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां यह एकवचन विधि नहीं होता ॥

वा०—बहुप्रकृतिः फलसेनावनस्पतिमृगशकुनिक्षुद्रजन्तुधान्यतृणानाम् ॥

एषां बहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एकवद्भवति *। न द्विप्रकृतिः । बदरामलके । रथिकाश्वारोहौ । प्लक्षन्यग्रोधौ । रुरुपृषतौ । हंसचक्रवाकौ । यूकालिक्षे । व्रीहियवौ । कुशकाशौ ॥

विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि ॥ २ । ४ । १३ ॥

जो भिन्न द्रव्यवाची और परस्पर विरुद्धार्थ सुबन्तों का द्वन्द्व, वह एकवचन विकल्प करके हो । शीतोष्णम् । शीतोष्णे । सुखदुःखम् । सुखदुःखे । जीवितमरणम् । जीवितमरणे । विप्रतिषिद्धमिति किम् । कामक्रोधौ । अनधिकरणवाचिनामिति किम् । शीतोष्णे उदके ॥

न दधिपयआदीनि ॥ २ । ४ । १४ ॥

दधिपय आदि शब्दों का द्वन्द्व एक वचन न हो । दधि च पयश्च ते दधिपयसी । सर्पिर्मधुनी । मधुसर्पिषी । ब्रह्म प्रजापती । शिववैश्रवणौ । इत्यादि ॥

अधिकरणैतावत्त्वे च ॥ २ । ४ । १५ ॥

अधिकरणवाची द्वन्द्व समास के एतावत्त्वनाम परिमाण अर्थ में एक वचन हो । चतुस्त्रिंशद्दन्तोष्ठाः । दश मार्दङ्गिकपाणविकाः ॥

विभाषा समीपे ॥ २ । ४ । १६ ॥

अधिकरण के एतावत्त्व के समीप अर्थ में एक वचन विकल्प करके हो । उपदशं दन्तोष्ठम् । उपदशा दन्तोष्ठाः । उपदशं मार्दङ्गिकपाणविकम् । उपदशा मार्दङ्गिकपाणविकाः ॥

स नपुंसकम् ॥ २ । ४ । १७ ॥

जिस द्विगु और द्वन्द्व को एकवद्भाव विधान किया है सो नपुंसक लिङ्ग होता है (द्विगु) पञ्चगवम् । दशगवम् । (द्वन्द्व) पाणिपादम् । शिरोग्रीवम् । इत्यादि ।

परपद का लिङ्ग प्राप्त हुआ था उसका अपवाद यह सूत्र है ॥

अव्ययीभावश्च ॥ २ । ४ । १८ ॥

* बहुप्रकृति अर्थात् जहां बहुवचनान्त शब्दों का द्वन्द्व हो वहीं एक वचन हो (बदरामलके) यहां द्विवचनान्त के होने से एक वचन न हुआ ॥

अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग हो ॥

वा०–पुण्यसुदिभ्यामह्नः क्लीबतेष्यते ॥

जैसे । पुण्यं च तदहश्च पुण्याहम् । सुदिनाहम् ॥

वा०–पथः संख्याऽव्ययादेः क्लीबतेष्यते ॥

संख्या और अव्यय जिस के आदि में हो ऐसे पथिन् शब्द को नपुंसक लिङ्ग हो । त्रिपथम् । चतुष्पथम् । विपथम् । सुपथम् ॥

वा०–क्रियाविशेषणानां च क्लीबता वक्तव्या ॥

मृदु पचति । शोभनं पचति ॥

* सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ॥ १ । २ । ६४ ॥

जो तुल्य रूप शब्द हों उन का एकविभक्ति परे हो तो एकशेष तथा अन्य रूपों की निवृत्ति हो । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षौ । वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षाः । इत्यादि बहुत उदाहरण होते हैं । सरूपाणामिति किम् । प्लक्षन्यग्रोधाः । रूपग्रहणं किम् । भिन्नेऽप्यर्थे यथा स्यात् । अक्षाः । पादाः । माषा इति । एकग्रहणं किम् । द्विबह्वोः शेषो माभूत् । एकविभक्ताविति किम् । पयः पयो जरयति । वासो वासश्छादयति । ब्राह्मणाभ्यां च कृतम् । ब्राह्मणाभ्यां च देहीति ॥

वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः ॥ १ । २ । ६५ ॥

जो तल्लक्षण अर्थात् वृद्धप्रत्ययान्त और युवप्रत्ययान्त ही का विशेष नाम विरूपता हो और मूल प्रकृति समान होवे तो वृद्धनाम गोत्र प्रत्ययान्त शब्द और युव प्रत्ययान्त शब्द का जब एक सङ्ग उच्चारण करें तब वृद्ध शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो (उदाहरण) गार्ग्यश्च गार्ग्यायणश्च तौ गार्ग्यौ । वात्स्यश्च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ । वृद्ध इति किम् । गर्गश्च गार्ग्यायणश्च गर्गगार्ग्यायणौ । यूनेति किम् । गार्ग्यश्च गर्गश्च गार्ग्यगर्गौ । तल्लक्षण इति किम् । गार्ग्यवात्स्यायनौ । एवकारः किमर्थः । भागवित्तिश्च भागवित्तिकश्च । भागवित्तिभागवित्तिकौ । कुत्सा और सौवीर ये दो अर्थ भागवित्तिक शब्द में युव प्रत्ययान्त से भी अलग हैं ॥

---

* यहां से एकशेष द्वन्द्व का प्रकरण चलता है ॥

स्त्री पुंवच्च ॥ १ । २ । ६६ ॥

जब वृद्धा स्त्री और युवा का एकसङ्ग उच्चारण करें तब वृद्धा स्त्री शेष रहे और युवा की निवृत्ति हो । पुंवत् अर्थात् स्त्री को पुल्लिङ्ग के सदृश कार्य्य हो जो तल्लक्षण ही विशेष होवे तो । गार्गी च गार्ग्यायणश्च गार्ग्यौ । वात्सी च वात्स्यायनश्च वात्स्यौ । दाक्षी च दाक्षायणश्च दाक्षी ॥

पुमान् स्त्रिया ॥ १ । २ । ६७ ॥

जो तल्लक्षण विशेष होवे तो स्त्री के साथ पुरुष शेष रहै स्त्री निवृत्त हो । जैसे । ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ । कुक्कुटश्च कुक्कुटी च कुक्कुटौ । यहां तल्लक्षण विशेष इसलिये है कि कुक्कुटश्च मयूरीच कुक्कुटमयूर्य्यौ । यहां एकशेष न होवे । एवकार इसलिये है कि इन्द्रश्च इन्द्राणीचेन्द्रेन्द्राण्यौ । यहां इन्द्राणी शब्द में पुंयोग की आख्या स्त्रीत्व से पृथक् होने के कारण एकशेष न हो ॥

भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् ॥ १ । २ । ६८ ॥

भ्रातृ और पुत्र शब्द, यथाक्रम स्वसृ और दुहितृ के साथ शेष रहें । भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ । पुत्रश्च दुहिता च पुत्रौ ॥

नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् ॥ १ । २ । ६९ ॥

नपुंसकलिङ्गवाची शब्द नपुंसकभिन्नवाची शब्द के साथ एकशेष पावे । और नपुंसक को एक वचन भी विकल्प करके हो । शुक्लश्च कम्बलः शुक्ला च बृहतिका शुक्लं च वस्त्रं तदिदं शुक्लम् । तानीमानि शुक्लानि । अनपुंसक के साथ इसलिये कहा है कि शुक्लं च शुक्लं च शुक्लं च शुक्लानि । यहां एकवचन न हो ॥

पिता मात्रा ॥ १ । २ । ७० ॥

मातृशब्द के साथ पितृशब्द विकल्प करके शेष रहे । माता च पिता च पितरौ । मातापितराविति वा ॥

श्वशुरः श्वश्र्वा ॥ १ । २ । ७१ ॥

श्वशुर शब्द श्वश्रू शब्द के साथ विकल्प करके शेष रहे । श्वश्रू च श्वशुरश्च श्वशुरौ । श्वश्रूश्वशुराविति वा ॥

त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् ॥ १ । २ । ७२ ॥

यहां नित्य ग्रहण पूर्व विकल्प की निवृत्ति के लिये हैं त्यद् आदि शब्द सब शब्दों के साथ शेष रहें। स च देवदत्तश्च तौ। यश्च देवदत्तश्च यौ। त्यदादीनां मिथो यद्यत्परं तच्छिष्यते। सच यश्च यौ। यश्च कश्च कौ॥

ग्राम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री ॥ १ । २ ॥ ७३ ॥

ग्राम में रहने वाले पशुओं के समुदाय में स्त्रीवाची शब्द पुरुषवाची शब्द के साथ शेष रहे 'पुमान् स्त्रिया' इस सूत्र से पुरुषवाची शब्द का शेष पाया था उस का अपवाद यह सूत्र है। महिषाश्च महिष्यश्च महिष्य इमाश्चरन्ति। गाव इमाश्चरन्ति। अजा इमाश्चरन्ति। ग्राम्यग्रहणं किम्। रुरव इमे। पृषता इमे। पशिवति किम्। ब्राह्मणाः। क्षत्रियाः। संघेष्विति किम्। एतौ गावौ चरतः। अतरुणेष्विति किम्। वत्सा इमे। बर्करा इमे॥

वा०—अनेकशफेष्विति वक्तव्यम् ॥

अनेक शफ अर्थात् जिन पशुओं के खुर दो २ हों कि जैसे—गाय भैंस आदि उन्हीं में यह विधि हो और यहां न होवे कि। अश्वा इमे। गर्दभा इमे। घोड़े और गधे के खुर जुड़े होते हैं॥ इस के आगे सामान्य सूत्रों को लिखते हैं जिनमें एक समास का नियम नहीं है॥

प्रथमानिर्दिष्टं समासउपसर्जनम् ॥ १ । २ । ४३ ॥

समास विधायक सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से जिस शब्द का उच्चारण किया हो वह उपसर्जन संज्ञक हो। द्वितीया समास में द्वितीया प्रथमानिर्दिष्ट और तृतीया समास में तृतीया प्रथमानिर्दिष्ट है। ऐसे ही और भी जानो। कष्टश्रितः। शङ्कुलया खण्डः॥

उपसर्जनं पूर्वम् ॥ २ । २ । ३० ॥

इस सूत्र से उपसर्जन संज्ञक का पूर्व निपात होता है तथा अन्य भी उपसर्जन संज्ञा के बहुत प्रयोग हैं सो अपने २ प्रकरण में समझने चाहियें यहां समास में उनके लिखने की आवश्यकता नहीं॥

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते ॥ १ । २ । ४४ ॥

जिस पद की समास विधायक सूत्र में एक ही विभक्ति नियत हो सो उपसर्जन

संज्ञक हो । अपूर्वनिपाते । पूर्वनिपाताख्य जो उपसर्जन कार्य्य है उसको वर्जि के । निरादयः क्रांताद्यर्थे पञ्चम्या । यहां जैसे पञ्चम्यन्त ही पद का नियम है इसलिये उत्तर पद की उपसर्जन संज्ञा होती है । निष्क्रांतः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः । यहां उपसर्जन संज्ञा का प्रयोजन यह है कि स्त्रीप्रत्यय को ह्रस्व हो जाता है । एकविभक्तीति किम् । राजकुमारी * । अपूर्वनिपात इति किम् । कौशाम्बीनिरिति । यहां कौशाम्बी की उपर्जन संज्ञा नहीं होती ॥

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य ॥ १ । २ । ४८ ॥

गो इति स्वरूपग्रहणं स्त्रीति प्रत्ययग्रहणं स्वरितत्वात् । इसका अर्थ यह है कि जो चतुर्थ अध्याय में 'स्त्रियाम्' इस अधिकार सूत्र करके प्रत्यय कहे हैं उन का-यहां ग्रहण है । स्त्री शब्दान्त प्रातिपदिक को और उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो । चित्रगुः । शबलगुः । निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः । अतिखट्वः । अतिमालः । उपसर्जनस्येति किम् । राजकुमारी । स्वरितत्वात् किम् । अतितन्त्रीः । अतिलक्ष्मीः । अतिश्रीः ॥

कडाराः कर्मधारये ॥ २ । ३ । ३८ ॥

कर्मधारय समास में कडार शब्द का पूर्वनिपात विकल्प करके हो । जैसे । कडारजैमिनिः । जैमिनिकडारः । इत्यादि † ॥

परवल्लिङ्गन्द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ॥ २ । ४ । २६ ॥

द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में परपद का लिंग हो । द्वन्द्व । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । तत्पुरुष । अर्द्धं पिप्पल्या अर्द्धपिप्पली । अर्द्धकोशातकी ॥

द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः ॥

द्विगु । प्राप्त । आपन्न । अलंपूर्वक । तथा गतिसंज्ञक इन समासों में पर पद का

---

* यहां एक विभक्ति का नियम इसलिये नहीं है कि जिस षष्ठ्यन्त की उपसर्जन संज्ञा होती है उससे सब विभक्ति आती हैं । जैसे । राज्ञः कुमारी । राज्ञोः कुमार्य्यौ । राज्ञां कुमार्य्यः । इत्यादि ॥

† जो 'प्राक्कडारात्समासः' इस सूत्र में समास का अधिकार किया था वह पूरा हो गया । अब इसके आगे समास में किस पद के लिंग का प्रयोग होना चाहिये, इस का आरम्भ हुआ है ॥

लिङ्ग न हो । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः पञ्चकपालः । प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः । आपन्नो जीविकां आपन्नजीविकः । अलंपूर्वकः । अलंजीविकायै । अलंजीविकः । गतिसमास । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या निष्कौशाम्बिः । निर्वाराणसिः ॥

अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिंदिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः ॥ ५ । ४ । ७७ ॥

ये २५ बहुब्रीहि आदि समासों में अच् प्रत्ययान्त निपातन किये हैं सो आदि में तीन बहुब्रीहि हैं अविद्यमानानि चत्वारि सेनाङ्गानि यस्य सः अचतुरः । विगतानि चत्वारि यस्य सः विचतुरः । शोभनानि यस्य सः सुचतुरः । इससे आगे ११ ग्यारह द्वन्द्व समास में निपातन किये हैं । स्त्रीपुंसौ । धेन्वनडुहौ । ऋक्सामे । वाङ्मनसे । अक्षिभ्रुवम् । दाराश्च गावश्च दारगवम् । ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम् । टिलोपो निपात्यते । पादौ चाष्ठीवन्तौ च पदष्ठीवम् । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम् । पूर्वपदस्यमान्तत्वन्निपात्यते । अहनि च दिवा च अहर्दिवम् । वीप्सायान्द्वन्द्वो निपात्यते । अहन्यहनीत्यर्थः । एक अव्ययीभाव साकल्य अर्थ में है । सरजसमभ्यवहरति । इस से परे तत्पुरुष जानो । निश्चितं श्रेयो निश्श्रेयसम् । यहां से परे षष्ठी समास है । पुरुषस्य आयुः पुरुषायुषम् । इससे परे द्विगु है । द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम् । त्र्यायुषम् । इस से परे द्वन्द्व । ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम् । आगे उक्ष शब्दान्त तीन कर्मधारय समास हैं । जातश्चासावुक्षा च जातोक्षः । महोक्षः । वृद्धोक्षः । इस से परे एक अव्ययीभाव समास है । शुनः समीपं उपशुनम् । इससे परे सप्तमी तत्पुरुष समास है । गोष्ठेश्वा गोष्ठश्वः । जिस २ समास में जो २ निपातन किये हैं वे उसी २ समास में निपातन जानने चाहियें ॥

वा०—चतुरोऽच्प्रकरणे त्र्युपाभ्यामुपसंख्यानम् ॥

त्रि और उपशब्द से परे जो चतुर शब्द उससे समासान्त अच् प्रत्यय हो । जैसे । त्रिचतुराः । उपचतुराः ॥

द्वितीये चाऽनुपाख्ये ॥ ६ । ३ । ८० ॥

जो प्रत्यक्ष जाना जाय सो उपाख्य और जो इससे भिन्न है सो कहिये अनुपाख्य अर्थात् अनुमेय है जहां द्वितीय अनुपाख्य हो वहां सह शब्द को स आदेश हो । सबुद्धिः । साग्निः कपोतः । सपिशाचा वात्या । सराक्षसीका शाला । यहां अग्नि आदि साक्षात् नहीं होते किंतु अनुमानगम्य हैं ॥

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु ॥ ६ । ३ । ८५ ॥

ज्योतिष्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन और बन्धु ये उत्तरपद परे होवें तो समान को स आदेश हो । समानं च तज्ज्योतिश्च सज्योतिः । समानं ज्योतिर्यस्मिन् स सज्योतिर्व्यवहारः । सजनपदः । सरात्रिः । सनाभिः । सनामा । सगोत्रः । सरूपः । सस्थानः । सवर्णः । सवयाः । सवचनः । सबन्धुः ॥

चरणे ब्रह्मचारिणि ॥ ६ । ३ । ८६ ॥

आचरण अर्थ में ब्रह्मचारी उत्तरपद परे हो तो समान शब्द को स आदेश हो । समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी । जो एक वेद पढ़ने और आचार्य्य के समीप व्रत को धारण करता है वह सब्रह्मचारी कहाता है ॥

इदंकिमोरीश्की ॥ ६ । ३ । ९० ॥

जो दृक् दृश् और वतु परे हों तो इदम् और किम् शब्द को ईश् और की आदेश हों । ईदृक् । ईदृशः । इयान् । कीदृक् । कीदृशः । कियान् ॥

वा०—दृक्षे चेति वक्तव्यम् ॥

दृक्ष उत्तरपद के परे भी इदं और किम् शब्द को ईश् और की आदेश हो जावें । जैसे । ईदृक्षः । कीदृक्षः ॥

विश्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ॥ ६ । ३ । ९२ ॥

जो अप्रत्यय अर्थात् क्विप् तथा विच् प्रत्ययान्त अञ्चति परे हो तो विश्वग्, देव और सर्वनाम की टि को अद्रि आदेश हो । विश्वगञ्चतीति विश्वद्र्यङ् । देवद्र्यङ् । सर्वनाम । तद्र्यङ् । यद्र्यङ् । विश्वग्देवयोरिति किम् । विश्वाची । अप्रत्यय इति किम् । विश्वगञ्चनम् ॥

वा०—छन्दसि स्त्रियां बहुलमिति वक्तव्यम् ॥

वेद विषयक स्त्रीलिंग में विश्वग् आदि की टि को अद्रि आदेश बहुल करके हो। जैसे। विश्वाची च घृताची चेत्यत्र न भवति। कद्रीचीत्यत्र तु भवत्येव ॥

सम: समि: ॥ ६ । ३ । ९३ ॥

जो अप्रत्ययान्त अञ्चति परे हो तो सम् के स्थान में समि आदेश हो। सम्यक्। सम्यञ्चौ। सम्यञ्चः ॥

तिरसस्तिर्यलोपे ॥ ६ । ३ । ९४ ॥

अप्रत्ययान्त लोप रहित अञ्चति उत्तरपद परे हो तो तिरस् के स्थान में तिरि आदेश हो। तिर्यङ्। तिर्य्यञ्चौ। तिर्य्यञ्चः। अलोप इति किम्। तिरश्चौ। तिरश्चे ॥

सहस्य सध्रिः ॥ ६ । ३ । ९५ ॥

जो अप्रत्ययान्त अञ्चति उत्तरपद परे हो तो सह शब्द को सध्रि आदेश हो। सध्र्यङ्। सध्र्यञ्चौ। सध्र्यञ्चः ॥

सधमादस्थयोश्छन्दसि ॥ ६ । ३ । ९६ ॥

वेद विषय में माद और स्थ उत्तरपद परे हों तो सह के स्थान में सध आदेश हो। सधमादो द्युम्न एकास्ताः। सधस्थाः ॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥ ६ । ३ । ९७ ॥

द्वि अन्तर् और उपसर्गों से परे अप् शब्द के आदि अक्षर के स्थान में ईत् आदेश होता है। द्वयोः पार्श्वयोरापो यस्मिन्नगरे तद्द्वीपम्। अन्तर्मध्ये आपो यस्मिन्ग्रामे सोऽन्तरीपः। अभिगता आपोऽस्मिन्सोऽभीपो ग्रामः। इत्यादि * ॥

ऊदनोर्देशे ॥ ६ । ३ । ९८ ॥

देश अर्थ में अनु उपसर्ग से परे अप् शब्द के अकार को ऊकार आदेश हो। अनूपो देशः। देश इति किम्। अन्वीपम् ॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्यदुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ॥ ६ । ३ । ९९ ॥

* 'आदेः परस्य' इससे अप् शब्द के अकार के स्थान में ईत् आदेश होता है।

जो आशिष् । आशा । आस्था । आस्थित । उत्सुक । ऊति । कारक । राग और छ प्रत्यय परे हों तो जो षष्ठी तृतीया विभक्ति रहित अन्य शब्द उस को दुक् का आगम हो । अन्या आशीः, अन्यदाशीः । अन्या आशा, अन्यदाशा । अन्या आस्था, अन्यदास्था । अन्य आस्थितः, अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः, अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः, अन्यदूतिः । अन्यः कारकः, अन्यत्कारकः । अन्योरागः, अन्यद्रागः । अन्यस्मिन् भवः, अन्यदीयः । गहादिष्वन्य शब्दो द्रष्टव्यः । अषष्ठ्यतृतीयास्थस्येति किम् । अन्यस्य आशीः, अन्याशीः । अन्येन आस्थितः, अन्यास्थितः ॥

अर्थे विभाषा ॥ ६ । ३ । १०० ॥

अर्थ उत्तरपद परे हो तो अन्य शब्द को दुक् का आगम विकल्प करके हो । अन्योर्थः अन्यदर्थः । पक्षे अन्यार्थः ॥

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ॥ ६ । ३ । १०१ ॥

जो अजादि उत्तरपद परे और तत्पुरुष समास हो तो कु शब्द के स्थान में कत् आदेश हो । कदजः । कदश्वः । कदुष्ट्रः । कदन्नम् । इत्यादि । तत्पुरुष इति किम् । कूष्ट्रो राजा । अचीति किम् । कुब्राह्मणः । कुपुरुषः ॥

वा०—कद्भावे त्रावुपसंख्यानम् ॥

जो कु शब्द को कत् आदेश कहा है सो त्रि शब्द के परे भी होवे । कुत्सितास्त्रयः । कत्त्रयः ॥

रथवदयोश्च ॥ ६ । ३ । १०२ ॥

रथ और वद उत्तरपद परे हों तो कु शब्द को कत् आदेश हो । कद्रथः । कद्वदः ॥

तृणे च जातौ ॥ ६ । ३ । १०३ ॥

जाति अर्थ में तृण उत्तरपद परे हो तो कु के स्थान में कत् आदेश हो । कत्तृणा नाम जातिः । जाताविति किम् । कुत्सितानि तृणानि कुतृणानि ॥

का पथ्यक्षयोः ॥ ६ । ३ । १०४ ॥

पथिन् और अक्ष उत्तरपद परे हों तो कु शब्द को का आदेश हो । कुत्सितः पन्थाः कापथः । काक्षः ॥

ईषदर्थे ॥ ६ । ३ । १०५ ॥

किंचित् अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को उत्तरपद परे हो तो का आदेश हो । ईषल्लवणम् । कालवणम् । कामधुरम् । काऽम्लम् । ईषदुष्णम् । कोष्णम् ॥

विभाषा पुरुषे ॥ ६ । ३ । १०६ ॥

पुरुष उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को का आदेश विकल्प कर के हो । कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः । कुपुरुषः ॥

कवं चोष्णे ॥ ६ । ३ । १०७ ॥

उष्ण उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को कव आदेश विकल्प करके हो पक्ष में का हो । ईषदुष्णम् । कवोष्णम् । कोष्णम् । कदुष्णम् ॥

पथि च छन्दसि ॥ ६ । ३ । १०८ ॥

वेद में पथिन् उत्तरपद परे हो तो कु शब्द को कव आदेश हो । पक्ष में विकल्प करके का भी हो । कवपथः । कापथः । कुपथः ॥

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥ ६ । ३ । १०९ ॥

जिन शब्दों में लोप आगम और वर्णविकार किसी सूत्र से विधान न किये हों और वे शिष्ट पुरुषों ने उच्चारण किये हैं तो वैसे ही उन शब्दों को जानना चाहिये * । पृषदुदरमस्य, पृषोदरम् । पृषत् उद्वानम्, पृषोद्वानम् । यहां तकार का लोप है । वारिवाहको बलाहकः । यहां वारि शब्द को ब आदेश है । तथा वाहक पद के आदि को ल आदेश जानो । जीवनस्य मूतो जीमूतः । यहां वन शब्द का लोप है । शवानां शयनं श्मशानम् । शव शब्द को श्म आदेश और शयन के स्थान में शान जानो । ऊर्ध्वं खमस्येति ऊखलम् । यहां ऊर्ध्व को ऊ तथा ख शब्द को खल आदेश जानना चाहिये । पिशिताशः, पिशाचः । यहां पिशि को पि और ताश के स्थान में शाच आदेश है । ब्रुवन्तोऽस्यां सीदन्तीति वृसी । सद्धातु से अधिकरण में डट् प्रत्यय और उपपद ब्रुवत् शब्द को वृ आदेश हो जाता है । मह्यां रौतीति मयूरः । अच्

* यह सूत्र अन्य सब साधुत्वकारक सूत्रों के विषयों को छोड़ के बाकी विषय में प्रवृत्त होता है ॥

प्रत्यय के परे रुधातु के टि का लोप और मही शब्द को मयू आदेश हो जाता है इसी प्रकार और भी अश्वत्थ, कपित्थ आदि शब्दों की सिद्धि समझनी चाहिये ॥

वा०—दिक्शब्देभ्य उत्तरस्य तीरशब्दस्य तारभावो वा भवति ॥

दिशा वाची शब्दों से परे तीर शब्द को तार आदेश विकल्प करके हो। दक्षिणतीरम्। दक्षिणतारम्। उत्तरतीरम्। उत्तरतारम् ॥

वा०—वाचो वादे डत्वं च लभावश्चोत्तरपदस्येञि प्रत्यये भवति ॥

वाद उत्तर पद के परे वाक् शब्द को ड आदेश और इञ् प्रत्यय के परे उत्तर वाद शब्द को ल आदेश हो जावे। वाचं वदतीति वाग्वादः। तस्यापत्यं वाड्वालिः ॥

वा०—षषउत्वं दतृदशधासूत्तरपदादेष्टुत्वं च भवति ॥

षट् शब्द को उ हो दत्, दश और धा उत्तरपद परे हों तो और उत्तरपद के आदि को मूर्द्धन्य आदेश हो। षड्दन्ता अस्य षोडन्। षट् च दश च षोडश ॥

वा०—धासु वा षषउत्वं भवति उत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् ॥

पूर्वोक्त कार्य्य धा उत्तरपद में विकल्प करके हो। षोढा। षड्धा कुरु ॥

वा०—दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वं वक्तव्यमुत्तरपदादेश्च ष्टुत्वम् ॥

दुर् शब्द को उत्व हो दाश नाश दभ और ध्य ये उत्तरपद परे हों तो और उत्तर पदों के आदि को मूर्द्धन्य आदेश हो। कृच्छ्रेण दाश्यते। नाश्यते। दभ्यते। च यः स दूडाशः। दूणाशः। दूडभः। दुष्टं ध्यायतीति दूढ्यः। इत्यादि। वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥ १ ॥

संहितायाम् ॥ ६ । ३ । ११४

अब जो कार्य्य कहेंगे सो संहिता के विषय में होंगे अर्थात् यह अधिकार सूत्र है ॥

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नछिन्नछिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥ ६ । ३ । ११५ ॥

विष्ट। अष्ट। पञ्च। मणि। भिन्न। छिन्न। छिद्र। स्रुव। स्वस्तिक। इन नव

शब्दों को छोड़ के कर्ण शब्द उत्तरपद परे हो तो लक्षणवाची पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो संहिता विषय में। दात्रमिव कर्णावस्य दात्राकर्णः। द्विगुणाकर्णः। त्रिगुणाकर्णः। द्व्यङ्गुलाकर्णः। त्र्यङ्गुलाकर्णः। यत् पशूनां स्वामिविशेषसम्बन्धज्ञापनार्थं दात्राकारादि क्रियते। तदिह लक्षणं गृह्यते। लक्षणस्येति किम्। शोभनकर्णः। अविष्टादीनामिति किम्। विष्टकर्णः। अष्टकर्णः। पञ्चकर्णः। मणिकर्णः। भिन्नकर्णः छिन्नकर्णः। छिद्रकर्णः। स्रुवकर्णः। स्वस्तिककर्णः॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ॥ ६। ३। ११६॥

जो ये नह आदि धातु क्विप् प्रत्ययान्त उत्तरपद परे हों तो संहिता विषय में पूर्वपद को दीर्घादेश हो। उपानत्। परीणत्। नीवृत्। उपावृत्। प्रावृट्। उपावृट्। मर्मावित्। हृदयावित्। श्वावित्। नीरुक्। अभीरुक्। ऋतीषट्। तरीतत्। क्वाविति किम्। परिणहनम्॥

वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम्॥ ६। ३। ११७॥

संज्ञा विषय में वन उत्तरपद परे हो तो कोटर आदि और गिरि परे हो तो किंशुलक आदि पूर्वपदों को दीर्घ आदेश हो। कोटरावणम्। मिश्रकावणम्। सिध्रकावणम्। सारिकावणम्। किंशुलकागिरिः। अञ्जनागिरिः। कोटरकिंशुलकादीनामिति किम्। असिपत्रवनम्। कृष्णगिरिः॥

अष्टनः संज्ञायाम्॥ ६। ३। १२५॥

अष्टन् पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो संज्ञा विषय में। अष्टावक्रः। अष्टाबन्धुरः। अष्टापदम्। संज्ञायामिति किम्। अष्टपुत्रः। अष्टबन्धुः॥

छन्दसि च॥ ६। ३। १२६॥

वेद विषय में अष्टन् पूर्वपद को उत्तरपद परे हो तो दीर्घ आदेश हो। आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्। अष्टाहिरण्या दक्षिणा। अष्टापदं सुवर्णम्॥

वा०—गवि च युक्ते भाषायामष्टनो दीर्घो भवतीति वक्तव्यम्॥

लौकिक प्रयोग विषय में युक्त गो शब्द उत्तरपद परे हो तो अष्टन् पूर्वपद को दीर्घ हो जावे। जैसे। अष्टागवं शकटम्॥

चितेःकपि ॥ ६ । ३ । १२७ ॥

कप् प्रत्यय परे हो तो चिति पद को दीर्घ आदेश हो । द्विचितीकः । त्रिचितीकः ॥

विश्वस्य वसुराटोः ॥ ६ । ३ । १२८ ॥

वसु और राट् उत्तरपद परे हों तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो । विश्वावसुः । विश्वाराट् ॥

नरे संज्ञायाम् ॥ ६ । ३ । १२९ ॥

संज्ञा विषय में जो नर उत्तरपद परे हो तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ हो । विश्वानरो नाम तस्य वैश्वानरिः पुत्रः । संज्ञायामिति किम् । विश्वे नरा यस्य स विश्वनरः ॥

मित्रे चर्षौ ॥ ६ । ३ । १३० ॥

ऋषि अर्थ में मित्र उत्तरपद परे हो तो विश्व पूर्वपद को दीर्घ आदेश हो ॥ विश्वामित्रो नाम ऋषिः । ऋषाविति किम् । विश्वमित्रो माणवकः ॥

सर्वस्य द्वे ॥ ८ । १ । १ ॥

सब शब्दों के दो २ रूप होवें । यह अधिकार सूत्र है ॥

तस्य परमाम्रेडितम् ॥ ८ । १ । २ ॥

दो भागों का जो पर रूप है सो आम्रेडित संज्ञक हो । चौर चौर २ । दस्यो दस्यो २ । घातयिष्यामि त्वा । बन्धयिष्यामि त्वा ॥

अनुदात्तं च ॥ ८ । १ । ३ ॥

जो द्वित्व हो सो अनुदात्त संज्ञक भी हो ॥

नित्यवीप्सयोः ॥ ८ । १ । ४ ॥

नित्य और वीप्सा अर्थ में वर्त्तमान जो शब्द उसको द्वित्व हो । तिङ् अव्यय और कृत् इन में तो नित्य होता है । तथा सुप् में वीप्सा होती है । व्याप्तुमिच्छा वीप्सा । पचति पचति । पठति पठति । जल्पति २ । भुक्त्वा २ व्रजति । भोजं २ व्रजति । लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति । वीप्सा । ग्रामो २ रमणीयः । जनपदो २ रमणीयः । पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति ॥

परेर्वर्जने ॥ ८ । १ । ५ ॥

वर्जन अर्थ में जो परि हो तो उस को द्वित्व हो । परि २ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः । परि २ सौवीरेभ्यः । वर्जन इति किम् । ओदनं परिषिञ्चति ॥

वा०—परेर्वर्जनेऽसमासे वेति वक्तव्यम् ॥

असमास * अर्थात् जिस पक्ष में समास नहीं होता वहां विकल्प करके द्विर्वचन हो। परि २ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टोदेवः । परित्रिगर्त्तेभ्यः ॥

प्रसमुपोदः पादपूरणे ॥ ८ । १ । ६ ॥

पाद पूरा करना ही अर्थ हो तो प्र सम् उप उद् इन को द्वित्व हो । प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे । संसमिद्युवसे वृषन् । उपोपमे परामृश । किन्नोदुदुहर्षसे दातवाउ ॥

उपर्य्यध्यधसः सामीप्ये ॥ ८ । १ । ७ ॥

उपरि अधि और अधस् इन को द्वित्व हो समीप अर्थ में । उपर्य्युपरि दुःखम् । उपर्य्युपरिग्रामम् । अध्यधिग्रामम् । अधोधोवनम् । सामीप्य इति किम् । उपरिचन्द्रमाः ।

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ।८।१।८॥

असूया आदि अर्थों में जो वाक्य उस का आदि जो आमन्त्रित पद उसको द्वित्व हो (असूया) और के गुणों को न सहना (सम्मति) सत्कार (कोप) क्रोध (कुत्सन) निन्दा (भर्त्सन) † धमकाना (असूया) माणवक २ माणवक अभिरूपक ३ अभिरूपक रिक्तन्ते आभिरूप्यम् । (संमति) माणवक ३ माणवक अभिरूपक ३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि (कोप) देवदत्त ३ देवदत्त अविनीतक ३ अविनीतक संप्रति वेत्स्यसि दुष्ट (कुत्सन) शक्तिके ३ शक्तिके यष्टिके ३ यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः (भर्त्सन) चौर चौर ३ वृषल वृषल ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा वाक्यादेरिति किम् । अन्तस्य मध्यस्य च माभूत् । शोभनः खल्वसि माणवक । आमन्त्रितस्येति किम् । उदारो देवदत्तः । असूयादिष्विति किम् । देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम् ॥

---

* अव्ययीभाव समास का विकल्प "विभाषा" अधिकार में (अपपरि०) इस सूत्र से हो जाता है ॥

† कोप और भर्त्सन में इतना भेद है कि कोप में अन्तःकरण से दूसरे को दुःख देना चाहता है और भर्त्सन में ऊपर ही का तेजमात्र दिखाया जाता है ॥

एकं बहुव्रीहिवत् ॥ ८ । १ । ९ ॥

द्वित्व का जो एक शब्दरूप है उस को बहुव्रीहि के समान कार्य्य हो बहुव्री-हि के दो प्रयोजन हैं । सुब्लोप और पुंवद्भाव । एकैकमक्षरं वदन्ति । एकैकयाऽऽहुत्या जुहोति । एकैकस्मै * देहि ॥

आबाधे च ॥ ८ । १ । १० ॥

आबाध नाम पीड़ा अर्थ में वर्त्तमान शब्द को द्वित्व हो । और बहुव्रीहि के समान कार्य्य हो । गतगतः । नष्टनष्टः पतितपतितः । प्रियस्य चिरगमनादिना पीड्यमानः कश्चिदेवं प्रयुङ्क्ते प्रयोक्ता ॥

कर्मधारयवदुत्तरेषु ॥ ८ । १ । ११ ॥

यहां से आगे जो द्वित्व कहेंगे वहां कर्मधारय के तुल्य कार्य्य होगा । कर्मधा-रयवत् कहने से तीन प्रयोजन हैं । सुब्लोप, पुंवद्भाव और अन्तोदात्त । सुब्लोप । पटुपटुः । मृदुमृदुः । पण्डितपण्डितः । पुंवद्भाव । पटुपट्वी । मृदुमृद्वी । कालिककालिका । अन्तोदात्त । पटुपटुः । पटुपट्वी ॥

प्रकारे गुणवचनस्य ॥ ८ । १ । १२ ॥

प्रकार नाम सादृश्य अर्थ में वर्त्तमान शब्द को द्वित्व हो । पटु २ । पण्डित २ । प्रकारवचन इति किम् । पटुर्देवदत्तः । गुणवचनस्येति किम् । अग्निर्माणवकः ॥

वा०—आनुपूर्व्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

मूले २ स्थूलाः । अग्रे २ सूक्ष्माः । ज्येष्ठम् २ प्रवेशय ॥

वा०—स्वार्थेऽवधार्यमाणेऽनेकस्मिन् द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषं २ देहि । अवधार्यमाणइति किम् । अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषमेकं देहि द्वौ माषौ देहि । त्रीन् वा माषान् देहि । अनेकस्मिन् इति किम् । अस्मात् कार्षापणादिह भवद्भ्यां माषमेकं देहि ॥

वा०—चापले द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

---

* बहुव्रीहि समास में सर्वनाम संज्ञा का निषेध किया है सो वह निषेध यहां इस लिये नहीं लगता कि जो मुख्य करके बहुव्रीहि हो वहीं निषेध हो यह मुख्य नहीं है ॥

संभ्रमेण प्रवृत्तिश्चापलम् । अहिरहिर्बुध्यस्व २ । नावश्यं द्वावेव शब्दौ प्रयोक्तव्यौ। किं तर्हि यावद्भिः शब्दैः सोऽर्थोऽवगम्यते तावन्तः प्रयोक्तव्याः । अहिः ३ बुध्यस्व ३ ॥

वा०—आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । भोजं भोजं व्रजति ॥

क्रियासमभिहारे द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

स भवान् लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति ॥

वा०—डाचि बहुलं द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

पटपटा करोति । पटपटायते ॥

वा०—पूर्वप्रथमयोरर्थाऽतिशये विवक्षायां द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

पूर्वं २ पुष्यन्ति । प्रथमं २ पच्यन्ते ॥

वा०—डतरडतमयोः समसंप्रधारणयोः स्त्रीनिगदे भावे द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

उभाविमावाढ्यौ । कतरा कतरा अनयोराढ्यता । सर्वं इमे आढ्याः । कतमा कतमा एषामाढ्यता । डतरडतमाभ्यामन्यत्रापि हि दृश्यते । उभाविमावाढ्यौ । कीदृशी कीदृशी अनयोराढ्यता । तथा स्त्रीनिगदाद् भावादन्यत्रापि हि दृश्यते उभाविमावाढ्यौ । कतरः कतरोऽनयोर्विभव इति ॥

वा०—कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत इति वक्तव्यम् ॥

समासवच्च बहुलम् । यदा न समासवत् प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य । अन्यमन्यमिमे ब्राह्मणा भोजयन्ति । अन्योन्यमिमे ब्राह्मणा भोजन्ति । अन्योन्यस्येमे ब्राह्मणा भोजयन्ति । इतरेतरान् भोजयन्ति ॥

वा०—स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्य चाम्भावो वक्तव्यः ॥

अन्योन्यामिमे ब्राह्मण्यौ भोजयतः । अन्योन्यम्भोजयतः । इतरेतराम्भोजयतः । इतरेतरम्भोजयतः । अन्योन्यमिमे ब्राह्मणकुले भोजयतः । इतरेतरमिमे ब्राह्मणकुले भोजयतः ॥

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ॥ ८ । १ । १५ ॥

द्वन्द्व यहां द्वि शब्द को द्वित्व तथा पूर्वपद को अम्भाव और उत्तरपद को अकार आदेश निपातन किया है रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, और अभिव्यक्ति इन अर्थों में (रहस्य) द्वन्द्वं मन्त्रयते द्वन्द्वं मिथुनायते * (मर्यादावचन) आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते । माता पुत्रेण मिथुनं गच्छति । पौत्रेण तत्पुत्रेणापीति (व्युत्क्रमण) द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । द्विवर्गसम्बन्धात्पृथगवस्थिता इत्यर्थः (यज्ञपात्रप्रयोग) द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (अभिव्यक्ति) द्वन्द्वं नारदपर्वतौ । द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ । द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थः ॥

वसुकालाङ्कभूवर्षे भाद्रमास्यसिते दले ।
द्वादश्यां रविवारेऽयं सामासिकः पूर्णोऽनघः ॥

इति श्रीमत्परिव्राजकाचार्य्येण श्रीयुतयतिवरमहाविद्वद्भिः
श्री विरजानन्दसरस्वतीस्वामिभिः सुशिक्षितेन
दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितः
पाणिनीयव्याख्यया सुभूषितः
सामासिकोऽयं ग्रन्थः
पूर्त्तिमगमत् ॥

---

* राजा और मुख्यसभासद् एकान्त में विचार और विवाहित स्त्रीपुरुष ऋतुकाल में समागम करें ॥

सामासिक विषयसूची ॥